ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय-पुष्प नं. २१

प्रवचन-रत्न-चिन्तामणि

भाग - २

श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित नियमसार परमागम पर हुए

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के

गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद

शुद्धभाव अधिकार

गाथा ३८ से ५५ तक

हिन्दी अनुवाद व सम्पादन :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज०)

प्रस्तुतकर्ता :

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

प्रथम संस्करण : 2000 प्रतियाँ (आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान, मुम्बई द्वारा)

द्वितीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ

वीर निर्वाण 2536 विक्रम संवत् 2065 ईस्वी सन् 2009

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के 29 वें समाधि दिवस के अवसर पर)

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

— **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
302, कृष्ण-कुंज, वी. एल. मेहता मार्ग
विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई - 400 056
e-mail - vitragva@vsnl.com

— **श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट**
तीर्थधाम मङ्गलायतन,
अलीगढ़-आगरा मार्ग,
सासनी - 204216 (महामायानगर), उत्तरप्रदेश।
e-mail - info@mangalayatan.com

— **श्री टोडरमल स्मारक भवन**
ए-4, बापू नगर, जयपुर - 302015

टाइप सैटिंग एवं मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

प्रकाशकीय

श्री समयसार आदि परमागमों के गम्भीर रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री तीर्थङ्कर भगवान के शुद्धात्मानुभव प्रधान आध्यात्मिक शासन को जीवन्त रखनेवाले आध्यात्मिक सन्त परम कृपालु पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने सरल तथा सुगम प्रवचनों द्वारा उनके अनमोल रहस्य मुमुक्षु समाज को समझाये हैं और इस प्रकार इस काल में अध्यात्म रुचि का नवयुग प्रवर्ता कर आपने असाधारण महान् उपकार किया है। इस विषम भौतिक युग में सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा विदेशों में भी ज्ञान, वैराग्य और भक्तिपूर्ण अध्यात्मविद्या के प्रचार का जो आन्दोलन प्रवर्तित है, वह पूज्य गुरुदेवश्री के चमत्कारी प्रभावनायोग का अद्‌भुत फल है।

ऐसे परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों के प्रकाशन करने का अवसर प्राप्त होना भी अपना परम सौभाग्य है। तद्‌नुसार भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित 'नियमसार' पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का सङ्कलन '**प्रवचन-रत्नचिन्तामणि**' **भाग-२** के रूप में प्रकाशित करते हुए कल्याणी गुरुवाणी के प्रति अति भक्तिपूर्ण प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

इस 'नियमसार' के प्रवचनकार परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी शुद्धात्म दृष्टिवन्त, स्वरूपानुभवी, वीतरागी देव-गुरु-धर्म के परम भक्त, कुमार ब्रह्मचारी, समयसार आदि अनेक गहन अध्यात्म शास्त्रों के परागामी, स्वानुभवरचंदी भावश्रुतलब्धि के धनी, सततज्ञानोपयोगी, वैराग्यमूर्ति, नयाधिराज शुद्धनय की मुख्यतासह सम्यक्‌अनेकान्तरूप अध्यात्म तत्त्व के असाधारण उत्तम प्रवचनकार और आश्चर्यकारी प्रभावना उदय के धारक अध्यात्म युगसृष्टा महापुरुष थे। उनके इन प्रवचनों का अवगाहन करते ही अध्ययेता को उनके गाढ़ अध्यात्म प्रेम, शुद्धात्म अनुभव, स्वरूपसन्मुख ढल रही परिणति, वीतराग-भक्ति के रंग से रंगा हुआ चित्त, ज्ञायकदेव के तल को स्पर्शता अगाध श्रुतज्ञान और सातिशय परम कल्याणकारी अद्‌भुत वचनयोग का ख्याल आ जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने अध्यात्म नवनीत पूर्ण इस 'नियमसार' की प्रत्येक गाथा एवं कलश को सर्व ओर से छानकर, विराट अर्थों को इन प्रवचनों में खोला है। अतिशय सचोट, पर सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और प्रकृत विषयसंगत अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा पूज्य गुरुदेव ने 'नियमसार' के अर्थ गम्भीर सूक्ष्म भावों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाये हैं। जीव को कैसे भाव सहज रहें, तब जीव पुद्गल का स्वतन्त्र परिणमन समझा कहा जाए; कैसे भाव रहें, तब आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझा गिना जाए; भूतार्थ ज्ञायक निज ध्रुव तत्त्व का (अनेकान्त सुसंगत) कैसा आश्रय हो तो द्रव्यदृष्टि यथार्थ परिणमी मानी जाए; कैसे-कैसे भाव रहें, तब स्वावलम्बी पुरुषार्थ का आदर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तप, वीर्यादि की प्राप्ति हुई कहलाये – इत्यादि मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत विषयों को मनुष्य जीवन में बनते अनेक प्रसङ्गों के सचोट दृष्टान्तों से ऐसे स्पष्ट किये हैं कि आत्मार्थी को उस-उस विषय का स्पष्ट भाव भासन होकर अपूर्व गम्भीर अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं और वह शुभभावरूप बन्धमार्ग में मोक्षमार्ग की मिथ्या कल्पना छोड़कर शुद्धभावरूप यथार्थ मोक्षमार्ग को समझकर सम्यक् पुरुषार्थ में जुड़ता है। इस प्रकार 'नियमसार' के स्वानुभूति दायक गम्भीर भाव हृदय में सीधे उतर जाएँ – ऐसी असरकारक भाषा में अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाकर गुरुदेव ने आत्मार्थी जगत् पर अनहद उपकार किया है। 'नियमसार' में छिपे हुए अनमोल तत्त्वरत्नों का मूल्य स्वानुभव विभूषित कहान गुरुदेव ने जगत् विदित किया है।

यह परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूति के पन्थ को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं, परन्तु साथ-साथ मुमुक्षु जीवों के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जागृत करके कुछ अंशों में सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा चमत्कारिक कार्य करते हैं – ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकारूढ़ प्रवचन वाणी में कदाचित् ही दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार 'नियमसार' शास्त्र में निहित अध्यात्म तत्त्वविज्ञान के गहन रहस्य अमृत झरती वाणी में समझाकर, साथ ही शुद्धात्म-रुचि जागृत करके पुरुषार्थ प्रेरक, प्रत्यक्ष सत्समागम की झाँकी खड़ी करानेवाले ये प्रवचन, जैन साहित्य में अजोड़ हैं। प्रत्यक्ष सत्समागम के वियोग में ये प्रवचन मुमुक्षुओं को अनन्य आधारभूत है। निरावलम्बन पुरुषार्थ समझाना और प्रेरित करना ही उद्देश्य होने के साथ 'नियमसार' के सर्वाङ्ग

स्पष्टीकरणरूप इन प्रवचनों में समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वों का तलस्पर्शी दर्शन आ गया है। मानों श्रुतामृत का सुख सिन्धु ही इन प्रवचनों में हिलोरे ले रहा है। यह प्रवचन ग्रन्थ शुद्धात्मतत्त्व की रुचि उत्पन्न करके पर के प्रति रुचि नष्ट करनेवाली परम औषध है, स्वानुभूति का सुगम पथ है और भिन्न-भिन्न कोटि के सभी आत्मार्थियों का अत्यन्त उपकारक है। पूज्य गुरुदेवश्री ने यह अमृतसागर समान प्रवचनों की भेंट देकर देश-विदेश में स्थित मुमुक्षुओं को निहाल कर दिया है।

स्वरूपसुधा प्राप्ति के अभिलाषी जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारम्बार मनन करना योग्य है। यह संसाररूपी विषवृक्ष को छेदन के लिये अमोघ शस्त्र है; जो डाली और पत्रों को छुए बिना ही मूल पर ही सीधा प्रहार करता है। इस अल्पायु मनुष्यभव में जीव का प्रथम में प्रथम कर्तव्य एक निज शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादि कराने में ये प्रवचन परम निमित्तभूत है।

इस प्रवचन ग्रन्थ में जो नियमसार शुदभाव अधिकार की गाथा ३८ से ५५ तक के प्रवचन सङ्कलित हैं। इन प्रवचनों का प्रथम संस्करण आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान मुम्बई से प्रकाशित हुआ था, जो अब अनुपलब्ध है। अतः इसके प्रकाशन की अनुमति प्रदान करने के लिए हम इस ट्रस्ट के आभारी हैं।

इस प्रसङ्ग पर मुमुक्षु समाज पर जिनका विशिष्ट उपकार है, उन धर्मरत्न प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के चरण कमल में अत्यन्त भक्तिभाव से अभिवन्दन करके भावना भाते हैं कि मुमुक्षुजन अतिशय उल्लासपूर्वक इन प्रवचनों का गहन अभ्यास करके, प्रतीति तथा अनुभव करके शाश्वत् परमानन्द को पायें।

इस प्रवचन ग्रन्थ के प्रकाशन प्रसङ्ग पर इनके गुजराती सङ्कलनकार बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़ का हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। जिन्होंने टेप अवतीर्ण करुणासागर गुरुदेवश्री के प्रवचनों को लिपिबद्ध कर सङ्कलित कर जीवन्त रखा। इन प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद व सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमारजी जैन, बिजौलियाँ, राजस्थान ने किया है। अतः उक्त सभी के आभारी हैं।

इस ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा मुमुक्षु निज कल्याण साधें - ऐसी भावना हैं।

ट्रस्टीगण

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

सम्पादकीय

परमपूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम नियमसार पर हुए परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरस भरपूर '**प्रवचन-रत्न चिन्तामणि' भाग-२** साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द सम्पूर्ण दिगम्बर जैन श्रमण परम्परा के सिरमौर सन्त हैं। भगवान महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् स्मरण किये जानेवाले आचार्यश्री दिगम्बर परम्परा की पहचान हैं। आचार्यश्री के द्वारा रचित पञ्च परमागमों में नियमसार परमागम की रचना आचार्यश्री ने निजभावना के निमित्त की है। जैसा गम्भीर भावनाप्रधान ग्रन्थ है, उसके टीकाकार मुनि पद्मप्रभमलधारिदेव भी वैराग्य एवं अध्यात्म रस से सराबोर वीतरागी सन्त हैं। टीका में समागत कई विषय प्राय: अन्यत्र स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर नहीं होते, उनमें कारणशुद्धपर्याय एक ऐसा ही विषय है।

समयसार की भाँति ही पूज्य गुरुदेवश्री नियमसार से भी काफी प्रभावित रहे और इस परमागम पर भी उन्होंने कई बार भाव-विभोर होकर प्रवचन किये हैं। उनके द्वारा प्रदत्त प्रवचन सद्गुरु प्रवचन प्रसाद तथा कैसेट्स/सी.डी. में उपलब्ध हैं। सन् १९७२ तथा ८० में हुए उनके प्रवचनों का गुजराती सङ्कलन '**प्रवचन-रत्न चिन्तामणि भाग-२**' के रूप में श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट, मुम्बई से प्रकाशित हुए हैं।

हिन्दी भाषा में अभी तक इन प्रवचनों की अनुपलब्धता एवं साधर्मीजनों की माँग को दृष्टिगोचर रखते हुए इन प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद इस ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में नियमसार के तीसरे शुद्धभाव अधिकार के प्रवचन संकलित हैं। इस अधिकार में निज भगवान आत्मा के त्रैकालिक शुद्ध स्वरूप का अस्ति-नास्ति से प्रतिपादन किया गया है। यह परमपारिणामिकभावरूप त्रैकालिक ध्रुव द्रव्य तो चार - औपशमिकादि भावों से भी पार एकरूप है, यही श्रद्धा का श्रद्धेय एवं ध्यान का ध्येय है। समयसार की

ग्यारहवीं गाथा में जिसे शुद्धनय या भूतार्थ कहा गया है, उसे ही इस अधिकार में शुद्धभाव, कारणपरमात्मा, कारण जीव इत्यादि कहा गया है। पर्याय से भी निरपेक्ष वह ध्रुव कारणपरमात्मा ही सम्यग्दर्शन का आत्मा है और इस अधिकार का मूल प्रतिपाद्य है।

इन प्रवचनों का अनुवाद करते हुए परमपूज्य आचार्यश्री के साथ-साथ गुरुदेवश्री के प्रति भी अहो भाव जागृत होता है कि यदि गुरुदेवश्री अपनी सरल-सुबोध शैली में इन आचार्यश्री के हृदय को स्पष्ट नहीं करते तो हम अज्ञजन तत्त्वज्ञान के इन रहस्यों को कैसे समझ पाते? इस उपकार के लिए आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव के चरणों में नमोस्तु करता हुआ इस ग्रन्थ के रहस्योद्घाटक पूज्य गुरुदेवश्री के श्रीचरणों में वन्दन करते हुए अपनी विनयांजली समर्पित करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मूल गाथा, हिन्दी टीका व कलश के साथ-साथ गाथाओं का बाबू युगलजी कृत पद्यानुवाद एवं कलशों का पण्डित अभयकुमारजी कृत पद्यानुवाद भी सम्मिलित किया गया है। प्रवचनों में समागत ग्रन्थ के मूल अंश को भी बोल्ड टाइप में दिया गया है।

इस अनुवाद के मूल प्रेरक मेरे तत्त्वज्ञान प्रदाता विद्यागुरु पण्डित कैलाशचन्दजी जैन, अलीगढ़ हैं। उनके द्वारा प्राप्त संस्कार ही इस कार्य में निमित्तभूत हैं - इसके लिए आपश्री का चिरऋणी हूँ।

इन प्रवचनों के प्रूफ संशोधन के लिए श्री पवन जैन, अलीगढ़ एवं प्रकाशन का अवसर प्रदान करने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन गंगा में स्नान कर भवताप का शमन करें - यही भावना है।

देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ,
जिला-भीलवाड़ा (राज.)

अनुक्रमणिका

क्रम	गाथा/कलश	पृष्ठ
०२.	गाथा ३८ कलश ५४	१
०३.	गाथा ३९ कलश ५५	५४
०४.	गाथा ४० कलश ५६, ५७	६८
०५.	गाथा ४१ कलश ५८, ५९	९६
०६.	गाथा ४२ कलश ६१, ६१	१२६
०७.	गाथा ४३ कलश ६२–६८	१५६
०८.	गाथा ४४ कलश ६९	२०४
०९.	गाथा ४५–४६ कलश ७०	२२५
१०.	गाथा ४७ कलश ७१	२४३
११.	गाथा ४८ कलश ७२	२६२
१२.	गाथा ४९ कलश ७३	२७९
१३.	गाथा ५० कलश ७४	२९७
१४.	गाथा ५१ से ५५ कलश ७५	३३६

नमः सिद्धेभ्यः

प्रवचन-रत्न-चिन्तामणि

(नियमसार प्रवचन)

(भाग-२)

३
शुद्धभाव अधिकार

नियमसार गाथा-३८

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरत्तो ॥३८॥

जीवादिबहिस्तत्त्वं हेयमुदेयमात्मनः आत्मा।
कर्म्मोपाधि- समुद्भव- गुण- पर्यायै- र्व्यतिरिक्तः ॥३८॥

(हरिगीत)

है हेय सब बहितत्त्व ये जीवादि, आत्मा ग्राह्य है।
अरु कर्म से उत्पन्न गुणपर्याय से वह बाह्य है॥३८॥

गाथार्थ :— जीवादि बाह्यतत्त्व हेय हैं; कर्मोपाधिजनित गुण-पर्यायों से व्यतिरिक्त आत्मा आत्मा को उपादेय है।

टीका :— यह हेय और उपादेयतत्त्व के स्वरूप का कथन है।

जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण वास्तव में उपादेय नहीं है। सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का जो शिखामणि[१] है, परद्रव्य से जो पराङ्गमुख है,

१. शिखामणि=शिखर के ऊपर का रत्न; चूड़ामणि; कलगी का रत्न।

पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिसे परिग्रह है, जो परम जिनयोगीश्वर है, स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है — ऐसे आत्मा को ''आत्मा'' वास्तव में उपादेय है। औदयिक आदि चार भावान्तरों[१] को अगोचर होने से जो (कारणपरमात्मा) द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधि से जनित विभावगुणपर्यायों रहित है तथा अनादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाला शुद्ध-सहज-परम-पारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है — ऐसा कारणपरमात्मा वह वास्तव में 'आत्मा' है। अति-आसन्न भव्यजीवों को ऐसे निजपरमात्मा के अतिरिक्त (अन्य) कुछ उपादेय नहीं है।

(अब ३८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं —)

(मालिनी)

जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसारः
सकलविलयदूरः प्रास्तदुर्वारमारः।
दुरिततरुकुठारः शुद्धबोधावतारः
सुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः॥५४॥

(वीरछन्द)

सर्व तत्त्व में एक सार जो सकल क्षणिक भावों से पार।
जिसने दुर्जय काम नशा है पापवृक्ष को तीव्र कुठार॥
शुद्धबोध अवतरणरूप है सुखसागर की बाढ़ अहो।
क्लेशोदधि का यही किनारा समयसार जयवन्त रहो॥५४॥

श्लोकार्थ :— सर्व तत्त्वों में जो एक सार है, जो समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है, जिसने दुर्वार काम को नष्ट किया है, जो पापरूप वृक्ष को छेदनेवाला कुठार है, जो शुद्ध ज्ञान का अवतार है, जो सुखसागर की बाढ़ है और जो क्लेशोदधि का किनारा है, वह समयसार (शुद्ध आत्मा) जयवन्त वर्तता है।।५४॥

गाथा ३८ पर प्रवचन

यह नियमसार महासिद्धान्त शास्त्र है, इसमें मोक्षमार्ग का अधिकार है अर्थात् आत्मा

१. भावान्तर=अन्य भाव। (औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — यह चार भाव परमपारिणामिकभाव से अन्य होने के कारण उन्हें भावान्तर कहा है। परमपारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है — ऐसा कारणपरमात्मा इन चार भावान्तरों को अगोचर है।)

www.vitragvani.com

में जो सुख है, उसे प्राप्त करने का क्या उपाय है — उसकी बात है। इस संसार की चौरासी लाख योनियों के अवतार में तो एकान्त दुःख है। भले ही देव का भव हो या मनुष्य का भव हो। अरे! दुनिया सेठ-सेठ कहे ऐसा भव हो तो भी, वह सब दुःखमय है। जिसको अपने आनंदस्वरूप आत्मा का, जो कि त्रिकाल शुद्ध आनन्दकन्द है, उसका आश्रय नहीं है और पर का आश्रय है — वे सब प्राणी दुःखी हैं, चारगति में परिभ्रमण करनेवाले हैं।

यह शुद्धभाव अधिकार थोड़ा सूक्ष्म है।

अहा! यह त्रिकाली आत्मा परमस्वभावभाव, ध्रुवभाव, कारणपरमात्मभाव, कारणजीवभाव सब एक ही अर्थ में हैं। तो भी उस चीज का इसमें अनंतकाल में पता नहीं लिया अर्थात् अनन्त आनन्दमय ध्रुव परमभाव को-ध्रुव स्वभाव को ध्येय नहीं बनाया, इसकारण ध्येय के लक्ष्य से जो फल आना चाहिए, वह नहीं आया। यद्यपि इसने समस्त क्रियाकाण्ड — दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि अनन्तबार किया है; परन्तु वह तो पुण्य का भाव है और उस भाव में निजपना मानना मिथ्यात्वभाव है। मिथ्यात्व अर्थात् महापाप है। तो उस महापाप से बचने का क्या उपाय है — वह बात यहाँ है।

गाथा ३८ की टीका पर प्रवचन

'यह हेय और उपादेय तत्त्व के स्वरूप का कथन है।'

छोड़नेयोग्य चीज क्या है और आदरनेयोग्य चीज क्या है — उसका कथन है।

'जीवादि साततत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण वास्तव में उपादेय नहीं है।'

लो, यह सूक्ष्म आया!

जीव — भगवान आत्मा को-त्रिकाली आनन्दघन शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप — ऐसी निजवस्तु को छोड़कर जो आत्मा की एकसमय की अवस्था/दशा/हालत है, उसको यहाँ जीव कहा है।

अजीव — अजीव।

आस्रव — पुण्य-पाप के भाव मिलकर आस्रव हैं, जो कि दुःखदायक भाव हैं।

बंध — पुण्य-पाप में अटकना बंधभाव है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

संवर — शुद्धता का अंश प्रकट करना संवर है।

निर्जरा — शुद्धता की वृद्धि करना निर्जरा है।

मोक्ष — शुद्धता की पूर्णता करना मोक्ष है।

ये सातों ही पर्यायें हेय हैं — ऐसा यहाँ कहा है।

हेय कौन है ?

पर्याय। सूक्ष्म बात है भगवान! यह वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है। आत्मा में जो एकसमय की अवस्था/हालत/पर्याय है, उसको जीवतत्त्व कहकर हेय कहा है; क्योंकि वह व्यवहारजीव है। जबकि निश्चय जीवतत्त्व तो त्रिकाल ज्ञायकभाव है, जो कि आनन्दकन्द है और वह उपादेय है, आदरणीय है। उससे सम्यग्दर्शन होता है, सुख की प्राप्ति होती है।

प्रश्न — टीका के प्रारम्भ में 'जीवादि' शब्द आया है। तो यहाँ 'जीव' किसको कहते हैं ?

उत्तर — त्रिकाली ध्रुव अविनाशी ज्ञायकतत्त्व से भिन्न जो एकसमय की पर्याय/हालत है, उसको यहाँ 'जीव' कहते हैं और वह एकसमय की हालत/पर्याय भी छोड़नेयोग्य है — ऐसा यहाँ कहना है। भाई! सूक्ष्म बात है।

अहा! भगवान आत्मा में दो अंश हैं — (१) त्रिकाली ध्रुव अंश अर्थात् अविनाशी भाग और (२) एकसमय की पर्याय/अवस्था/हालत का भाग। वह एकसमय की पर्याय है — यहाँ उसको व्यवहार जीवतत्त्व कहा गया है। भाई ! अद्भुत बात है! यहाँ 'जीवादि' शब्द है न! तो जो एकसमय की पर्याय/अवस्था है, उसको व्यवहारजीव कहकर, उसकी दृष्टि छुड़ाना है अर्थात् यदि तुझको अपना कल्याण करना हो तो, यानि कि सुख के पंथ में जाना हो और दुःख के पंथ का नाश करना हो तो पर्याय की दृष्टि छोड़ दे — ऐसा कहते हैं। अन्दर 'जीवादि' शब्द है, उसमें से जीव की व्याख्या चलती है। 'आदि' की बात बाद में करेंगे।

अहाहा! जीव की एकसमय की अवस्था/हालत/दशा है, वह एक अंश है। वह कोई वास्तविक-निश्चय आत्मा नहीं है। इसकारण जो पर्यायरूप अंश है-भेद है-भंग है,

उसको भी यहाँ परद्रव्य कहा गया है। भारी बात! स्त्री, पुत्र परद्रव्य, शरीर परद्रव्य, कर्म परद्रव्य और पुण्य-पाप के भाव भी परद्रव्य — ये सब तो परद्रव्य हैं ही; परन्तु अरे! यहाँ तो जीव की एकसमय की निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य कहते हैं। पर्याय एकसमय की है, वह त्रिकाली वस्तु नहीं है; इसकारण वह परद्रव्य है। जबकि त्रिकाली वस्तु, जो आत्मा है, वह स्वद्रव्य है। त्रिकाली भगवान आत्मा अनादि-अनन्त है.... है.....है। ऐसी जो एकरूप चीज है, वह स्वद्रव्य है, स्व-आत्मा है और एकसमय की पर्याय परद्रव्य है, व्यवहार आत्मा है।

अहा! त्रिलोकीनाथ परमात्मा तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमेश्वर के ज्ञान में जैसी चीज ज्ञात हुई है, वैसी वाणी द्वारा कही गई है और वह यह आगम है; परन्तु जगत को उसका अभ्यास नहीं है। यहाँ कहते हैं कि प्रभु! यहाँ तो आत्मा को ही 'प्रभु' रूप से बुलाते हैं (कहते हैं); 'भगवान आत्मा' कहकर बुलाते है; क्योंकि प्रभु! तेरी चीज तो अनन्त परमेश्वरता का पिण्ड ही है, तुझमें परम ईश्वरता भरी है। अनन्त-आनन्द, अनन्तज्ञान, अनन्तशान्ति, अनन्तवीरता, अनन्त-स्वच्छता, अननत-प्रभुता......ऐसी-ऐसी अनन्त शक्तियों का जो त्रिकाली एकरूपपना है, उसे यहाँ आत्मा-वास्तविक आत्मा-यथार्थ आत्मा कहते हैं और उसकी दृष्टि करने से धर्म होता है।

प्रश्न — यह दया, व्रत पालन करें, उपवास करें तो धर्म नहीं होता ?

उत्तर — यह तो तेरा रागभाव है, यह न तो धर्म है और न धर्म का कारण ही है। अहा! जीव अनन्तकाल से चारगति में परिभ्रमण करता है, सो मिथ्याबुद्धि से परिभ्रमण करता है। परिभ्रमण का मूलकारण मिथ्याबुद्धि है अर्थात् इन पुण्य-पाप के परिणामों से मुझे धर्म होगा-दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के परिणामों से मुझे धर्म होगा — ऐसी मान्यता ही मिथ्याबुद्धि-अज्ञानबुद्धि है और उससे जीव परिभ्रमण करता है। अरे! यह तो अज्ञानबुद्धि है ही, परन्तु एकसमय की जो वर्तमान अवस्था है, वह मैं हूँ — ऐसी मान्यता भी मिथ्याबुद्धि और अज्ञान है। अरे! बाहर की धमाल में कौन ऐसा सूक्ष्मतत्त्व सुनने के लिए निवृत्त होता है ? अहा! इसने अनन्त-अनन्तकाल में आत्मा अन्दर में क्या वस्तु है — यह नहीं जाना है। श्रीमद् राजचंदजी कहते हैं न! कि —

अनन्तकाल थी आंथड्.यो, बिना मान भगवान।
सेव्या नहिं गुरु संत ने, मुक्यु नहिं अभिमान॥ — सद्गुरुभक्ति रहस्य

www.vitragvani.com

अहा! यहाँ पूर्णानन्द ध्रुवस्वरूप चैतन्यघन ज्ञायकभाव को आत्मा कहते हैं और वैसा आत्मा आदरणीय है, दृष्टि करनेयोग्य है। इसके अलावा जो एकसमय की पर्याय है, जो पुण्य-पाप है, दोनों पुण्य-पापरूप जो आस्रव है, पुण्य-पाप में अटकनेरूप जो बंध है और संवर-निर्जरा-मोक्ष की जो शुद्ध पर्याय-अवस्था है, उन सबको भी यहाँ तो हेय कहा है। लो, यहाँ तो धर्म की पर्याय को भी हेय कहा है। भाई! सूक्ष्म है। यह तो सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा प्रतिपादित अन्तर का मार्ग है। अहा! त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन्होंने एकसमय में तीनकाल-तीनलोक को जाना है, उन्होंने मूलतत्त्व की चीज यह है — ऐसा जाना है और वाणी में भी वैसा ही कहा है।

यहाँ कहते हैं — भगवान! तुझमें दो तत्त्व हैं — (१) त्रिकालीतत्त्व और (२) एक समय का तत्त्व। वह एकसमय की पर्याय-तुझमें होती तेरी अवस्था! परन्तु वह हेय है; क्योंकि पर्याय में से नई निर्मल पर्याय नहीं आती; निर्मल पर्याय तो, जो ज्ञायकभाव त्रिकालीद्रव्य है, उसका अन्तर-अनुभव करने पर आती है।

***प्रश्न* —** क्या साधारण समाज को यह समझ में आयेगा ?

***उत्तर* —** भाई! मार्ग तो यह है। कोई समझे या न समझे, मार्ग यही है। यही दुःख से मुक्त होने का उपाय है। यदि कोई अन्य दूसरा उपाय कहे तो वह तीनकाल-तीनलोक में सत्य नहीं है।

यहाँ 'जीवादि' में से (१) प्रथम जीवतत्त्व की बात हुई। (२) दूसरा अजीवतत्त्व है। (३) तीसरा आस्रवतत्त्व है। उसमें पुण्य-पाप के भाव आ गये; क्योंकि पुण्य-पाप के भाव आस्रवतत्त्व हैं। फिर (४) बंधतत्त्व है-पुण्य-पाप में अटकना बंधतत्त्व है। (५) संवरतत्त्व, (६) निर्जरातत्त्व, (७) मोक्षतत्त्व है — इन सातों तत्त्वों को यहाँ बर्हितत्त्व कहा गया है। ये सातों तत्त्व परवस्तु हैं, किन्तु अपनी त्रिकाली चीज नहीं। इन सातों तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण हेय है और धर्म की प्रथम सीढ़ीरूप सम्यग्दर्शन का विषय, जो यह त्रिकाली भगवान आत्मा है, वह उपादेय है — ऐसा यहाँ कहा गया है। अरे! इसने घर के पाप के बही-खाते तो सँभाले हैं; परन्तु कभी यह सुना नहीं है और पढ़ा भी नहीं है — इसकारण यह क्या कहते हैं, वह समझ में नहीं आता। अरे भगवान! तेरे घर की चीज क्या है, उसका तुझे पता नहीं है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

यहाँ त्रिकाली वस्तु, जो कि सच्चिदानन्द प्रभु है (सत्+चित्+आनन्द=शाश्वत ज्ञान और आनन्द का धनी), उसे आत्मा कहा गया है और वह आत्मा ही उपादेय अर्थात् नजर करनेयोग्य है-दृष्टि करनेयोग्य है। वह पूर्ण स्वरूप भगवान आत्मा ही तेरी ज्ञान की दशा में ज्ञेय बनानेयोग्य है, ध्येय बनानेयोग्य है। यह बात थोड़ी कड़क है। अहा! ध्येय बनानेयोग्य तो वह द्रव्य ही है। वह द्रव्य ही उपादेय है, वहाँ नजर करके उसमें ही लीन होनेयोग्य है और तभी धर्म होगा, वरना अन्य किसी प्रकार से धर्म तीनकाल में भी नहीं होगा।

यहाँ कहते हैं कि जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण '**वास्तव में उपादेय नहीं है**' आदरणीय नहीं है, आश्रय करनेयोग्य नहीं है, निज माननेयोग्य नहीं है। अहा! ये स्त्री, पुत्र, शरीर, लक्ष्मी, वाणी, कर्म तो पर हैं और पर होकर ही रहे हैं अर्थात् शरीर शरीररूप-जड़रूप होकर रहा है। यह शरीर कोई आत्मारूप होकर नहीं रहा है, इसीतरह कर्म भी जड़ होकर रहा है; वह तो जड़, मिट्टी, धूल और पर है; परन्तु यहाँ तो जीव की अपनी पर्यायरूप जो दशा है, उस दशा को भी परद्रव्य गिनने में आया है। त्रिकाली आत्मा स्वद्रव्य है तो उसके समक्ष एक अंश पर्याय परद्रव्य है। अहा! सुनते-सुनते विचार करने का अवसर तो मिलता है, इसलिए विचारकर निर्णय करना चाहिए। अहो! यह तो अपूर्व बात है, जो कि इसने अनन्तकाल में कभी नहीं सुनी। श्री समयसारजी की चौथी गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि पर से विभक्त और स्व से एकत्व — ऐसे आत्मा की बात इसने कभी नहीं सुनी। यहाँ तो यह कहते हैं कि आत्मा इस पर्याय से भी विभक्त है।

अहा! दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति आदि के जो पुण्य तथा पाप के विकल्प हैं, उनसे भी यह आत्मा भिन्न है; क्योंकि वे तो राग हैं। ये दोनों पुण्य-पाप के भाव अधर्म हैं, धर्म नहीं। अरे! उस अधर्म का नाश होकर, स्वद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली धर्म की शुद्धपर्याय को भी यहाँ परद्रव्य कहकर हेय कहा है। जो समय-समय की पर्याय उत्पन्न होती है, वह भले ही पुण्य-पाप हो अर्थात् दया, दान, हिंसा, झूठ, चोरी आदि का भाव हो अथवा संवर, निर्जरा, मोक्ष का भाव हो — परद्रव्य है। अरे! केवलज्ञान का भाव भी परद्रव्य है। जो केवलज्ञान की एकसमय की पर्याय है, वह भी त्रिकालीद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष — ये साततत्त्व हैं और मोक्षतत्त्व में केवलज्ञान आ गया।

www.vitragvani.com

अतः वह केवलज्ञानपर्याय और सिद्धपर्याय भी परद्रव्य है। त्रिकालीप्रभु आत्मा, जिसमें अनन्त-आनन्द की खान पड़ी है, जिसमें अनन्तशक्ति का सागर पड़ा है — ऐसी त्रिकाली वस्तु की अपेक्षा से यहाँ वर्तमान मोक्ष की पर्याय को भी परद्रव्य कहा है। तात्पर्य यह है कि जब पूर्ण वस्तु को स्वद्रव्य कहा, तब एकसमय की अवस्था को पर-द्रव्य कहा है।

अरे रे! इसकी चीज क्या है ? टिकती चीज क्या है और बदलती चीज क्या है ? उसका विवेक इसने कभी नहीं किया है। अरे! अभी तो आत्मा पर से भिन्न है — ऐसा मानने में भी इसको पसीना उतरता है। आत्मा शरीर से भिन्न है, इसलिए आत्मा शरीर की क्रिया नहीं कर सकता अर्थात् शरीर जड़, मिट्टी, धूल है — इसकारण आत्मा उसकी क्रिया नहीं कर सकता। यह जो शरीर का हलन-चलन होता है, वह जड़ से होता है, आत्मा से तीनकाल में भी कभी नहीं होता। अभी तो यह बात मानने में भी इसका पसीना उतरता है; क्योंकि अज्ञानी जीव पाप के व्यापार-धंधे में इतना लवलीन है कि उसने इस बात का लक्ष्य ही नहीं किया है और कदाचित् बहुत करे तो पुण्य क्रिया में लवलीन है। दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति आदि — इन सब राग की क्रिया में वह तल्लीन है; इसलिए उनसे आत्मा पृथक् है तथा शुद्धता में से प्रकट हुई अपनी संवर-निर्जरा-मोक्षरूप निर्मल पर्याय से भी आत्मा भिन्न है — यह बात उसको नहीं जँचती। अहा! यह तो शुद्धभाव अधिकार है न! इसलिए यहाँ शुद्धता में से प्रकट हुई शुद्धपर्याय को भी परद्रव्य गिनने में आया है। यहाँ तो कहते हैं कि वह पर्याय शुद्धभाव नहीं है।

अहा! अन्तर्मुख की चीज ऐसा भगवान आत्मा अन्तर्दृष्टि करने से उपादेय होता है और तब उसको धर्म की प्रथम सीढ़ीरूप सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। लोग गाते हैं न — समकित सावन आया; परन्तु समकित किसको कहते है, वह सम्यग्दर्शन पर्याय किसको उत्पन्न होती है, किसप्रकार उत्पन्न होती है और उसका क्या स्वरूप है — यह बात बहुत सूक्ष्म है भगवान!

यह त्रिकाली भगवान आत्मा परमानन्द की खान, ध्रुव, नित्यवस्तु है। एकसमय की पर्याय को गौण करके, उस त्रिकालीद्रव्य का आश्रय करने पर अनुभव में यह आत्मा शुद्ध है — ऐसी प्रतीति आती है और उसको समकित कहा जाता है। लो, यह उसको धर्म की शुरूआत का प्रथम अंक गिनने में आया है, वरना तो सब शून्य है। अहो! देखो न, संक्षेप में कितना भर दिया है!

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

'जीवादि सात तत्त्वों.........' जीवादि हैं अवश्य; क्योंकि वे तत्त्व हैं। एकसमय की पर्याय भी तत्त्व है, संवर-निर्जरा-मोक्ष भी तत्त्व है और उसीतरह पुण्य-पापरूप आस्रव और बंध — ये पर्यायें भी तत्त्व हैं। वे हैं — यह यहाँ सिद्ध करना है; परन्तु उन तत्त्वों के पीछे अन्दर में जो एक महाप्रभु आत्मा है, उसको स्वतत्त्व और स्वद्रव्य कहा गया है और उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है।

जीवादि साततत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण वास्तव में उपादेय नहीं है।

***प्रश्न* —** वे किसकारण से उपादेय नहीं हैं ? वे आदरणीय-आश्रय करनेयोग्य क्यों नहीं हैं ? अपनी पूर्णवस्तुरूप से माननेयोग्य क्यों नहीं है ?

***उत्तर* —** क्योंकि परद्रव्य होने के कारण वे वास्तव में उपादेय नहीं हैं। अहा! यह तो धर्म की प्रथम सीढ़ी की बात है। वीतराग त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थंकरदेव को एक समय में-सैकेण्ड के असंख्यातवें भाग में तीनकाल-तीनलोक जानने में आए हैं। उन्होंने केवलज्ञान के द्वारा तीनलोक को जाना और इच्छा बिना वाणी निकली। उस वाणी को आगम कहते हैं और उस आगम में तत्त्व का ऐसा वर्णन है — ऐसा कहा गया है। सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा के अलावा अन्यत्र कहीं यह चीज (ऐसी वस्तुव्यवस्था) नहीं है।

कोई अज्ञानी कहता है कि यह अवस्था क्या है ? और पर्याय क्या है ? पर्याय का क्या काम है ? यह तो पीछे लगी है। सिद्ध को भी पर्याय होती है तो वहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा ? अरे! अज्ञानी को मार्ग का कुछ पता नहीं है। भगवान तेरी एकसमय की अवस्था..... भाई! पर्याय अर्थात् अपनी अवस्था और वह सिद्ध में भी होती है, क्योंकि पर्याय नहीं हो तो द्रव्य कैसा ? अरे! पर्याय क्या, गुण क्या और द्रव्य क्या है? अज्ञानी को इसका कुछ पता नहीं है और वह कहता है कि 'यह सब तो भगवान जाने।' परन्तु भाई! भगवान तो यह सब जानते ही हैं; परन्तु यह तो तुझे बतलाते हैं कि तू जान!

अरे भाई! चौरासी लाख योनियों में भटकते-भटकते मुश्किल से तुझे मनुष्यभव मिला है, फिर भी इस चीज का परिचय नहीं किया! अहा! एकसमय की अवस्था को छोड़कर अर्थात् दया, दान का विकल्प तथा संवर-निर्जरा और मोक्ष की पर्याय का भी लक्ष्य छोड़कर, पूर्णानन्द प्रभु त्रिकाली भगवान आत्मा का लक्ष्य (दृष्टि) नहीं किया तो तूने कुछ नहीं किया। उसका मनुष्यपना निरर्थक है....निरर्थक है....निरर्थक है। भगवान

www.vitragvani.com

तो ऐसा कहते हैं कि ऐसे सम्यग्दर्शन बिना सब चलते मुर्दे हैं। अहा! जिन्होंने चैतन्यमूर्ति परमप्रभु आत्मा को उपादेय नहीं किया, उसका आश्रय नहीं किया, उसका आदर नहीं किया; परन्तु एकसमय की पर्याय का तथा पुण्य-पाप का आदर किया, वे सब मुर्दे समान हैं, मिथ्यादृष्टि हैं; क्योंकि वे चैतन्य महाप्रभु का अनादर करते हैं।

प्रश्न — जैनधर्म ऐसा होगा ?

उत्तर — हाँ; जैनधर्म वस्तु का स्वभाव है। वह कोई पक्ष अथवा बाड़ा नहीं है; किन्तु वस्तु का स्वभाव है। पर्यायदृष्टि छोड़कर, एकसमय में पूर्ण ऐसी वस्तु की द्रव्यदृष्टि करना वह जैनधर्म है और वैसी दृष्टिरूप से परिणमनेवाला जैन है।

यहाँ कहा है कि 'जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण वास्तव में उपादेय नहीं है, आदरणीय नहीं है।'

यह तीसरा शुद्धभाव अधिकार है। यह शुद्धभाव अर्थात् जो शुभ, अशुभ और शुद्धपर्याय है — यहाँ उसकी बात नहीं है; परन्तु जो त्रिकाली अन्तःतत्त्वरूप ध्रुवस्वभाव है, उसको यहाँ शुद्धभाव कहा गया है। जो पर्याय का शुद्धभाव है, वह तो परद्रव्य में जाता है। शुभ, अशुभ और शुद्ध — ऐसी जो तीन पर्यायें हैं, वे तो यहाँ परद्रव्य में जाती हैं। वे पर्यायें इस शुद्धभाव में नहीं हैं।

'जीवादि बाह्यतत्त्व हेय हैं।' जीव की एकसमय की पर्याय, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि जितनी प्रकटरूप पर्यायें हैं, उन सब पर्यायों को बहिर्तत्त्व कहकर हेय कहा है; जबकि अन्तःतत्त्वस्वरूप ज्ञायकभाव, जो कि एकरूप त्रिकाली ध्रुवस्वभाव है, उसको यहाँ स्वद्रव्य कहा गया है। अतः 'जीवादि' अर्थात् संवर, निर्जरा और मोक्षादि सब बाह्यतत्त्व हैं।

श्रोता — बराबर।

पूज्य गुरुदेवश्री - क्या बराबर ? शरीर तो बाह्यतत्त्व; परन्तु संवर और निर्जरा भी बाह्यतत्त्व। क्या संवर, निर्जरा और मोक्ष आत्मा नहीं है ? क्या धर्म की पर्याय आत्मा नहीं है ? भाई! मोक्ष का मार्ग लो तो भी वह पर्याय है न! इसलिए हेय है — ऐसा कहा है। 'जीवादि बाह्यतत्त्व' — जितनी प्रकट पर्यायें हैं, वे सब बाह्यतत्त्व हैं; क्योंकि वे प्रकटरूप हैं न! जबकि त्रिकाली वस्तु अप्रकट है। पर्याय की अपेक्षा से वह अप्रकट

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

है, यों वस्तुरूप से तो वह व्यक्त (प्रकट) ही है। ऐसा ध्रुवभाव, ज्ञायकभाव सम्यग्दर्शन का विषय है अर्थात् त्रिकालीध्रुव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।

अहा! कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के आश्रय से मिथ्यात्व होता है और सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र के आश्रय से राग होता है तथा इस संवर, निर्जरा, मोक्षादि पर्याय का लक्ष्य करने जाए तो भी राग-विकल्प होता है। वह आस्रव-पुण्य-पाप का भाव अर्थात् शुभाशुभभाव तथा उनमें अटकना सो भावबंध तो प्रत्यक्ष दु:खदायक और बहिर्तत्त्व है ही; परन्तु यहाँ तो जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष — ये सातप्रकार की प्रकट पर्यायें भी सभी बहिर्तत्त्व हैं और हेय हैं — ऐसा कहते हैं।

'कर्मोपाधिजनित गुणपर्यायों से व्यतिरिक्त...' भिन्न है। आत्मा कर्म के निमित्त से होनेवाले औदयिकादि चार भावों से भी भिन्न है। यह तो विशेष स्पष्ट किया है। यों तो जीवादि को बाह्यतत्त्व कहने पर उसमें यह बात आ जाती है। कर्म के निमित्त की अपेक्षावाले जो औदयिकभाव, औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव और क्षायिकभाव हैं — वे चारों ही भाव आत्मा में नहीं हैं और ऐसा 'आत्मा आत्मा को उपादेय है' ऐसा जो त्रिकाल एकरूप नित्यानन्द ध्रुवस्वरूप और परमपारिणामिकभावरूप आत्मा है अर्थात् सहजस्वभावरूप आत्मा है, वह आत्मा को उपादेय है। देखा ? यहाँ ऐसा कहा है कि 'आत्मा आत्मा को उपादेय है' अर्थात् निर्मल वीतरागपर्याय में आत्मा ही उपादेय है।

***प्रश्न* —** यहाँ ऐसा कहा कि संवर, निर्जरा, मोक्ष — ये बाह्यतत्त्व हैं, फिर आत्मा को आत्मा उपादेय कहा। तो क्या फिर द्रव्य को द्रव्य उपादेय है ?

***उत्तर* —** भाई! आत्मा को आत्मा उपादेय है अर्थात् पर्याय को द्रव्य उपादेय है। उपादेयपना तो पर्याय में होता है, कोई द्रव्य में नहीं होता। अहा! पहले संवर, निर्जरा और मोक्ष को हेय कहा और फिर त्रिकालध्रुव नित्य ऐसी वस्तु में अन्तर्मुख झुकनेवाली पर्याय को 'आत्मा' कहा। मुनिराज की शैली तो देखो! भाई! यह तो अगम-निगम की बातें हैं। अहा! आत्मा आत्मा को उपादेय है अर्थात् निज आत्मा के अतिरिक्त आत्मा को-निर्मलपर्याय को अन्य कुछ उपादेय नहीं है। (उपादेय-ग्रहण करनेयोग्य)। यह आत्मा तो अकेला ज्ञान का पिण्ड है। उसके त्रिकाली स्वभाव में निश्चय मोक्षमार्ग-आनन्दस्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र और परम आनन्दस्वरूप मोक्षपर्याय भी नहीं है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

वह पर्याय, पर्यायरूप से है, परन्तु वस्तु में नहीं है और ऐसा आत्मा आत्मा को उपादेय है-निर्मलदशा में अंगीकार करनेयोग्य है।

'**यह हेय-उपादेयतत्त्व के स्वरूप का कथन है।**' गाथा में यह बात है न कि '**जीवादि बहितत्त्वहेयम्**' और '**उवादेयमप्पणो अप्पा**' - ऐसा गाथा में है न ? इसलिए पाठ में ही हेय और उपादेय की बात है कि जीवादि बाह्यतत्त्व हेय हैं और आत्मा आत्मा को उपादेय है। आत्मा की ओर झुकी हुई पर्याय में आत्मा उपादेय है। पूर्णस्वरूप ध्रुव नित्यदल, अकेला चैतन्यदल, आनन्ददल तथा जिसमें भेद नहीं है, भंग नहीं है अर्थात् जिसमें संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय का भी अभाव है — ऐसा जो एकरूप तत्त्व है, वही आत्मा को उपादेय है, उसके आश्रय से ही जीव को सम्यग्दर्शन होता है, तो भी सम्यग्दर्शन है बहिर्तत्त्व।

अहा! (समयसारजी की गाथा-११ में) आता है कि '**भूदत्थमस्सि दो खलु सम्माद्दिट्ठी हवदि जीवो**' — जो भूतार्थ का आश्रय करता है, उसको समकित होता है। उस भूतार्थ का आश्रय करती है पर्याय, कहीं द्रव्य आश्रय नहीं करता। पर्याय ऐसा मानती है कि एक द्रव्य ही आश्रय करनेयोग्य है। एकसमय की पर्याय को छोड़कर अनन्तगुणों से भरपूर नित्यानन्द ध्रुव भगवान आत्मा पर-निजस्वरूपमय भगवानरूप परम पारिणामिक स्वभाव पर दृष्टि करनेयोग्य है; किन्तु दृष्टि पर भी दृष्टि करनेयोग्य नहीं है — ऐसा कहते हैं। ऐसा सूक्ष्म है! भाई! मार्ग ऐसा ही है। अरे! लोगों ने कुछ अन्य ही मान लिया है, परन्तु बापू! वैसा विपरीत मानने से आत्मा हाथ नहीं आयेगा। यह आत्मा अन्दर पाताल कुआँ है, उसका तल खोजने पर ही आत्मा मिलता है। आत्मा का तल परमस्वभावभाव है, ध्रुव है अर्थात् उसकी जो महासत्ता है, वह उसका तल है।

इसमें लोगों को ऐसा लगता है कि यहाँ तो संवर, निर्जरा और मोक्ष को भी हेय कहते हैं। अरे! अभी तो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम को हेय कहते हैं, वह भी कठोर पड़ता है। कोई...हठ करके उपवास करे, गर्म पानी पीवे या उपधान करे, वह सब तो व्यर्थ है; परन्तु कोई कदाचित् मंद कषाय के भलीभाँति उपवास करे तो भी हेय है। अरे! यहाँ तो कहते हैं कि धर्मरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय करे तो भी हेय है। यह गजब बात है! अहा! चाहे तो दया, दान, व्रत के परिणाम हों या भगवान की पूजा के परिणाम हों, हेय हैं; परन्तु यह बात अज्ञानी को नहीं जँचती है।

www.vitragvani.com

***प्रश्न* —** व्यवहार कथंचित् उपादेय है न ?

***उत्तर* —** परन्तु वह बात किस अपेक्षा से है ? व्यवहार से अर्थात् जानने के लिए व्यवहार आदरणीय कहा जाता है। जिनेन्द्रदेव भगवान का आत्मा, गुरु का आत्मा आदि तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय — यह व्यवहार, व्यवहार से आदरणीय कहा जाता है; परन्तु वस्तुतः तो यह व्यवहार स्वयं ही अभूतार्थ है।

***प्रश्न* —** समभाव दृष्टि रखना वह .... ?

***उत्तर* —** वह भी पर्याय होने से हेय है। वह त्रिकालीद्रव्य कहाँ है ? यह बात तो पूर्व में (श्लोक ३५में) आ गई है न कि बुध पुरुषों का यह निर्णय है कि जीव में सिद्धपद भी नहीं है और संसारपर्याय भी नहीं है। यह ज्ञानियों का अभिप्राय है, ऐसा मार्ग है। अहा! अन्दर में चैतन्यमहाप्रभु-महाभगवान आत्मा विराजमान है और वह पर्याय में आदरणीय है। पर्याय में पर्याय आदरणीय नहीं, अपितु ऐसा द्रव्य आदरणीय है — यह यहाँ कहना है।

'जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण ....' देखो, ५०वीं गाथा में भी यह कहा है कि निर्मल पर्यायादि समस्त भाव परद्रव्य हैं, परभाव हैं अर्थात् त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से वे परभाव हैं और त्रिकाली स्वद्रव्य की अपेक्षा से वे परद्रव्य हैं तथा हेय हैं — ऐसा इस नियमसार की ५०वीं गाथा में आता है। अन्यत्र भी संवरतत्त्व को बहिर्तत्त्व कहा है न ? द्वादशानुप्रेक्षा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि संवर बहिर्तत्त्व है अर्थात् संवर आत्मा से बाहर है, आत्मा में नहीं है। (संवरभावना गाथा-६५) लो, धर्म आत्मा में नहीं है — ऐसा कहते हैं। धर्म, वह आनन्दस्वभावी आत्मा की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागपर्याय है और यहाँ कहते हैं कि वह वीतरागपर्याय अर्थात् धर्म, धर्मी ऐसे आत्मा में नहीं है।

***प्रश्न* —** तो क्या कहीं अन्यत्र धर्म होगा ?

***उत्तर* —** भाई! धर्म उसकी पर्याय में है, द्रव्य में नहीं — यह कहना है। अहा! जहाँ क्षायिक भाव भी अन्दर में नहीं है, वहाँ अन्य भावों का तो क्या कहना ? यद्यपि सिद्ध को पर्याय में क्षायिकभाव है; तथापि उनको भी वह क्षायिकभाव द्रव्य में नहीं है। अरे! उनको तो क्या, किसी के भी द्रव्य में क्षायिकभाव नहीं है। वह क्षायिकभाव

www.vitragvani.com

पर्यायरूप होने से द्रव्य में कैसे होगा ? (१) क्षायिकसमकित, (२) यथाख्यातचारित्र (३) केवलज्ञान, (४) केवलदर्शन, (५) दान, (६) लाभ, (७) भोग, (८) उपभोग और (९) वीर्य — ये क्षायिकभाव की नौ लाब्धियाँ प्रकट हों तो भी बहिर्तत्त्व है — ऐसा कहते हैं। वे तो एक अंशरूप बाह्य प्रकट हैं और पर्याय व्यक्त है, इस अपेक्षा से वस्तु स्वयं भगवान आत्मा अव्यक्त है। यह बात श्री समयसार की ४९वीं गाथा में आ गई है।

इस शास्त्र की पाँचवीं गाथा में ऐसा कहा है कि बहिर्तत्त्व और अन्तःतत्त्वरूप परमात्मतत्त्व — इन दोनों की श्रद्धा, वह व्यवहारसमकित है। वह बहिर्तत्त्व अर्थात् ये साततत्त्व और अन्तःतत्त्वरूप परमात्मतत्त्व अर्थात् त्रिकाली आत्मा। इन दोनों की श्रद्धा व्यवहारसमकित है; क्योंकि दोनों को साथ लिया है न, इसलिए वह राग-विकल्प है — ऐसा कहना है। अब, यहाँ कहते हैं कि जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है।

***प्रश्न* —** मोक्षमार्गप्रकाशक (नौवें अधिकार) में यह कहा है कि नवतत्त्व की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है ?

***उत्तर* —** भाई! वह वर्णन अभेद से है।

श्रोता — पुण्य-पाप अधिकार में भी आता है कि '**जीवादिसद्दहणं....**!' (समयसार गाथा १५५)

पूज्य गुरुदेवश्री — हाँ, आता है न! परन्तु '**जीवादिसद्दहणं**' अर्थात् जीवादि की श्रद्धा का ज्ञानरूप परिणमन वह समकित है। वहाँ '**जीवादि**' शब्द है; परन्तु उसका अर्थ यह है कि जीवादि की श्रद्धा का अन्तर में ज्ञानरूप परिणमन का नाम समकित है। देखो! यहाँ गाथा ३८ में जैसा '**जीवादि**' शब्द है, वैसा '**जीवादि**' शब्द वहाँ समयसार गाथा १५५ में भी है; परन्तु उसका अर्थ क्या ? कि वस्तुतः तो ज्ञायक का ज्ञान होने पर, उसमें यह (जीवादि) नहीं है, वैसा ज्ञान हो जाता है। देखो, टीका में ही ऐसा है न कि 'मोक्ष का कारण वास्तव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। उसमें, सम्यग्दर्शन तो जीवादि पदार्थों के श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञान का होना-परिणमना वह है।' (गाथा १५५ की टीका) इसीप्रकार सम्यग्ज्ञान में भी ज्ञान का परिणमन है और सम्यक्चारित्र में भी ज्ञान का परिणमन है। इसका अर्थ यह है कि जहाँ अकेले ज्ञायकभाव का भान हुआ, वहाँ

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

उस सम्यग्ज्ञान में 'ये जीवादि पर्यायें ज्ञायक में नहीं हैं' — ऐसा नास्ति का ज्ञान भी अस्ति के ज्ञान के साथ आ जाता है; परन्तु सम्यग्ज्ञान का परिणमन हो उसमें ही इस नास्ति का ज्ञान आता है; अकेले परलक्ष्यी धारणा ज्ञान में यह नास्ति का ज्ञान नहीं आता। मूल यह बात करनी है। अहा! '**जीवादिसद्दहणं**' अर्थात् नवतत्त्वों का शब्दरूप ज्ञान नहीं; किन्तु अन्दर ज्ञान में ज्ञान का परिणमन हो। यद्यपि ज्ञान का विषय स्व-पर है, ज्ञान स्व-परप्रकाशक है, इसलिए भले ही पर का ज्ञान हो जाए; तथापि पर का ज्ञान पर है इसलिए हो जाता है — ऐसा नहीं है। यहाँ अन्दर ज्ञायक का भान होने पर स्व-पर का प्रकाशक ज्ञान स्वतः होता है।

परन्तु यह बात तो बहुत सूक्ष्म है ?

भाई! मार्ग ऐसा सूक्ष्म है। कहते हैं कि जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभावरूप ज्ञान का होना-परिणमन करना ज्ञान है तथा रागादि के त्याग स्वभावरूप ज्ञान का होना परिणमन करना सो चारित्र है। ज्ञान शब्द से आत्मवस्तु है और उसका परिणमन होना सो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। अहा! मार्ग तो ऐसा है। नियमसार की ५वीं गाथा की टीका में जीवादि शब्द है और समयसार की १५५वीं गाथा में भी जीवादि शब्द हैं, परन्तु (१५५वीं गाथा में) जीवादि के श्रद्धान को निश्चयसमकित कहा है, जबकि (५वीं गाथा में) जीवादि के श्रद्धान को व्यवहारसमकित कहा है अर्थात् (१५५वीं गाथा में) निश्चय कहा है, जबकि (५वीं गाथा में) व्यवहार कहा है। अतः कहाँ क्या अपेक्षा है, वह जानना चाहिए न! अहा! (५वीं गाथा में तो) समस्तप्रकार के पर्याय के भेद की बात है और (१५५ वीं गाथा में) कहते हैं कि अकेले जीव का ज्ञान हुआ, वहाँ ये (जीवादि पर्यायें) उसमें नहीं हैं — ऐसा ज्ञान भी साथ ही आ जाता है; क्योंकि ज्ञान का ही ऐसा स्वभाव है कि अखण्ड, अभेद चैतन्य का ज्ञान होने पर, उसमें पर्याय के भेदों का अभाव है — ऐसा स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वतः होता है अर्थात् स्व का ज्ञान होने पर, पर का ज्ञान स्वतः होता है; परन्तु पर का ज्ञान होने पर स्व का ज्ञान स्वतः होता है — ऐसा नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि '**जीवादि साततत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण....**' देखो, यहाँ कारण देते हैं कि ये (जीवादि) तत्त्व परद्रव्य होने के कारण **वास्तव में उपादेय नहीं है।** भले ही व्यवहार से संवर, निर्जरा और मोक्ष को उपादेय कहा जाए; परन्तु

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

वास्तव में उपादेय नहीं है — ऐसा मार्ग है ? 'जीवादि साततत्त्वों' — देखो! ये तत्त्व अस्तिरूप-भावरूप हैं, अभावरूप नहीं; क्योंकि ये (जीवादि) पर्यायें भी सत् हैं और उनको तत्त्व कहा है। 'जीवादि साततत्त्वों....' अर्थात् ये जीवादि तत्त्व वस्तु है (अस्तित्त्व धराती है।); परन्तु उनका समूह 'परद्रव्य होने के कारण' वे त्रिकाली स्वद्रव्य से भिन्न होने के कारण, त्रिकाली द्रव्य का स्वभाव ध्रुव है, उससे ये साततत्त्व अन्य होने के कारण यहाँ उनको परद्रव्य कहा गया है और इसीकारण वे '**वास्तव में उपादेय नहीं**' हैं। यद्यपि (गाथा के) पाठ में '**हेयम्**' है, जबकि यहाँ टीका में वास्तव में उपादेय नहीं है — ऐसा नास्ति से कहा है; क्योंकि '**उवादेयमप्पणो अप्पा**' — ऐसा गाथा में है न! इसलिए टीका में ये (जीवादि) उपादेय नहीं हैं — ऐसा अर्थ किया है।

क्या कहा ? समझे ?

कि गाथा में तो ऐसा पाठ है कि '**जीवादि बहिःतत्त्व हेयम्**' परन्तु टीका में '**हेयम्**' का प्रयोग न करके 'उपादेय नहीं' — ऐसा कहा है; क्योंकि आत्मा उपादेय है तो ये (जीवादि) उपादेय नहीं हैं — ऐसा अस्ति-नास्ति करने के लिए टीका में यह बात की है। 'वास्तव में उपादेय नहीं है' अर्थात् वस्तु जो त्रिकाली भगवान आत्मा है, केवल वही नजर (दृष्टि) करनेयोग्य है; परन्तु ये जीवादि के भेद नजर करनेयोग्य नहीं हैं — इसकारण वे उपादेय नहीं हैं — ऐसा कहा जाता है।

अब कहते हैं कि '**सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का जो शिखामणि है।**' मुनिराज अपनी (मुनि की) बात करते हैं; परन्तु इस कारण कोई यह कहे कि यह (नियमसार) मुनि के लिए ही है तो ऐसा नहीं है। यह तो मुनिराज अपनी बात करके यहाँ कहते हैं। वरना यह तो सम्यग्दर्शन के विषय की बात है। क्या ऐसा सम्यग्दर्शन मुनि को ही होवे ऐसा है क्या ? (नहीं, समकिती को भी होता है, इसलिए उसकी भी बात है) परन्तु इस गाथा में मुनिराज की बात आई, इसलिए किसी को (कदाचित्) ऐसा लगे कि ऐसा समकित तो मुनि को ही होता है और उनकी ही बात यहाँ है — तो ऐसा नहीं है। (यह बात अंशतः समकिती को भी लागू पड़ती है।) अहा! यहाँ तो मुनिराज स्वयं अपनी भूमिका में रहकर स्वयं की बात करते हैं और इसकारण वे कहते हैं कि यह आत्मा किसको उपादेय है ? कि ऐसे मुनि को उपादेय है। इसमें से अज्ञानी यह अर्थ निकालता है कि नीचे (चौथे, पाँचवें गुणस्थानवाले) समकिती को आत्मा उपादेय नहीं है और अज्ञानी कहता है कि देखो, इस गाथा में यह कहा है कि

वीतरागभाववाले मुनि को आत्मा उपादेय है, इसलिए निश्चयसमकित मुनि को ही होता है; परन्तु यह बात सत्य नहीं है।

अहा! 'सहज वैराग्य...' अर्थात् पर तरफ का जोर वापस स्व में लाना। पूर्णानन्द प्रभु आत्मा स्व है और वह उपादेय है, इसकारण मुनि को पर तरफ का वैराग्य हो गया है, वे पर से हट गये हैं — ऐसा यहाँ कहते हैं। 'सहज-स्वाभाविक वैराग्यरूपी महल के शिखर का जो शिखामणि है', जिसकी पर्याय के प्रति उदासभाव है। मुनि को स्व की ओर का उपादेय भाव है, तो वे इन पर्यायादि की ओर से उदास हैं। ओहोहो....! दिगम्बर मुनियों ने चारित्र के अनुभव सहित जो बात की है, वह अलौकिक है।

जो वस्तु उपादेय नहीं है, उसकी बात पहले की। अब उपादेय कौन है और किसको है, वह कहते हैं। **'उपादेयम् अप्पणो अप्पा' —** ऐसा गाथा में आया था न! तो अब उसकी व्याख्या करते हैं कि जो यह त्रिकाली द्रव्य वस्तु भगवान आत्मा है, उसके अतिरिक्त सातों तत्त्व — संवर, निर्जरा और मोक्ष भी उपादेय नहीं हैं तो उपादेय क्या (कौन) है ? और किसको है ? कि 'सहजवैराग्यरूपी महल....' महल=बड़ा बँगला। मुनि को सम्पूर्ण दुनिया के प्रति अन्तर में उदासभाव है; वे पर से हटकर स्वभाव के आसन में विराजमान हैं। इसकारण वे सहज वैराग्यरूपी महल के बड़े बँगले के, शिखर के शिखामणि हैं। शिखामणि=शिखर के ऊपर का रत्न, चूड़ामणि, कलगी का रत्न।

अहा...! कहते हैं कि जिसे सारी दुनिया के प्रति उदास-वैराग्य भाव है अर्थात् जो पर्याय को ग्रहण करने के प्रति भी उदास है — ऐसा सहजवैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि-शिखर के ऊपर के रत्न समान धर्मात्मा को आत्मा उपादेय है। आशय यह है कि जो पर्यायादि से उदास होता है, वह अपनी त्रिकाली अस्ति को पकड़ता है।

धर्मात्मा वैरागी होता है। धर्मात्मा को पर से, निमित्त से, राग से और एकसमय की पर्याय से भी वैराग्य होता है; इसलिए वह सहजवैराग्यरूपी महल का, बँगला के शिखर का शिखामणि है।

'परद्रव्य से जो पराङ्गमुख है।' परद्रव्य अर्थात् ये (जीवादि) साततत्त्व कहे वे और उनसे मुनि पराङ्गमुख हैं। मुनि त्रिकाली द्रव्य भगवान आत्मा के सन्मुख हैं तो इन जीवादि सात पर्यायों से, जो कि परद्रव्य हैं, उनसे पराङ्गमुख हैं।

www.vitragvani.com

अरे! लोगों को ऐसा मार्ग सुनने को भी नहीं मिला है। यदि वे एक बार दो-चार दिन सुनें तो उन्हें पता लगे कि यह तत्त्व क्या है; परन्तु यह तो सुनते नहीं और कहते हैं कि यह एकान्त है, सोनगढ़वाले पूजा-भक्ति की बात नहीं करते। भाई! यहाँ पूजा-भक्ति आदि की बात कही जाती है, नहीं कहते — यह किसने कहा ? परन्तु है वह राग और हेय — ऐसा कहा जाता है। प्रभु! यह तो तेरे हित की बात है भाई!

अहा! कहते हैं — '**परद्रव्य से जो पराङ्गमुख है।**' त्रिकाली परम चिद्बिम्ब-जिनबिम्बस्वरूप भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति है। सो जो उसके सन्मुख हुआ वह परद्रव्य से विमुख है — ऐसा कहते हैं। देखो न! यह अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त किया। इसप्रकार अनेकान्त है; परन्तु स्वभाव के सन्मुख भी है और पर्याय के सन्मुख भी है, वह समकिती है — ऐसा अनेकान्त नहीं है। ओहोहो...! क्या श्री कुन्दकुन्दाचार्य और क्या उनके शास्त्र! अमृत की धारा बहती है।

भाई! तू अमृत का सागर है न! अरे प्रभु! तेरे अतीन्द्रिय अमृत के एक अंश के स्वाद के समक्ष तो इन्द्र का इन्द्रासन और इन्द्राणियों का सुख भी जहरवत् लगता है। भगवान! तू तो ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द से भरा है। प्रभु! तेरा स्वभाव अतीन्द्रिय आनन्द है और उसका स्वाद लेनेवाला पर से विमुख हो जाता है अर्थात् इस जगत के माने हुए -कल्पना की हुए सुख से हट जाता है और वह वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि है।

अहा! '**परद्रव्य से जो पराङ्गमुख है।**' ये जो साततत्त्व कहे हैं वे परद्रव्य हैं और उनसे जो पराङ्गमुख है अर्थात् जिनको उन साततत्त्वों की दृष्टि भी छूट गई है — ऐसे मुनि को '**पाँच इन्द्रियों के विस्ताररहित देहमात्र परिग्रह है।**'

देखो! अब क्या कहते हैं कि 'पाँच इन्द्रियों के विस्ताररहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह है।' मुनिराज अपनी भूमिका की बात करते हैं न! (इसलिए ऐसा कहा है) श्री समयसारजी की छठवीं गाथा में भी आचार्य ने स्वयं अपनी भूमिका की बात की है न कि '**ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो....।**'

प्रमत्त-अप्रमत्तदशा आत्मा में नहीं है। क्षण में और पल में जो यह प्रमत्त-अप्रमत्तदशा होती है, वह वस्तु में नहीं है। इसप्रकार आचार्य ने अपनी भूमिका से बात की है।

यदि अब जो प्रमत्त-अप्रमत्तदशा होती है, वह वस्तु में नहीं है तो क्या संयम-असंयम पर्याय वस्तु में होगी ?

भाई! यह तो उस भूमिका में-पर्याय में आचार्य भगवान खड़े थे, इसलिए उस भूमिका से बात कहते हैं कि मैं इन (प्रमत्त-अप्रमत्त) रूप नहीं हूँ। इसीप्रकार यहाँ मुनिराज स्वयं भी चारित्रदशा में खड़े हैं न! इसलिए एकदम पर से उदास होकर कहते हैं कि 'पाँच इन्द्रियों के विस्ताररहित देहमात्र जिनको परिग्रह है....।'

अर्थात् ? मुनि ने परिणति को द्रव्यसन्मुख ढालकर द्रव्य को विषय बनाया है। इसकारण अब उनको देहमात्र ही रहा है; परन्तु पाँच इन्द्रियों का फैलाव नहीं रहा है अर्थात् अब उनका झुकाव पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर नहीं रहा है। यहाँ तो उत्कृष्ट चारित्रवंत मुनि की बात है, इसलिए कहते हैं कि उनको पाँच इन्द्रियों का विस्तार, जो पर तरफ जाता था, वह अब रुक गया है; इसलिए उनको देहमात्र रह गया है-नग्नदशा हो गई है। अब उनको इन्द्रियों का विस्तार-फैलाव पर की ओर नहीं जाता।

मुनि को नग्नदशा क्यों हो जाती है ?

क्योंकि उनको पाँच इन्द्रियों की ओर का झुकाव का भाव ही सर्वथा रुक गया है, भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय की ओर का झुकाव ही रुक गया है। इसकारण उनको अकेली नग्नदशा हो गई है। अहा! मुनि को अज्ञानी की तरह अकेली बाह्य नग्नदशा नहीं है; परन्तु देह में जो यह सब इन्द्रियों के हैं, उस तरफ का झुकाव ही उनको रुक गया है। जैसी वस्त्ररहित बाह्यदशा हो गई है, वैसी इन्द्रियों के फैलाव रहित अन्तरदशा हो गई है।

श्रोता — क्या वे मोक्ष का ही अनुभव करते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री — (निश्चय से तो) मोक्ष ही है; परन्तु यहाँ तो उपदेश देने का विकल्प उत्पन्न हुआ, उससमय की बात करना है न! इसलिए ऐसा कहा है; तथापि जो विकल्प उत्पन्न हुआ है, उसमें हमारी तो नास्ति ही है — ऐसा कहते हैं। इसका कारण यह है कि जहाँ स्वरूप के अस्तिपने का परिणमन है, वहाँ साथ ही पर के (विकल्प के) नास्तिपने का परिणमन भी है ही। श्री समयसारजी के निर्जरा अधिकार (गाथा १९५, १९६) में ज्ञान और वैराग्य नहीं कहा क्या ? कि ज्ञान और वैराग्य — ये दो शक्तियाँ साथ ही होती हैं। त्रिकाली भगवान आत्मा है, उसका जहाँ ज्ञान हुआ, वहाँ

www.vitragvani.com

पर से उदासीनतारूप वैराग्य भी साथ ही होता है। यद्यपि यहाँ तो मुनि की अपेक्षा से बहुत वैराग्य लिया है कि द्रव्येन्द्रिय के कारणरूप यह शरीर एक रह गया है; तथापि वहाँ पाँच इन्द्रियों का फैलाव है ही नहीं। अरे! जहाँ भावेन्द्रिय ही रुक गई, वहाँ अब द्रव्येन्द्रिय की बात ही क्या करना ? वह तो पर है। अहा! इस जड़ शरीर में जो पाँच इन्द्रियाँ हैं, वे तो जड़ हैं; इसलिए उनकी तो बात ही क्या करना; परन्तु ये द्रव्यन्द्रियाँ जिसको निमित्त होती हैं — ऐसी भावेन्द्रिय का विस्तार ही जहाँ अन्दर से रुक गया है अर्थात् जहाँ भावेन्द्रिय का फैलाव ही रुक गया है, वहाँ मुनि को अकेला शरीर रह गया है।

अहा! अज्ञानी को इन्द्रियों का फैलाव होता है; क्योंकि उसका झुकाव तो इन्द्रियों की तरफ ही होता है। जबकि यहाँ तो कहते हैं कि 'पाँच इन्द्रियों के फैलावरहित देहमात्र जिसको परिग्रह है' अर्थात् मुनिराज को तो यह देहमात्र ही परिग्रह होता है।

श्रोता — मुनि तो नग्न ही होते हैं न ?

पूज्य गुरुदेवश्री — हाँ, नग्न ही होते हैं और भाव से भी नग्न ही होते हैं। यहाँ अकेले नग्नपने की (द्रव्यलिंग की) बात ही कहाँ है ? देखो, इसीलिए तो कहा है कि मुनि समस्त प्रकार के विकल्पों और पर्यायों से उदास हैं; इसकारण उनको इन्द्रियों का- पर तरफ का सारा फैलाव रुक गया है तथा इन्द्रियों का फैलाव रुक गया है; इसलिए अतीन्द्रिय स्वभाव की तरफ फैलाव हुआ है — ऐसा कहते हैं। श्रीमद्जी ने अपूर्व अवसर में ऐसा कहा है न —

देहमात्र वह संयम हेतु होय जब
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा .... ?
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब....

देखो! इसमें भी आया है कि अंतर और बाह्य निर्ग्रन्थपना ही मुनिदशा है; किन्तु अकेला बाह्य निर्ग्रन्थपना मुनिदशा नहीं है।

प्रश्न — यहाँ तो मुनि को देहमात्रपरिग्रह कहा है न ?

उत्तर - हाँ, यहाँ तो जिसको देहमात्र परिग्रह होता है तथा जो अकेले आत्मा के आनन्द की रमत में रमता हो, उसको साधु कहा गया है। जैनदर्शन में साधु उसको कहते हैं कि जो छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हों।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अहा! पाँच इन्द्रियों के विस्ताररहित देहमात्र जिसको परिग्रह है — ऐसा कहकर यह कहना चाहते हैं कि मुनि के पाँच इन्द्रियों का फैलाव रुक गया है तथा उनको निमित्त बनाकर जो भावेन्द्रियाँ काम करती थीं, वे भी रुक गई हैं।

अहा! मूल बात तो यह है! यह बात समयसार गाथा-३१ में भी है न ? सच्चा नग्नपना उसे कहते हैं कि जहाँ भावेन्द्रियों का विस्तार रुक गया है, क्योंकि द्रव्येन्द्रियाँ तो निमित्त हैं। यह उपादानरूप भावेन्द्रियाँ ही जहाँ रुक गई हैं, वहाँ द्रव्येन्द्रियों का फैलाव तो है ही नहीं। इसकारण अब मुनि अतीन्द्रियपने से ही काम करते हैं।

यह बात अलिंगग्रहण में भी आई है। श्री प्रवचनसार की १७२वीं गाथा में अलिंगग्रहण के २० बोल आते हैं न! तो उसके प्रथम छह बोल ये हैं कि —

१. आत्मा इन्द्रियों से नहीं जानता।

२. आत्मा इन्द्रियों से जानने में नही आता।

३. आत्मा इन्द्रियों से ज्ञात होनेयोग्य नहीं है। आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है। आत्मा तो अतीन्द्रियज्ञान से ही ज्ञात हो वैसा है। वह तो सदा अतीन्द्रियज्ञान से ज्ञात होनेयोग्य है। तो फिर यह कहा कि 'सदा....' अर्थात् साधक ध्यान में हो, तब ही अपने अतीन्द्रियज्ञान से जाने — ऐसा नहीं है; परन्तु वह तो अपने को सदा अतीन्द्रियज्ञान से ही जानता है — ऐसा मेरा कहना है।

४. आत्मा को परजीव मात्र अनुमान करके जाने, वैसा आत्मा नहीं है अर्थात् अन्य मात्र अनुमान द्वारा उसको जाने — ऐसा वह आत्मा नहीं है।

५. आत्मा पर को अकेले अनुमान से जाने ऐसा नहीं है। लो, इन्द्रियाँ तो निकाल दीं, परन्तु अनुमान भी निकाल दिया।

६. आत्मा अपने स्वभाव से ही ज्ञात हो — ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। यह छठवाँ बोल है।

गजब बात है। अहा! किसी भी शास्त्र में देखो तो भी चारों ओर से एक ही बात खड़ी (सिद्ध) होती है। किसी भी शैली से अथवा कथनपद्धति से देखो तो भी पूर्वापर विरोधरहित बात सिद्ध होती है।

www.vitragvani.com

'जो परम जिनयोगीश्वर है।' देखा ? है — ऐसा कहते हैं। मुनि ने वीतरागी योग में ईश्वरपना साधा है अर्थात् अन्तर में वीतरागभाव में जुड़ाव करके उसमें ईश्वर हुए हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि भी योगी है; परन्तु वह आंशिक हैं। जबकि ये मुनि तो अहाहा! योगीश्वर हैं-परम जिनयोगीश्वर हैं, उनको स्वरूप में जुड़ान करके वीतरागी ईश्वरता प्रकट हुई है।

अहा! योगी अर्थात् जिसने अपने त्रिकालीस्वरूप में पर्याय को जोड़ दिया है। जिसने अपने भगवानस्वरूप त्रिकालीस्वभाव में अपनी एकसमय की पर्याय को जोड़ दिया है, उसको योगी कहा जाता है। जो (जगत में) बाबा-योगी फिरते हैं, उनको योगी नहीं कहते; परन्तु अपना स्वरूप जो कि पूर्ण आनन्दघन है, उसमें जिसने वर्तमानदशा का एकत्व किया है और परद्रव्य से विभक्त किया है, उसको योगी कहते हैं; इसलिए समकिती को भी योगी कहा जाता है।

स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है। स्वद्रव्य जो त्रिकाली ध्रुव है, उसमें मुनि की तीक्ष्ण-सूक्ष्म-बारीक बुद्धि है। यहाँ पर स्वद्रव्य को पकड़े, उसको ही तीक्ष्णबुद्धि कहते हैं, बाहर के काम करे, उसे बुद्धि कहते ही नहीं। स्वद्रव्य अर्थात् पर्यायरहित भगवान आत्मा। तो कहते है कि मुनि पर से हटे हैं और स्वद्रव्य को पकड़ने में उनकी बुद्धि तीक्ष्ण हुई है अर्थात् उनकी बुद्धि स्वद्रव्य को पकड़ने के लिए तीक्ष्ण है, ज्ञान की पर्याय स्वद्रव्य को पकड़ने के लिए तीक्ष्ण हुई है। भाई! बात कड़क है।

अहा! वर्तमानपर्याय में जो सातप्रकार (तत्त्व) हैं, (उनमें एकत्वबुद्धि) वह पर्यायबुद्धि है और वह पर्यायबुद्धि अंशबुद्धि है। जिसने उस अंशबुद्धि का परित्याग करके अन्तरस्वरूप पूर्णानन्दमय त्रिकाली भगवान आत्मा में बुद्धि लगायी है, उसकी स्वद्रव्य में तीक्ष्णबुद्धि है। वह साततत्त्वस्वरूप परद्रव्य से पराङ्मुख है और स्वद्रव्य के सन्मुख है। अहा! भाषा संक्षिप्त और भाव ऊँचे। अहा! देखो, अन्दर पाठ में (टीका में) है न कि 'परद्रव्य से जो पराङ्मुख है' सातप्रकार की पर्यायों से मुनि ने लक्ष्य छोड़ दिया है और स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्णबुद्धि है-पूर्ण अमृत का सागर ऐसे भगवान आत्मा में तीक्ष्णबुद्धि है। अहा! वर्तमानबुद्धि कहो अथवा जिसको यहाँ बहिर्तत्त्व कहने में आया है, वह वर्तमान ज्ञान की पर्याय कहो एक ही है। तो जिसकी तीक्ष्णबुद्धि स्वद्रव्य में है...स्वद्रव्य यह त्रिकाली द्रव्य है और उसमें तीक्ष्णबुद्धि यह पर्याय है।

अहा! पहले मुनिराज को पर से पराङ्मुख कहा था न! तो जब पर से पराङ्मुख हुए, तब द्रव्यबुद्धि हुई और उस द्रव्यबुद्धि को यहाँ तीक्ष्णबुद्धि कहा गया है।

यहाँ तो साततत्त्वों को भी परद्रव्य कहा है अर्थात् जो अपनी पर्याय मतिज्ञानादिरूप उघाड़ की है, उसको भी परद्रव्य कहा है। उससे पराङ्मुख होकर जो ज्ञान की बुद्धि स्वद्रव्य में लगी है, उसको तीक्ष्णबुद्धि कहा गया है। बाकी जो ये दुनिया के बड़े वकील, डॉक्टर या बीस-पच्चीस लाख के कमानेवाले होशियार-विचक्षण-चतुरपुरुष कहलाते हैं, उनकी बुद्धि को तो मूर्खबुद्धि, पाखण्डबुद्धि कहा जाता है। भाई! यहाँ तो यही बात है।

प्रश्न — इतना कमाते हैं, वह हमारा चतुरपन है न ?

उत्तर — मूर्खाई ही है सुन! जिसमें से शान्ति नहीं मिले, वह बुद्धि कैसी ? जिस बुद्धि में से दुःख मिले — ऐसी तेरी बुद्धि को कैसी कहना ? (तू ही विचार कर ले)।

प्रश्न — पैसेवाले हों तो सब सामने देखते हैं, पैसा नहीं होवे तो क्या कोई सामने देखेगा ? क्या कोई गरीब आदमी के सामने देखता है ? समाज में भी, पैसेवाला हो तो आगे बुलाते हैं कि आओ....आओ...परन्तु क्या गरीब आदमी को कोई बुलाता है ?

उत्तर — धूल भी ऐसा नहीं है, सुन! तेरा पैसा क्या है ? (उसकी कीमत क्या है ?) और लोग तुझे बुलाते हैं, इससे तुझे क्या मिला ?

प्रश्न — हम पैसा तो अपनी होशियारी से कमाते हैं न ? व्यवस्थित व्यवस्था करने में हमारी बुद्धि तीक्ष्ण है, तभी तो हमारे पाँच-दस लाख रुपयों की आमदनी होती है ?

उत्तर — मूर्ख है! भाई! यहाँ तो यह बात है। यहाँ तीक्ष्णबुद्धि उसको कहते हैं कि जिसने वर्तमानपर्याय के अंश की बुद्धि छोड़कर स्वद्रव्य में बुद्धि लगाई है। किसी को दुनियादारी का विशेष ज्ञान न हो, अरे! इस शास्त्र का ज्ञान भी विशेष न हो; तथापि उसके साथ (तीक्ष्णबुद्धि का) कोई संबंध नहीं है; परन्तु जिसने अपनी वर्तमान तीक्ष्ण-सूक्ष्म बुद्धि को महासत्ता अर्थात् त्रिकाली शाश्वत ध्रुव — ऐसे निज आत्मा में लगाई है, वह धर्मात्मा है। अहा! दुनिया के साथ वीतराग का मेल खाना मुश्किल है; क्योंकि दोनों की बात एक-दूसरे से विरुद्ध है।

देखो, कैसी भाषा ली है कि '**स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्णबुद्धि है — ऐसे आत्मा को...**' जिसने आत्मा को लक्ष्य में लिया है — ऐसे आत्मा को....। भाई! यह तो अन्तर

www.vitragvani.com

की बातें हैं कि जिन्हें कभी सुना नहीं। बाहर की बातें सुनकर यह प्रसन्न हो गया है कि हम धर्म करते हैं। भाई! तूने धर्म करने का अभिमान किया है; परन्तु धर्म नहीं किया; क्योंकि धर्म करनेवाले के जन्म-मरण का अन्त आये बिना नहीं रहता। पूजा, भक्ति, दया, दान, व्रत, मुनिपना और त्याग — ऐसी क्रिया तो अनन्तबार धारण की है। छहढाला में आता है कि —

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥ (चौथी ढाल, छंद ५)

मुनिव्रत धार अर्थात् नग्नपना अनन्तबार लिया, पंचमहाव्रत का विकल्प भी अनन्तबार किया; परन्तु उसमें क्या हुआ ? वहाँ कहाँ आत्मा है ? भगवान आत्मा तो विकल्प से और एकसमय की पर्याय से भी पार है।

यहाँ क्या कहना है ? कि **'स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्णबुद्धि है' — ऐसे आत्मा को 'आत्मा' वास्तव में उपादेय है।** भाई! यह कहना है। स्वद्रव्य में तीक्ष्णबुद्धि किये बिना आत्मा उपादेय...आत्मा उपादेय...ऐसा विकल्प करने से आत्मा उपादेय नहीं होता। अर्थात् आत्मवस्तु है, वह उपादेय, आदरणीय है और साततत्त्व हेय हैं; परन्तु वह किसके लिए है ? कि जिसकी तीक्ष्णबुद्धि स्वद्रव्य में लगी है, उसको आत्मा उपादेय है। 'आत्मा उपादेय है' का अर्थ क्या कोई विकल्प से अथवा शब्द से गोखना (रटना) है कि आत्मा उपादेय है और ये साततत्त्व हेय हैं ? नहीं। वह तो अन्दर वस्तु त्रिकाली चिदानन्दप्रभु आत्मा में-नित्य ऐसे महाभगवान आत्मा में, जहाँ तीक्ष्णबुद्धि लगी, वहाँ वह आत्मा आत्मा को उपादेय हो जाता है और इसलिए 'ऐसे आत्मा को' ऐसा लिया है। अहो! टीका भी बहुत गजब है! गजब बात है! दिगम्बर संतों ने अलौकिक काम किया है! आचार्यों के कथन की शैली तो देखो! आत्मज्ञानी-ध्यानी, आत्मा में मस्त ऐसे दिगम्बर मुनि को विकल्प आया और शास्त्र शास्त्र के कारण से बन गये। वे शास्त्र के रचनेवाले नहीं हैं। भगवान! यह तो धीमे-धीमे समझने की अंदर की चीज है, यह कोई बाहर की कथा-वार्ता नहीं है।

अहो भगवान! तेरी जो त्रिकाली चीज है, वह स्वद्रव्य है और एकसमय की पर्यायरूप जो सात भाव (तत्त्व) हैं, वे परद्रव्य हैं तथा वह स्वद्रव्य उपादेय है और परद्रव्य हेय है — ऐसा तो पहले कहा है। अब कहते हैं कि जो स्वद्रव्य उपादेय है,

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

वह किसको उपादेय होता है ? कि जिसने अपनी तीक्ष्णबुद्धि को स्वद्रव्य में लगाया है उसको अर्थात् स्वद्रव्य में तीक्ष्णबुद्धि लगानेवाले को यह आत्मा आदरणीय होता है। भगवान! ऐसी बात है! समझ में आती है ?

धर्मरत्न भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है। उसको उपादेय करने के लिए, एक समय की पर्याय-अवस्था का, जिसमें कार्य होता है, उस पर्याय का भी लक्ष्य छोड़ दे — ऐसा कहते हैं और जिसने पर्याय का लक्ष्य छोड़कर आनन्दकन्द, ध्रुव, कारणपरमात्मा, कारणजीव, शुद्ध परमस्वभावभाव, त्रिकाली एकरूप प्रभु भगवान आत्मा में तीक्ष्णबुद्धि लगाई है — ऐसे समकिती को आत्मा उपादेय है। भगवान! मार्ग ऐसा है! समझ में न आवे, कठिन लगे तो भी मार्ग तो यह है। कोई कहता है कि मार्ग को सरल कर दो न! भाई! मार्ग तो जो हो वही आयेगा न! या नहीं हो वह आयेगा ?

***प्रश्न* —** परन्तु हम बाहर की क्रिया करेंगे, उसमें धर्म आ जायेगा न ?

***उत्तर* —** यह तो विपरीत मार्ग है, उसमें धर्म या मार्ग कहाँ आया ? ऐसी चीज है। अरे भगवान! तू महापुरुष विराज रहा है। तू अनादि-अनन्त ऐसा ध्रुव ज्ञायकभाव एकसमय की पर्याय से भी दूर है। यहाँ उन पर्यायरूप साततत्त्वों को हेय कहा है और ऐसे आत्मा को उपादेय कहा है। सो आत्मा को उपादेय कहकर यह कहना है कि जिसकी तीक्ष्णबुद्धि वर्तमान में आत्मा में गई है — ऐसे आत्मा को यह 'आत्मा' उपादेय है। अहा! देखो न! यहाँ श्री अमृतचन्द्राचार्य की (समयसार गाथा-६ की) टीका का अनुसरण किया है न! संतों-दिगम्बर मुनियों ने तो गजब काम किया है। उनका एक-एक शब्द, एक-एक गाथा, एक-एक टीका गजब है! परन्तु संत दिगम्बर मुनि अर्थात् आत्मध्यानी-ज्ञानी दिगम्बर मुनि; अकेले वस्त्र त्याग करके मात्र दिगम्बर हों वे नहीं। विकल्प की वृत्ति और एकसमय की पर्याय का भी लक्ष्य छोड़कर अन्दर ध्रुव में जिसकी दृष्टि लगी हो, उसे सम्यग्दृष्टि दिगम्बर कहते है और फिर स्वरूप में विशेष लीन होने पर जिसको प्रचुर आनन्द का संवेदन प्रकट हुआ हो, उसको जैनदर्शन में/सत्यदर्शन में मुनि कहा जाता है।

कहते हैं कि '**स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्णबुद्धि है।**' स्वद्रव्य जो त्रिकाल आनन्दकन्द प्रभु है, वह एकसमय की पर्याय से भी दूर है। शरीर से, कर्म से, राग से और पुण्य से तो दूर है; परन्तु वर्तमान वर्तती अवस्था से भी वह दूर है। ऐसी वस्तु में जिसकी

www.vitragvani.com

तीक्ष्णबुद्धि है...लो, इसको तीक्ष्णबुद्धि कहते हैं; क्योंकि इसने हेय-उपादेय का भेद कर दिया न! जिसने साततत्त्वों को हेय करके आत्मा को उपादेय कर लिया, उसको तीक्ष्णबुद्धि कहा जाता है। भगवान! अन्दर में तेरी चीज तो ऐसी ही है; परन्तु तूने कभी उसका माहात्म्य नहीं किया। तुझे या तो एकसमय की पर्याय की महिमा आई है या दया, दान के विकल्प की महिमा आई है, इसलिए उनकी महिमा के कारण तुझको तेरे भगवान आत्मा की महिमा नहीं हुई।

प्रभु आत्मा तो पूर्णानन्दस्वरूप है। जिसकी बुद्धि बाहर से, पर्यायबुद्धि से और पर्यायवाले इन साततत्त्वों से हटकर....फिर कार्य तो पर्याय में होता है। भारी बात भाई! अहा! एक ओर ऐसा कहते हैं कि सातों पर्याय से हटकर...फिर भी हटना तो पर्याय में ही होता है। पर्याय द्रव्य में एकाग्र हुई तो हट गया — ऐसा कहा जाता है।

अहा...! उन सातों ही पर्याय भाव को छोड़कर ... ऐसा कहा है, तो क्या छोड़ने और उपादेय करने में समय भेद है ? (नहीं।) वह तो समझाने के लिए कहा जाता है कि इस (भेद का) लक्ष्य छोड़ना; क्योंकि जब पर्याय इस भेद का लक्ष्य छोड़ती है, तब वह पर्याय ही यहाँ (स्वरूप में) आती है। भाई! बहुत सूक्ष्म बात है! यह धर्म सूक्ष्म पड़ता है, इसीलिए अज्ञानी कहता है कि शुभराग से धर्म होता है — ऐसा मार्ग कर दो। प्रभु! तू विपरीत रास्ते चला गया है; परन्तु भाई! तुझे पता नहीं है। अरेरे! अनन्तकाल से निगोद में से निकलकर महाकठिनता से यह मनुष्यभव मिला है। यदि इसमें भव के अभाव की बात का निर्णय नहीं किया तो भाई यह भव कौआ, कुत्ते के भव जैसा है। पाँच करोड़ इकट्ठे हो गये अथवा प्रतिष्ठा बढ़ गई, इससे तो ऊँचा आ गया है — ऐसा बिल्कुल नहीं है, उल्टे तू नीचे उतरा है।

'स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्णबुद्धि है।' जिसकी वर्तमान ज्ञानपर्याय अर्थात् बुद्धि पर्याय का भी लक्ष्य छोड़कर स्वद्रव्य में लगी है, वह मुनि है। सूक्ष्म पड़े ऐसा है; क्योकि सूक्ष्म विषय है न! क्या कहते हैं ? कि यह देह तो मिट्टी-जड़-धूल है, यह कोई आत्मा नहीं है और अन्दर में जो जड़कर्म है वह भी परवस्तु है; जबकि अन्दर में जो भगवान आत्मा है, वह अनादि-अनन्त-शाश्वत-अविनाशी ध्रुववस्तु है। ऐसा जो पूर्णानन्द प्रभु ध्रुव त्रिकाली भगवान आत्मा है, उसकी जो दशा-हालत-पर्याय-अवस्था होती है, उस पर्याय का भी लक्ष्य छोड़कर स्वद्रव्य में अपनी दृष्टि लगा दे। अहा! यहाँ तो धर्म

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

कैसे हो, यह बात है भाई! परन्तु यहाँ अन्य कोई बात नहीं है। पैसा कैसे कमाना या दान देना इत्यादि कोई बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो आत्मा की बात है भगवान!

यदि तुझे कल्याण करना हो तो तेरी स्वयं की जो एकसमय की ज्ञानादि की अवस्था है तथा जो पुण्य-पाप के परिणाम हैं, उन सबकी दृष्टि छोड़ दे और अपना नित्यस्वरूप, जो त्रिकाल आनन्दकन्द ध्रुव अविनाशी भगवान आत्मा है, उसमें बुद्धि लगा दे। तभी तेरा कल्याण होगा, नहीं तो कल्याण नहीं होगा। न्याय समझ में आता है ? न्याय का अर्थ यह है कि ले जाना। न्याय में 'नि' धातु है न ? जैसा अपना स्वरूप है, वहाँ ज्ञान को ले जाने का नाम न्याय है।

अहा! जिसने अपनी वर्तमानदशा का तथा पुण्य-पाप के भाव का भी लक्ष्य छोड़ दिया है...परन्तु लक्ष्य छोड़ दिया कब कहलाए ? जब तीक्ष्णबुद्धि इस वस्तु भगवान आत्मा में अर्थात् त्रिकाली आनन्दधाम एकरूप द्रव्यस्वभाव में लगे, तब अपनी वर्तमानदशा का और पुण्य-पापभाव का लक्ष्य छोड़ दिया कहा जाता है और उसको यह आनन्दकन्द आत्मा उपादेय है।

बहुत सूक्ष्म विषय है। अरे! इसने यह अन्तर आत्मा की बात कभी सुनी नहीं और इस आत्मा की बात बिना की जो अन्य सब बातें हैं, वे तो थोथी (व्यर्थ) हैं।

यहाँ कहते हैं कि अरे भगवान! तेरी कायमी-असली चीज तो नित्य ध्रुवतत्त्व है। तू अनादि-अनन्त-अविनाशी वस्तु है। ऐसी चीज पर दृष्टि कब जाती है ? कि जब वर्तमान अवस्था-पर्याय और पुण्य-पाप से दृष्टि हटकर अर्थात् अंश से दृष्टि हटकर त्रिकाली अंशी — ऐसे द्रव्य में तीक्ष्णबुद्धि लगे, तब उसको उससमय यह आत्मा है — ऐसा स्वीकार होता है। भगवान! ऐसी सूक्ष्म बात है! अहा! तू अनन्तकाल से परिभ्रमण कर रहा है, उसमें ऐसा मनुष्यभव भी अनन्तबार मिला है; परन्तु धर्म क्या चीज है, इसका तुझे पता नहीं है। तू भले ही मानता हो कि हम धर्म करते हैं; परन्तु भाई! धर्म क्या चीज है, इसका तुझे पता नहीं है।

कहते हैं कि स्वद्रव्य ऐसे पूर्णानन्द प्रभु भगवान आत्मा में, अनन्त-आनन्द का धाम ऐसी अविनाशी चीज में, जिसकी तीक्ष्णबुद्धि लगी है, जिसने वहाँ बुद्धि जोड़ दी है — 'ऐसे आत्मा को 'आत्मा' वास्तव में उपादेय है।' उपादेय अर्थात् अपने आत्मा को

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अन्तरबुद्धि में अंगीकार किया, अपने त्रिकाली द्रव्य को स्वीकार किया तो 'आत्मा को आत्मा उपादेय हुआ' — ऐसा कहा जाता है और इसप्रकार आत्मा को उपादेय कहने से सम्यग्दर्शन और धर्म होता है। अरे! अभी तो यह बात समझने में पकड़ना भी कठिन है।

अहा...! **'ऐसे आत्मा को...'** गजब बात है भाई! यहाँ तो पाताल कुएँ में से पानी निकले तो 'पानी निकला' — ऐसा कहा जाता है। भगवान आत्मा अन्दर गहरा पाताल कुआँ है। वह अनन्त-आनन्द, अनन्तज्ञान और अनन्तशान्ति का भण्डार है। अत: जिसने अध्रुव और अनित्य ऐसी पर्याय का लक्ष्य छोड़कर, उस ध्रुव आत्मा में अपनी तीक्ष्णबुद्धि लगाई है, उसको 'आत्मा उपादेय है' — ऐसा कहा जाता है और वही तीक्ष्णबुद्धिवाला है। उसके अतिरिक्त जो सब दुनिया में चतुराईवाले कहलाते हैं, वे सब तो मूर्खाई बुद्धिवाले हैं।

भगवान! अन्दर तेरी चीज महाप्रभुरूप विराजमान है; परन्तु ऐसे आत्मा को किसने उपादेय किया कहलाये ? कि जिसकी बुद्धि वर्तमान अवस्था से हट गई है और ऐसे आत्मा में लगी है, उस आत्मा ने आत्मा अंगीकार किया होने से 'आत्मा उपादेय किया' कहा जाता है।

कहते हैं कि **ऐसे आत्मा को...**

प्रश्न — ऐसे आत्मा को (मुनि को) ही निश्चयसमकित होता है न ?

उत्तर — (नहीं।) ऐसा नहीं है। (निश्चयसमकित चौथे गुणस्थान में भी होता है।)

प्रश्न — परन्तु यहाँ तो 'ऐसे आत्मा को' इस शब्द का प्रयोग किया है न ?

उत्तर — वह तो टीकाकार स्वयं मुनि हैं, इसलिए अपनी दशा से बात की है। तो कहते हैं कि **ऐसे आत्मा को आत्मा वास्तव में उपादेय है** — ऐसे आत्मा को यह आत्मा अन्तरसन्मुखता की दशा में आदरणीय है अर्थात् उसको पूर्ण ध्रुव चैतन्य भगवान आत्मा का आदरभाव है।

टीका एकबार फिर से लेते हैं।

'यह हेय और उपादेयतत्त्व के स्वरूप का कथन है।' फिर हेय का अर्थ

करेंगे कि उपादेय नहीं है तो क्या आदरणीय नहीं है और क्या आदरणीय है, उसका यह कथन है।

जीवादि साततत्त्वों का समूह ...'शब्द तो जीवादि हैं'; परन्तु उसमें जीव अर्थात् जीव की एकसमय की पर्याय लेना अर्थात् पर्यायनय का जीव लेना। ऐसी एकसमय की पर्याय, अजीव, आस्रव, भावबंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष-पुण्य-पाप आस्रव में आ गये — ये साततत्त्व जो पर्यायरूप हैं, वे परद्रव्य होने के कारण...वे (साततत्त्व) त्रिकाली स्वद्रव्य में नहीं होने के कारण...अर्थात् ज्ञायकभावरूप त्रिकाली द्रव्यस्वभाव साततत्त्वरूप नहीं है। अहा! द्रव्यस्वभाव कहा है न! तो वह एकरूप त्रिकालीभाव स्वद्रव्य है और उसके सिवाय ये पर्यायें — संवर, निर्जरा और मोक्ष भी त्रिकालीभाव नहीं होने से उनको परद्रव्य कहा गया है।

अहा! 'जीवादि साततत्त्वों का समूह...' यह बात तो पहले की थी कि पाँचवीं गाथा में ऐसा आता है कि बहि:तत्त्व और अन्त:तत्त्व — ऐसा जो परमात्मा है, उसकी-उन दोनों की श्रद्धा करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है; परन्तु इसकारण कोई यहाँ भी वही अर्थ लेना चाहे तो वैसा अर्थ नहीं है; क्योंकि यहाँ तो सभी सातों ही तत्त्व पर्यायनय के भाग हैं। यहाँ जीव की एकसमय की पर्याय को जीव नाम दिया है अर्थात् यहाँ एकसमय की पर्याय को जीव कहा है, व्यवहारजीव को जीव कहा है; क्योंकि समस्त सातों ही तत्त्वों में व्यवहार के प्रकार लेना है न।

व्यवहारजीव और अन्य सभी तत्त्व पर्यायरूप हैं न! इसलिए जीव याने आत्मा की जो एकसमय की क्षायोपशमिक भाव की पर्याय है वह। क्षायोपशमिक भाव निगोद में भी है न! (इसलिए जीवरूप से क्षायोपशमिक भाव लिया है।) जबकि औदयिकभाव तो पुण्य-पापरूप आस्रव-बंध में जायेगा। अत: जो क्षायोपशमिक भावरूप विकास का अंश प्रकट है, उसको व्यवहारजीव कहा है अर्थात् पर्याय को जीव कहा है, यह जीव तत्त्व की बात हुई और 'आदि' याने अजीव, पुण्य-पापरूप आस्रवभाव, उनमें अटकना सो बंधभाव अथवा अबंधस्वभाव की अपेक्षा से ये (पुण्य-पाप) वह बंधभाव और संवर, निर्जरा, मोक्ष — मोक्षमार्ग और मोक्ष — ये सब पर्यायें हैं-अवस्था हैं और त्रिकाली स्वद्रव्य की अपेक्षा से इन सबको परद्रव्य कहा गया है। 'एक ओर राम और एक ओर गाँव।' एक तरफ त्रिकाल एकरूप ध्रुव ज्ञायकभावमय आतमराम और एक

www.vitragvani.com

ओर इन सात पर्यायों के समूहरूप गाँव। यहाँ साततत्त्वों का समूह कहा है न! (इसलिए वह गाँव है।) तत्त्व ऐसा सूक्ष्म है! वीतरागमार्ग ऐसा सूक्ष्म है!

तीर्थंकर सर्वज्ञ परमेश्वर ने तीनकाल और तीनलोक देखा है। सो उनकी वाणी में जैसा जीवद्रव्य कहा, वैसी यह जीववस्तु-जीवतत्त्व सो स्वद्रव्य है और उन्होंने पर्यायों को परद्रव्य कहा है। ऐसा भगवान की वाणी में आया है। वही बात यहाँ कह रहे हैं कि 'जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण...' कारण बताते हैं कि परद्रव्य होने के कारण...अहा! केवलज्ञान और मोक्ष-सिद्धदशा भी एकसमय की अवस्था है अर्थात् ये सब पर्यायें अंश...अंश...अंशरूप हैं; परन्तु वे कोई त्रिकालीगुण अथवा त्रिकाली द्रव्य नहीं हैं; इसलिए एकस्वभावरूप वस्तु जो भगवान आत्मा है, उसके अतिरिक्त जितने पर्याय के भेद हैं, उन सबको यहाँ परद्रव्य कहा है और वे परद्रव्य होने के कारण **'वास्तव में उपादेय नहीं हैं'** — ऐसा कहते हैं ?

सात तत्त्व उपादेय क्यों नहीं हैं ?

क्योंकि उनमें स्वद्रव्य नहीं आता। (इसलिए सातों तत्त्व परद्रव्य होने के कारण उपादेय नहीं हैं।) स्वद्रव्य याने क्या और परद्रव्य याने क्या ? अकेला परमस्वभावरूप ध्रुव चैतन्यदल भगवान आत्मा वह स्वद्रव्य है और वह एकसमय की दशा में नहीं आता, इसलिए उस स्वद्रव्य की अपेक्षा से इन सात पर्यायों को परद्रव्य कहा गया है।

पाठ में (गाथा में) 'हेय' शब्द है न! इसलिए टीका की शुरूआत करते हुए कहा कि 'यह हेय और उपादेयतत्त्व के स्वरूप का कथन है'; परन्तु फिर टीका में टीकाकार मुनिराज ने हेय है — ऐसा न कहकर यह कहा कि वास्तव में उपादेय नहीं है अर्थात् नजर करनेयोग्य नहीं हैं, आदरणीय नहीं हैं। नजर का (ज्ञान का) निधान ऐसा अखण्डानन्द प्रभु आत्मा उपादेय है, तो इस अपेक्षा से धर्मी जीव को ये सात पर्यायें आदरणीय-अंगीकार करनेयोग्य नहीं हैं।

प्रश्न — मोक्षमार्गप्रकाशक में तो यह कहा है कि संवर उपादेय है, निर्जरा हितकर है, बंध अहितकर है और मोक्ष परम हितकर है ? लो, वहाँ (नौवें अधिकार में) इस बात के समक्ष तो ऐसा कहा है ?

उत्तर — भाई! वहाँ तो दूसरी अपेक्षा है। प्रकट करनेयोग्य चीज (पर्याय) कौन

www.vitragvani.com

है, वह बताने की अपेक्षा से संवर को उपादेय, निर्जरा को हितकर और मोक्ष को परम हितकर कहा है और यहाँ आश्रय करनेयोग्य तत्त्व की अपेक्षा से उनको परद्रव्य कहकर हेय कहा है। सात तत्त्वों में हेयपना और उपादेयपना कहकर, उत्पन्न करनेयोग्य क्या है और व्यय करनेयोग्य क्या है ? यह बताने की अपेक्षा से उन्होंने (पण्डित टोडरमलजी ने) यह बात की है। जबकि यहाँ तो संवर-निर्जरा आदि उत्पन्न हुए हों तो भी उनके आश्रय से नयी धर्मदशा प्रकट नहीं होती (इस अपेक्षा से उन्हें परद्रव्य कहकर हेय कहा है)। लो ऐसी बात आई! किसको पता कहाँ से आती है ? (अन्तर में से आती है।)

अहा! अन्तर्मुख वस्तु भगवान आत्मा अन्त:तत्त्व है; क्योंकि '**जीवादिबहितच्चं**' है तो उसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा '**अंततच्चं**' है। अहा! यह तो वीतराग के जैनदर्शन के मक्खन की बातें हैं। इसमें तो (मुनिराज ने) तीर्थंकर का पेट (आशय) खोला है; परन्तु अभी अज्ञानी तो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभभाव को उपादेय मानकर अटक गया है। अज्ञानी यह सब व्रत, नियम, उपवासादि करता है; उसमें जो कुछ राग की मंदता होती है, उसको उपादेय मानता है। अरे! उसको तो अभी कहीं दूर जाना पड़ेगा! उसको कठोर लगेगा!

यहाँ तो कहते हैं कि जो संवर, निर्जरा, मोक्ष का मार्ग प्रकट होता है, वह भी आश्रय करनेयोग्य नहीं है; इसलिए उसको परद्रव्य कहकर हेय कहा गया है। अरे भाई! जन्म-मरण का चक्कर मिटाना है न! तो कहा था न!

रजकण तारा रखड़ से जेम रखड़ती रेत।
पछी नरभव पामीश क्यां चेत चेत नर चेत॥

भाई! पर्याय और राग की रुचि में तेरी महाचीज रह जाती है। अहा! सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव जैन परमेश्वर ने ज्ञान में जो देखा और वाणी द्वारा जो कहा, वह यह है कि भगवान! एकसमय की शुद्धपर्याय की और शुभरागादि की आड़ में, रुचि में तेरे चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का अनादर हो जाता है। तूने रागादि पामर को प्रभुता दे दी है, इसलिए तेरे भगवान आत्मा का अनादर होता है। अहा...! जब भगवान की वाणी में यह आता होगा और समवशरण में एकावतारी इन्द्र सुनते होंगे...

श्रोता — आप भी सुनते थे प्रभु!

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री — हाँ, परन्तु हमको (अभी उसका) विरह पड़ गया है न! उसकी तो यह बात चलती है। अहा! इस धान के ढ़ेर से जो शरीर बनता है, वह नहीं; परन्तु मणि-रत्न के पुतले जैसा वैक्रियक शरीर हो — ऐसी करोड़ों अप्सराएँ जिसके हैं तथा बहुत विमानों में असंख्यदेव हों — ऐसे ३२ लाख विमान जिसके घर में हैं — ऐसा अर्धलोक का स्वामी एकावतारी शकेन्द्र और ईशानेन्द्र भी भगवान की वाणी सुनता है। वे कहते है कि अरे! यह (वैभव) नहीं...नहीं...नहीं। हम तो कैसे हैं — यह सुनने के लिए भगवान के पास जाते हैं। लो, ज्ञानी भी सुनने जाते हैं — ऐसा कहना है। वे कितने दूर से ऊपर से नीचे उतरते हैं ? जबकि यहाँ यह (अज्ञानी) तो कदाचित् कोई ग्राहक आया हो और रुपया या अठन्नी मिलती हो तो यह सुनने से चूक जाता है (छोड़ देता है।); क्योंकि सुनने को तो हर रोज मिलता है न ? सुनने को तो कल भी मिलेगा, इसलिए कल जायेंगे — ऐसा करके प्रमाद करता है।

भगवान की वाणी में ऐसा आया है और अभी इन्द्र भगवान के पास जाते हैं न! तो उसमें (वाणी में) ऐसा आता है कि भाई! इस क्षायोपशमिक पर्याय का प्रकट अंश-तेरा अपना अंश व्यवहारजीव है। भाई! यहाँ जीवरूप से अर्थात् जीव को पर्यायरूप से यह क्षायोपशमिक पर्याय ली है; क्योंकि औदयिकभाव तो आस्रव और बंधतत्त्व में जाता है। निगोद के जीव को तीन भाव हैं न! (१) परमपारिणामिकभाव, (२) क्षायोपशमिकभाव और (३) औदयिकभाव — ये तीन भाव हैं। उनमें से औदयिकभाव विभाव में जाता है अर्थात् पुण्य-पाप, आस्रव और बंध में जाता है और जो क्षयोपशमज्ञान का अंश है-क्षायोपशमिकभाव है, वह आत्मा की एकसमय की पर्याय का भाव है। (इसलिए वह व्यवहारजीव है।) इसप्रकार —

- जीव अर्थात् एकसमय की क्षायोपशमिकभाव की पर्याय-अवस्था,
- अजीव,
- जो आस्रवरूप विकार है वह,
- बंध अर्थात् अटकना वैसा भाव है और
- आस्रव-बंध का अभाव होकर होनेवाले संवर, निर्जरा, मोक्ष — वे परद्रव्य हैं।

आस्रव-बंध का अभाव होकर संवर, निर्जरा और मोक्ष का उत्पाद होता है। वह सब

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

जीव की एकसमय की पर्याय में होता है। फिर भी कहते हैं कि वह परद्रव्य है। भगवान! तेरी पूँजी बड़ी है और उस महाप्रभु की पूँजी के समक्ष यहाँ सात पर्यायों के समूह को परद्रव्य कहा गया है। अहा! मति-श्रुतज्ञान का अंश हो, अरे! सम्यक्मति-श्रुतज्ञान का अंश लो तो भी वह परद्रव्य है।

भाई! मस्तिष्क में (विचार में) तो यह आया था कि पढ़ने-गिननेरूप जो क्षयोपशमज्ञान का अंश है, उसको तो परद्रव्य कहा; परन्तु सम्यग्ज्ञान को भी परद्रव्य कहा है। गजब बात है न! स्व के अवलम्बन से प्रकट हुआ, जो सम्यक्मति-श्रुतज्ञान अथवा केवलज्ञान है, उसको भी यहाँ परद्रव्य कहा गया है; क्योंकि वह अंशरूप है। मार्ग ऐसा है। भगवान! ऐसा ध्यान में तो रख! लक्ष्य में तो ले! बाहर दुनिया में भी ऐसा कहते हैं न कि मैं जो बात कहता हूँ उसे लक्ष्य में तो ले। तू विचार किये बिना यों ही इस बात को निकाल देता है तो अब मैं कहता हूँ, वह बात लक्ष्य में तो ले! इसीतरह भगवान कहते हैं कि हम कहते हैं, उस बात को जरा तेरी ज्ञान की पर्याय में लक्ष्य में तो ले!

कहते हैं — **'जीवादि साततत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण वास्तव में उपादेय नहीं है।'** गाथा में **'हेयम्'** शब्द है और टीका में भी पहला अर्थ तो हेय ही किया है; परन्तु फिर यह हेय है...हेय है — ऐसा कहने के बदले 'उपादेय नहीं है'-आदरणीय नहीं है — ऐसा अर्थ किया है। अहा! संवर, निर्जरा और मोक्ष भी आदरणीय नहीं है।

***प्रश्न* —** सात तत्त्वों में तो जीवतत्व भी आया है ? (तो क्या वह भी हेय है ?)

***उत्तर* —** यहाँ जीवतत्त्व याने एकसमय की पर्याय। यहाँ एकसमय की पर्याय को जीवतत्त्व कहा है; जबकि जो यह पूरा द्रव्य (ध्रुव) है वह भिन्न है, वह तो स्वद्रव्य में आयेगा।

अहा! जीवादि साततत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण वास्तव में उपादेय नहीं है — ऐसा कहा है न! टीका में है न कि **'जीवादिसप्ततत्त्वजातं परद्रव्यत्वात्र ह्युपादेयम्।'** अतः (१) जीव की एकसमय की क्षयोपशमज्ञान की पर्याय, (२) अजीव, (३) एक-समय का पुण्य और पाप का विकल्प अर्थात् वे दोनों होकर आस्रव जो कि औदयिकभाव हैं, वह (४) बंध, (५-६) संवर, निर्जरा — औपशमिकभाव और

www.vitragvani.com

क्षायोपशमिकभाव तथा (७) मोक्ष-केवलज्ञानादि क्षायिकभाव। इन समस्त पर्यायों का समूह वास्तव में परद्रव्य होने के कारण आदरणीय नहीं है।

इन्द्रिय के फैलाव की व्याख्या पूर्व में की थी। यह विचार तो बहुत समय पहले इस ३१वीं गाथा के अलावा (श्री समयसारजी की ३१वीं गाथा में कहे गये भाव के अलावा) आया था कि यह नग्नपना कहा है, वह क्या है ? नग्न कौन हो सकता है ? तब यह विचार आया था कि दृष्टि में तो इन्द्रिय निग्रहपना है; परन्तु अब जिसका स्थिरता में भी अस्थिरता छूटकर इन्द्रिय निग्रहपना हो गया है, उसको नग्नपना होता है। पाँच इन्द्रियों की ओर का अस्थिरता का विस्तार छूट गया है, इसलिए उसकी दशा ऐसी नग्न ही हो जाती है। यह विचार बहुत वर्षों पहले आया था। दृष्टि की अपेक्षा से तो पहले ही पाँचों इन्द्रियों का निरोध हो जाता है और वह तो सम्यग्दृष्टि को होता है अर्थात् ये पाँच जड़ इन्द्रियाँ तो पर हैं; परन्तु जो खण्ड-खण्ड इन्द्रिय (भावेन्द्रिय) है, जब उसका निग्रह होकर अतीन्द्रिय दृष्टि होती है, तब सम्यग्दर्शन होता है और वह तो चौथे गुणस्थान में होता है; परन्तु मुनि को यह नग्नपना याने क्या ? यहाँ फैलाव शब्द है न! इसलिए बहुत वर्षों पहले यह विचार आया था कि यह क्या कहते हैं ? कि जो चौथे गुणस्थान में ज्ञेयरूप से था, वह पाँच इन्द्रियों की ओर का अस्थिरता का भाव भी जिसके मिट जाता है, तब उसको नग्नदशा हो जाती है; फिर कोई (परिग्रह) नहीं रहता — ऐसी स्थिति है। वस्तु की स्थिति ही ऐसी है।

यहाँ कहते हैं कि वे (मुनि) पाँच इन्द्रियों से हट गये हैं। (टीकाकार) स्वयं मुनि हैं, इसलिए मुनिपने से बात करते हैं; परन्तु इसकारण सम्यग्दृष्टि का ध्येय इससे अलग हो — ऐसा नहीं है तथा ऐसा समकित मुनि को ही होता है — ऐसा भी नहीं है। वह तो टीकाकार स्वयं मुनिदशा में हैं, इसलिए मुनिपने से बात कर रहे हैं।

अब कहते हैं कि वे साततत्त्व उपादेय नहीं हैं, इसलिए मुनि उनसे (साततत्त्वों से) एकदम पूर्ण उदास हो जाते हैं। '**सहजवैराग्यरूपी महल के शिखर का जो शिखामणि है।**' मुनि, स्वाभाविक वैराग्यरूप जो विशाल महल है, उसके शिखर के ऊपर के रत्न समान हैं।

'**परद्रव्य से जो पराङ्गमुख है।**' इन साततत्त्वों को परद्रव्य कहा है न! इसलिए उनसे

जो पराङ्मुख है। **'पाँच इन्द्रियों को विस्ताररहित देहमात्र जिसे परिग्रह है।'** जिनको (मुनि को) खण्ड-खण्ड इन्द्रिय की एकताबुद्धि तो मिट गई है; परन्तु सम्यग्दृष्टि को जो ज्ञेयरूप अस्थिरता का भाव है, वह भी मिट गया है; इसलिए अब देह को किसी वस्त्र के टुकड़े से ढाँकना पड़े — ऐसा अब मुनि की स्थिति में होता ही नहीं। जिनको अस्थिरतारूप भी पाँच इन्द्रियाँ विस्तार नहीं पातीं और वे अतीन्द्रियस्वरूप में समा गये हैं। अहो! मुनि किसको कहते हैं ? जैन के मुनि तो ऐसे होते हैं।

अहा! मुनि को देहमात्र परिग्रह होता है-एक शरीर ही होता है; परन्तु वस्त्र का एक धागा भी नहीं होता। उनको धागा भी नहीं होने का कारण यह है कि पाँच इन्द्रियों की चंचलतारूप अस्थिरता भी मिट गई है, इसलिए सम्पूर्ण आत्मा में अतीन्द्रियपना प्रकट हो गया है। इसका नाम मुनि है; परन्तु अन्दर आत्मा का भान न हो और अकेला नग्न होकर घूमता हो तो वह मुनि नहीं है।

मुझे तो अन्दर से यह बात आई थी कि यह नग्नपना याने क्या ? मुनि को वस्त्र का एक भी टुकड़ा क्यों नहीं ? अहा! मुनि को अतीन्द्रियदशा हो गई है, इसलिए उनको किसी भी इन्द्रिय के भाग का ढाँकना हो ही नहीं सकता। उनकी समस्त इन्द्रियाँ खुल्ली हो गई हैं और ऐसे जैन के साधु होते हैं — ऐसा यहाँ कहते हैं।

छहढाला की छठवीं ढाल के ५वें छन्द में आता है न कि **'भूमाहि पिछली रयनि में, कछु शयन एकासन करन...'** अर्थात् मुनि को रात्रि के पिछले भाग में पौन सैकेण्ड एक आसन से निद्रा होती है। यदि उनको एक सैकेण्ड की निद्रा आ जाए तो मुनि का गुणस्थान (छठवाँ-सातवाँ) नहीं रहता। ऐसे मुनि को ऐसा आत्मा उपादेय है — यह यहाँ कहना है। उनको देहमात्र परिग्रह होता है। कल के प्रवचन में श्रीमद्जीकृत अपूर्व अवसर काव्य में से कहा था न कि **'मात्र देह वह संयम हेतु होय जब...।'** श्रीमद्जी ने स्वयं कहा है कि मुनि को देहमात्र निमित्त होती है बस! अहा! मुनि को निमित्तरूप एक देहमात्र परिग्रह रह जाता है; क्योंकि वह तो आयु पूर्ण हुए नहीं छूटती, जबकि शेष सब तो छूट जाता है।

'जो परमजिन योगीश्वर हैं।' परमजिन अर्थात् वस्तुस्वरूपमय पूर्णानन्द का नाथ त्रिकाली भगवान आत्मा और जिसकी उसमें जुड़ान की दशा उग्र हो गई है, वह परमजिन योगीश्वर है। लो, यह संत की-जैन के संत की व्याख्या! अहा! जैन के संत अर्थात्

www.vitragvani.com

सच्चे संत। उनके अतिरिक्त कहीं सच्चे संत नहीं हो सकते। जैन परमेश्वर की मुनिपने की विधि की रीति के अलावा अन्य कही सच्चे मुनि नहीं हो सकते।

प्रश्न — '**णमो लोए सव्वसाहूणं**' इसमें कहाँ कहा है कि जैन के ही साधु ? इसमें तो '**लोए सव्वसाहूणं**' है ?

उत्तर — अरे भगवान! तुझे पता नहीं है प्रभु! जैन कहते ही वह वस्तु का स्वरूप है। जिन्होंने सर्वज्ञकथित परमानन्द का धाम भगवान आत्मा को दृष्टि में लिया है और जो उसमें स्थिर हुए हैं, वे मुनि हैं। वह दशा जैन मुनि को ही होती है, अन्य को नहीं। अहा! यह तो संवर-निर्जरा की दशावाले मुनि कैसे होते हैं, उनकी बात करते हैं, पहिचान देते हैं और वह आत्मा, ऐसे आत्मा को (त्रिकाली ध्रुव को) उपादेय मानता है — ऐसा कहते हैं। वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। अरे! बिचारे लोगों को यह मार्ग सुनने को भी नहीं मिला है, इसलिए अन्यमार्ग को वीतराग जैनमार्ग मान बैठे हैं। भाई! श्रीमद्राजचन्द में आता है न कि 'लोग अन्यमार्ग को जैनमार्ग मानते हैं, इसलिए परम सत्य बाहर आने पर उनको सिर कट जाने जैसा हो जाता है।' (वर्तमान स्थिति का बोल) एक परमसत्य बाहर आने पर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि हाय! हाय!! यह तो अपना सब छूट गया! परन्तु भाई! ऐसा नहीं है। प्रभु! वस्तुस्थिति क्या है, तुझे इसका पता नहीं है।

अहा! सर्वज्ञ परमेश्वर ने जैसा आत्मस्वरूप देखा है, वैसा वह है। ऐसे आत्मस्वभाव में अर्थात् परम-आनन्द का धाम 'भगवान' आत्मा में...यह भगवान अर्थात् स्वयं आत्मा ही भगवान है, अन्य भगवान की बात यहाँ नहीं है। इस गाथा की टीका की अन्तिम पंक्ति में भी कहा है कि 'निजपरमात्मा' अर्थात् अपना परमात्मा-आत्मा। अखण्ड और पूर्ण ज्ञानानन्द का धाम जो अपना आत्मा है, वह निजपरमात्मा है। अन्य जो भगवान हो गये हैं, वे तो परद्रव्य हैं और परद्रव्यरूप ही रहते हैं। वे तो उनके स्वयं के हित के लिए भगवान हुए हैं, उसमें इस जीव का क्या हित हुआ ? तो, कहते हैं कि अन्दर में अपना जो वीतरागमूर्तिमय आत्मा है, वह निजपरमात्मा है और ऐसे निजपरमात्मा में परमजिनयोगीश्वर है अर्थात् जिसने अन्तर में दृष्टि और स्थिरता जोड़ दी है, वह परमजिनयोगीश्वर है। जिसने अन्दर में पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा में योग को जोड़ दिया है, उसको योगी कहा जाता है; परन्तु बाहर में जो बाबा आदि योगी कहलाते हैं, वे सच्चे योगी नहीं हैं तथा यहाँ तो मुनियों को योगियों में भी ईश्वर (योगीश्वर) कहते हैं।

क्यों ?

क्योंकि जिन्होंने अन्दर से आत्मा का योग साधा है, वे चौथे गुणस्थानवाले समकिती भी योगी हैं तथा पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक भी योगी हैं। ये बाड़ा के (सम्प्रदाय के) श्रावक कोई सच्चे श्रावक नहीं हैं। ये तो थैली में हो चिरायता और ऊपर लिखा हो शक्कर — ऐसे हैं; परन्तु इससे कहीं चिरायता मीठा हो जाता है ?

प्रश्न — यह हम सब श्रावक हैं न ?

उत्तर — बापू! श्रावक का मुँह बड़ा है। वह श्रावकपना कोई सम्प्रदाय की क्रिया से नहीं आता। जिसने परमानन्द की मूर्ति भगवान आत्मा में योग को विशेषपने जोड़ दिया है, वह श्रावक है और जिसने अन्दर में योग को बहुत विशेषरूप से जोड़ दिया है, वे मुनि हैं, वे जिनयोगीश्वर हैं, योगियों में भी ईश्वर हैं।

'**स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्णबुद्धि है।**' देखो! वीतराग जिनपरमेश्वर द्वारा केवलज्ञान में देखे गये सच्चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा को/स्वद्रव्य को पकड़ने में जिसकी तीक्ष्णबुद्धि है — ऐसा कहते हैं। जैसे मोती चिमटी से पकड़ा जा सकता है; परन्तु सँडसी से नहीं पकड़ा जा सकता, सँडसी से सर्प पकड़ा जा सकता है। क्या सँडसी से मोती पकड़ा जा सकता है ? इसीप्रकार भगवान आत्मा को पकड़ने के लिए तीक्ष्णबुद्धि चाहिए।

भगवान माने कौन ?

स्वयं आत्मा। देखो न! 'स्वद्रव्य' ऐसा आया न! तो स्वद्रव्य अर्थात् स्वयं भगवान आत्मा। पूर्णानन्द का नाथ अखण्ड वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा वह स्वद्रव्य है और ऐसा स्वद्रव्य है, उसमें '**जिसकी तीक्ष्णबुद्धि है — ऐसे आत्मा को**' जिसने ज्ञान की तीक्ष्ण-बुद्धि से आत्मा में जुड़ान कर दिया है, जिसने सम्पूर्ण आत्मा को पकड़ा है — ऐसे आत्मा को 'आत्मा वास्तव में उपादेय है।'

प्रश्न — उपादेय तो पर्याय हुई न ? क्योंकि पर्याय द्वारा आत्मा उपादेय होता है न?

उत्तर — भाई! पर्याय उपादेय नहीं है; परन्तु पर्याय द्वारा ऐसा आत्मा उपादेय है। पर्याय को तो परद्रव्य कहा था न! (सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण....) इसलिए पर्याय उपादेय नहीं है। बापू! यह तो अन्तर का प्याला है। अहा! स्वयं भगवान

www.vitragvani.com

आत्मा स्वद्रव्य है और उसमें जिसकी तीक्ष्णबुद्धि है — ऐसे आत्मा को यह आत्मा उपादेय है। कोई इस कथन में से ऐसा अर्थ निकाले कि देखो! ऐसे आत्मा को (मुनि को) आत्मा उपादेय है — ऐसा कहा है, इसलिए यहाँ चौथे गुणस्थानवाले की बात कहाँ है ? तो ऐसा नहीं है। अरे भाई! सुन प्रभु! यह तो टीकाकार स्वयं मुनिदशा में स्थित हैं, इसलिए उस भूमिका से बात करते हैं। वरना तो सम्यग्दर्शन में भी, श्रावक और मुनि हुए पूर्व चौथे गुणस्थान की दशा में भी प्रथम में प्रथम जैन हो, तब भी यही रीति होती है।

जैन अर्थात् ?

जिसने राग और अज्ञान को जीतकर स्वरूप में जुड़ान किया है, वह जैन है और ऐसा सम्यग्दृष्टि भी तीक्ष्णबुद्धि से आत्मा को ही पकड़ता है। उसको भी यह आत्मा ही उपादेय है; परन्तु अन्य कुछ उपादेय नहीं है। भाई! ऐसी अद्भुत बात है।

***प्रश्न* —** इसमें दया पालना, कन्दमूल नहीं खाना, उपवास करना, रात्रिभोजन नहीं करना — ऐसी बातें तो कुछ आई ही नहीं ?

***उत्तर* —** भाई! ये सब तो राग की मन्दता की बातें हैं। सुन! ये कोई धर्म नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि ऐसे आत्मा को ऐसा आत्मा उपादेय है। वह उपादेयभूत आत्मा कैसा है — यह बात आगे कहेंगे। यद्यपि सामान्यरूप से बात की है कि 'स्वद्रव्य...' तीक्ष्णबुद्धिवाले आत्मा को यह स्वद्रव्य अर्थात् उपादेयभूत आत्मा '**वास्तव में उपादेय है।**' वह आत्मा ही आदरणीय है, उसी में दृष्टि करनेयोग्य है और उसमें ही दृष्टि का फैलाव करने योग्य है। भाई! यह बात अद्भुत है।

'औदायिकादि चार भावान्तरों को अगोचर होने से...'

कहते हैं कि जो पारिणामिकस्वभावरूप परमभाव ध्रुवभाव है, वह आत्मा है और उससे अन्य (भिन्न) जो औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक — ये चार पर्यायरूप भाव हैं, वे अन्यभाव हैं। जो वास्तविक भगवान आत्मा है, वह परमपारिणामिक स्वभावरूप ध्रुवभाव, नित्यभाव और निजभाव है। जबकि उससे भिन्न जो ये औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव हैं, वे अन्यभाव हैं। आशय यह है कि ध्रुवभाव निजभाव है तो ये चार भाव अन्यभाव हैं। अरे! औदयिकभाव अन्यभाव है यह

तो ठीक; परन्तु क्षायिकभाव भी पारिणामिकभाव से भिन्न होने से अन्यभाव है। जिनको पहले परद्रव्य कहा था, अब उनको ही अन्य भाव कहा है। अहा! अलग-अलग प्रकार से स्पष्टीकरण होवे तो शास्त्र में जो सब भाव हैं (कहने का आशय है) वह ख्याल में आ जाता है।

यहाँ कहते हैं कि यह (आत्मा) चार भावों से रहित है और वे आत्मा से भिन्न हैं अर्थात् परमभावमय आत्मा चार भावों से रहित है और चार भाव परमभावमय आत्मा से भिन्न हैं।

फुटनोट में स्पष्टीकरण है — '**भावान्तर-अन्यभाव।**' टीका में भावान्तरों शब्द है न! तो भावान्तर याने त्रिकाली भगवानरूप आत्मभाव से अन्य (भिन्न) भाव। फिर भले ही वह पर्याय क्षायिकभावरूप होवे तो भी अन्य भाव है, आत्मभाव से अन्यभाव है अर्थात् अन्यभाव का अस्तित्व अलग जाति का है और आत्मभाव का अस्तित्व अलग जाति का है।

अभी फुटनोट में ही स्पष्टीकरण है कि '**औदयिक**' जो पुण्य-पाप के विकल्प हैं, वे औदयिकभाव हैं और वे परमपारिणामिकभावरूप स्वद्रव्य से अन्यभाव हैं। '**औपशमिक**' समकित और चारित्र, यह धर्मपर्याय है और वह भी परमपारिणामिकभाव से अन्यभाव है। '**क्षायोपशमिक**' ज्ञान, समकित, चारित्र आदि और वह भी त्रिकालीभाव से अन्य भाव हैं और '**क्षायिक**' केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य आदि और वह भी त्रिकाली द्रव्य से अन्यभाव हैं। '**ये चार भाव परमपारिणामिकभाव से अन्य होने के कारण....**' परमपारिणामिकभाव अर्थात् सहजस्वरूप। आत्मा त्रिकाल सहजस्वरूप है, जबकि ये चार भाव तो प्रकट हुए हैं। इसलिए, '**परमपारिणामिकभाव से अन्य होने के कारण उनको भावान्तर कहा है।**' उन चार भावों को अन्यभाव के अर्थ में भावान्तर कहा है। '**परमपारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है — ऐसा कारणपरमात्मा इन चार भावान्तरों को अगोचर है।**' आशय यह है कि इन चार भावान्तरों के आश्रय से वह परमपारिणामिकभाव ज्ञात होनेयोग्य नहीं है, किन्तु परमपारिणामिकभाव का आश्रय करने पर ही वह ज्ञात होता है — ऐसा यहाँ कहना है।

'अगोचर' क्यों कहा ?

भाई! वह परमपारिणामिकभाव है तो औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव

www.vitragvani.com

के गम्य; परन्तु उन भावों के आश्रय से परमपारिणामिकभाव गम्य नहीं होता; इसलिए अगोचर कहा है — ऐसा कथन का अर्थ समझना चाहिए।

कहते हैं — **'चार भावान्तरों को अगोचर होने से जो (कारणपरमात्मा)'** त्रिकाली भगवान आत्मा **'द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधि से जनित.......'** द्रव्यकर्म अर्थात् जड़ आठ कर्म, भावकर्म अर्थात् विकल्प आदि और नोकर्म अर्थात् शरीर और वाणी। इनसे जनित **'विभाव गुणपर्यायों से रहित है।'** कारणपरमात्मा विभाव गुण-अवस्थारहित है अर्थात् दशाओं के जो समस्त प्रकार हैं, वे कारणपरमात्मा में नहीं हैं। यह बात तो गाथा में ही है न! देखो, तीसरे पद में है कि **'कम्मोपाधिसमुब्भव-गुण-पज्जाएहिं वदिरित्तो।**

गाथा में समागत इस पद में **'गुणपज्जाएहिं'** का अर्थ गुण की पर्याय है, कर्म की उपाधि से उत्पन्न हुई अवस्था है और उसका समावेश चार भावों में किया है। कहा है न कि औदयिकादि चार भावान्तरों को....त्रिकाल शुद्ध परमस्वभावभाव वह स्वभाव है और उसकी अपेक्षा से ये चारों भाव अन्यभाव हैं अर्थात् द्रव्य के भाव से पर्याय के भाव अन्यभाव हैं। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — ये पर्याय/अवस्था के भाव अन्यभाव हैं; जबकि परमपारिणामिकभाव, स्वद्रव्य का त्रिकाली स्वभाव है। इसमें तो देव-गुरु से धर्म होता है, यह बात भी नहीं रही और देव-गुरु की भक्ति करने से धर्म होता है, यह बात भी नहीं रही। जबकि कितने ही ऐसा कहते हैं कि गुरु को पकड़ो, उनको मानने से अपना मोक्ष हो जाएगा। भगवान कहते हैं कि तेरी यह बात मिथ्या है; क्योंकि तेरा गुरु तू ही है। तेरा आत्मा ही तेरा गुरु और शिष्य है। बाहर के गुरु तो व्यवहार से कहे जाते हैं। भाई! काम बहुत कड़क है।

यहाँ कहते हैं कि औदयिक याने पुण्य-पाप का विकल्प; दया, दान, पूजा, भक्ति का भाव अर्थात् राग है, वह औदयिकभाव है।

औपशमिकभाव किसको कहते हैं ?

जैसे पानी में कादव हो और कादव (कीचड़) के रजकण नीचे बैठ जाएँ तो पानी शुद्ध होता है, उसीप्रकार कर्म के उदय अन्दर मन्द पड़ जाएँ-बैठ जाएँ तो औपशमिकभाव होता है। यद्यपि वह भाव है धर्म की पर्याय, तथापि वह अवस्था है; इसलिए औपशमिकभाव भी त्रिकाली ज्ञायकभाव से अन्यभाव है। इसीप्रकार क्षायोपशमिकभाव

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

भले ही सम्यग्ज्ञान या दर्शनादि का हो, तो भी वह क्षायोपशमिकभाव-अवस्था त्रिकाली अन्तःतत्त्वरूप प्रभु ज्ञायकभाव से अर्थात् निजस्वरूपमय परमात्मभावरूप स्वद्रव्य से अन्यभाव है। भावान्तर याने अन्यभाव, स्वभाव से अन्यभाव। भगवान आत्मा त्रिकालीभाव है, यह क्षायोपशमिकभाव उससे अन्यभाव है। भाई! अहा! अभी तो यह क्या कहते हैं, वह पकड़ना भी कठिन पड़े वैसा है; क्योंकि अन्तर में बाहर के बहुत से मिथ्या अभिप्राय होते हैं न! जिसने बाहर के मिथ्या अभिप्राय को न पकड़ा हो, उसको यह सब समझना सरल पड़ता है; परन्तु जो यह मानता हो कि मैं तो बड़ा बैरिस्टर हूँ, मुझे भाषण करना आता है इत्यादि तो उसको यह समझना कठिन पड़ता है।

यहाँ कहते हैं कि स्वद्रव्य ऐसे आनन्दकन्द ध्रुवमय परम निजपरमात्मा की अपेक्षा से यह ज्ञान, समकित, चारित्र आदि का क्षायोपशमिकभाव अन्यभाव है और क्षायिकभाव भी अन्यभाव है; क्योंकि वे एकसमय की पर्याय हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व, यथाख्यातचारित्र तथा अपने स्वरूप के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य — ऐसे क्षायिकभाव के नौ बोल (भेद) आते हैं न! अपनी पर्याय में अपना दान-आनन्द का दान, आनन्द का लाभ, आनन्द का अनुभव, आनन्द का बारम्बार अनुभव और वीर्य इत्यादि सब क्षायिकभाव की पर्याय एकसमय की दशा है, इसलिए त्रिकाली भगवान आत्मा की अपेक्षा से उसको परभाव कहा है। टीका में कहा है कि 'औदयिक आदि चार भावान्तरों को' सो भावान्तरों अर्थात् अन्यभाव।

किससे अन्य ?

त्रिकाली ज्ञायकभाव से, ध्रुवभाव से अन्यभाव और उन अन्य पर्याय को अर्थात् अन्य भाव से ध्रुव भाव अगोचर है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन चार पर्यायों के आश्रय से आत्मा अनुभव में नहीं आता। यद्यपि औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव को तो आत्मा गम्य ही है; परन्तु यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि जो पर्याय है, उसके आश्रय से परमपारिणामिकभाव का अनुभव नहीं होता। त्रिकाली भगवान आत्मा में अन्तरसन्मुख होने पर ही आत्मा का अनुभव होता है, इतनी बात यहाँ सिद्ध करनी है।

अहा! यह शरीर तो हड्डी 'जड़' पर-अजीव है, यह कोई आत्मा नहीं है। इसीप्रकार वाणी भी अजीव है, आत्मा नहीं और कर्म भी अजीव है, आत्मा नहीं। अब कहते हैं कि पुण्य-पाप के विकल्प भी आत्मा नहीं हैं; क्योंकि वे औदायिकभाव हैं और अन्दर

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव की जो पर्याय प्रकट होती है, वह भी एकसमय की दशा होने से आत्मा नहीं है। भगवान आत्मा तो त्रिकाल अखण्ड आनन्द का पुंज ध्रुव प्रभु है और उसकी अपेक्षा से इन चारों भावों को अन्यभाव कहा गया है तथा यह भी कहा गया है कि भगवान आत्मा उन भावों को अगम्य है।

'उन भावों को भगवान आत्मा अगम्य है' — इसका अर्थ क्या है ?

कि उन भावों से भगवान आत्मा गम्य तो है; परन्तु चारप्रकार के उन पर्यायरूप भावों के आश्रय से परमपारिणामिकभाव का अनुभव नहीं होता — ऐसा कहना है।

श्रोता — यह बात तो बहुत अटपटी है ?

पूज्य गुरुदेवश्री — परन्तु भाई यह बात लॉजिक (न्याय) से तो आती है। ऐसा तो नहीं है कि बिना समझे इस बात को मान लेना; परन्तु तू कभी वस्तुस्वरूप के पड़खे नहीं आया है, इसलिए तुझको अटपटी लगती है। तू कभी सत् के पड़खे (पक्ष में) आया ही नहीं है और बिना समझे यों का यों असत्य के पक्ष का सेवन करके, जिन्दगी पूरी करके चौरासी के अवतार में चला जाता है।

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा में दो अंश हैं। (१) अनादि-अनन्त ध्रुव अंश और (२) वर्तमान पर्याय का अंश, जो चार पर्यायरूप भाव है वह। सो उस पर्याय के आश्रय से आत्मा का अनुभव नहीं होता; बल्कि त्रिकाली ध्रुव के आश्रय से आत्मा का अनुभव होता है; इसलिए उन चार भावों से आत्मा को अगम्य कहा गया है। यों औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव को तो आत्मा गम्य है; परन्तु उसका अनुभव औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव के आश्रय से नहीं होता। तात्पर्य यह है कि उन भावों का आश्रय करे और आत्मा का अनुभव हो — ऐसा नहीं होता।

प्रश्न — यह सब तो अकेली निश्चय की बातें हैं; परन्तु उसके प्राप्ति का कोई साधन होगा या नहीं ?

उत्तर — सुन! यह (निश्चय) ही एक साधन है। भाई! तुझको यथार्थ साधन का पता ही नहीं है।

प्रश्न — आपकी बात तो सत्य है; परन्तु उसका साधन क्या है ? गुरु की भक्ति करना, उनको मानना इत्यादि — ऐसा कोई साधन है न ?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

***उत्तर* —** भाई! यति का स्वांग भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है, इसलिए वह साधन नहीं है। (प्रवचनसार गाथा १७२ अलिंगग्रहण बोल नं. १७) अलिंगग्रहण में आता है कि स्वरूप में यति का बाहर का वेष अर्थात् नग्नपना और विकल्प आदि नहीं है। अर्थात् यति का वेष और बाह्यक्रियायें, जो पंचमहाव्रत का विकल्प आदि है, वे आत्मवस्तु में नहीं हैं; क्योंकि वह सब तो राग है। तदुपरान्त यहाँ तो कहा है चार पर्यायरूप भावों को आत्मा अगम्य है। 'अगम्य' का इतना ही अर्थ है कि चार पर्यायरूप भावों के आश्रय से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आत्मा का ज्ञान तो आत्मा के आश्रय से ही होता है और इस अपेक्षा से उन चार भावों को आत्मा अगोचर है — ऐसा कहा है। वरना तो औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव को आत्मा गम्य है।

अहा! ऐसा वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म पड़ता है, इसलिए लोगों ने दया पालो, पूजा करो, यात्रा करो और नग्न हो जाओ इत्यादि क्रियाओं में धर्म मान लिया है; परन्तु मूलमार्ग के बिना कल्याण नहीं होता। अरे! भ्रम ने जगत को मार दिया है। अरेरे! जगत की भ्रमणा का पार नहीं है। अहा! तीनलोक का नाथ ऐसा स्वयं एकसमय में विराजमान है; फिर भी उसके सन्मुख नहीं देखता और परसन्मुख देखकर इसको (अज्ञानी को) अपना कल्याण करना है। यहाँ तो कहा है कि पर्याय के, जो कि परद्रव्य हैं, उसके सन्मुख देखने से भी कल्याण नहीं होता। (तब पर के सन्मुख देखने से कल्याण की बात तो सोचना भी मूर्खता है।)

यह आत्मा कहो, कारणपरमात्मा कहो या कारणजीव कहो या निजपद कहो, सब एक ही है। देखो, यहाँ यही कहते हैं कि '**जो (कारणपरमात्मा)**' स्वयं त्रिकाली आत्मा '**द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधि से............**' द्रव्यकर्म अर्थात् ज्ञानावरणादि आठ कर्म जो कि जड़, अजीव हैं। भावकर्म अर्थात् दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति आदि का विकल्प उत्पन्न होता है, वह और वह भी उपाधि है। देखो, कहा है न — 'भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधि से...' तो भावकर्म भी उपाधि है न ? तीनों ही कर्म उपाधि हैं।

(१) आठ जड़कर्म उपाधि हैं।

(२) दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के विकल्प का उत्पन्न होना अथवा परोपकारादि की वृत्ति उत्पन्न होना भी उपाधि है अर्थात् भावकर्म विकारीभाव भी उपाधि है और

(३) नोकर्म अर्थात् शरीरादि भी उपाधि है।

www.vitragvani.com

जो यह सब शरीर की क्रिया होती है, वह नोकर्म की, जड़ की क्रिया है; वह कोई आत्मा की क्रिया नहीं है और आत्मा उसको कर भी नहीं सकता। अतः ऐसी उपाधि से.......तीनों कर्म को उपाधि कहते हैं। जड़कर्म उपाधि है, भावकर्म उपाधि है और शरीरादि नोकर्म भी उपाधि है। अरे! जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, वह भाव भी उपाधि है। गजब करते हैं न!

आत्मा ऐसी '**उपाधि से जनित विभावगुण-पर्यायों से रहित है।**' विभाव अर्थात् विशेषरूप विकारादि या पर्यायादि और त्रिकालीद्रव्य ऐसी विकारी या अविकारी पर्यायों से रहित है।

अब आत्मा की बात करते हैं कि '**अनादि-अनन्त.....**' जो वस्तु भगवान आत्मा है, वह तो आदि-अन्तरहित वस्तु है। है, है और है। क्या वस्तु की उत्पत्ति होती है ? क्या जो सत् है, उसकी उत्पत्ति होती है ? (नहीं होती।) इसलिए सत् स्वरूप आत्मा अनादि का है। उसको उत्पन्न करनेवाला कोई ईश्वर नहीं है। ऐसा त्रिकाल में संभव भी नहीं है। अहा! वस्तु है वह सत् है और सत् अनादि का होता है अर्थात् आदि रहित होता है; इसलिए अन्दर भगवान आत्मा अनादि से है, उसकी आदि नहीं है तथा अनन्त है। उसका भविष्य में विनाश होनेवाला नहीं है। सत् उत्पन्न कैसे हो ? और सत् का विनाश कैसे हो ? सत् तो त्रिकाल सत् ही रहता है।

यहाँ जो एकसमय की पर्याय और विकार से रहित है, उस भगवान आत्मा की बात चलती है और वह अनादि-अनन्त है। अनादि=अन्+आदि और अनन्त=अन्+अन्त। कितने ही ऐसा कहते हैं कि भगवान ने आदि नहीं जानी तो उतना ज्ञान अपूर्ण रहा न ? अरे भगवान सुन! जो है...है...है...उसकी जहाँ आदि है ही नहीं तो फिर उसकी आदि लाना कहाँ से ? आत्मा कब नहीं था ? अर्थात् वह किस काल में, किससमय में नहीं था ? क्या वह नया हुआ है कि जिससे उसके पहले वह नहीं था ? (वह तो अनादि से था और अनन्तकाल तक रहेगा।)

अनादि-अनन्त भगवान आत्मा '**अमूर्त**' है। रूप-रंग, रस, गंध, स्पर्श उसमें नहीं है और ऐसा वह आत्मा '**अतीन्द्रियस्वभाववाला है।**' देखो! अतीन्द्रियस्वभाववाला — ऐसा कहा है न ? अर्थात् उसका तो अतीन्द्रियस्वभाव है; इसलिए वह इन्द्रियों से या विकल्प से पकड़ में नहीं आ सकता।

'**शुद्ध**' — प्रभु आत्मा शुद्धता का पिण्ड है। '**सहज**' — स्वाभाविक है। '**परम-पारिणामिकभाव**' — उसको कुछ भी निमित्त की उपस्थिति की अथवा निमित्त के अभाव की अपेक्षा नहीं है। वह त्रिकाली तत्त्व ऐसा है। पुण्य-पाप के औदयिकभाव में कर्म के निमित्तपने की उपस्थिति की अपेक्षा है और संवर-निर्जरा-मोक्ष में कर्म के निमित्तपने के अभाव की अपेक्षा है। जबकि यह त्रिकाली आत्मतत्त्व तो अपेक्षारहित (निरपेक्ष) है। वह है...है.... और है। तो ऐसा '**अनादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाव-वाला शुद्ध-सहज-परम-पारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है....**' परमपारिणामिकभाव अर्थात् सहजस्वरूप, त्रिकाली सहजभाव की अस्ति और वह आत्मा का स्वभाव है। '**ऐसा कारणपरमात्मा.....**' ऐसा त्रिकाली कारणपरमात्मा '**वह वास्तव में आत्मा है।**' उसको वास्तविक-निश्चय आत्मा कहते हैं। एकसमय की पर्याय व्यवहार आत्मा है, जबकि यह कारणपरमात्मा वास्तविक आत्मा है और वह उपादेय है।

कैसा आत्मा आदरणीय अथवा अनुभव करनेयोग्य है ? कि जो अनादि-अनन्त है। ध्रुव वस्तु है, वह आदि-अन्तरहित वस्तु है। अमूर्त है, जिसमें वर्ण, रस, गंध, स्पर्श नहीं है। जो अतीन्द्रिय स्वभाववाला है, उसका अतीन्द्रियस्वभाव है। उसका इन्द्रियस्वभाव नहीं है अर्थात् वह इन्द्रियस्वभाव से ज्ञात नहीं होता तथा 'शुद्ध-सहज-परमपारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है....' शुद्ध=पवित्र, सहज=स्वाभाविक, परमपारिणामिकभाव=वस्तु की स्थिति, अस्तिरूपभाव — ऐसा जिसका स्वभाव है। '**ऐसा कारणपरमात्मा वह वास्तव में आत्मा है**' और वह आदरणीय व अनुभव करनेयोग्य है। पर्यायें वास्तव में आत्मा नहीं हैं — ऐसा है।

***प्रश्न* —** पर्याय किसकी है ? उसकी (आत्मा की) नहीं ?

***उत्तर* —** भाई! पर्याय है; परन्तु ध्रुव में नहीं है। भले ही जीवादि सातप्रकार कहे हैं; परन्तु आत्मा में वे जीवादि (सातप्रकार) नहीं हैं और उन जीवादि संबंधी ज्ञान तथा विकल्प भी आत्मा में नहीं है; क्योंकि आत्मवस्तु तो अखण्ड आनन्दकन्दमय ध्रुव प्रभु है। जिसका स्वभाव अकेला आनन्दरसकन्द ऐसा तत्त्व है। अर्थात् त्रिकाल....... त्रिकाल...... त्रिकाल.......ऐसा जिसका स्वभाव है, उसको कारणपरमात्मा कहते हैं और **वह वास्तव में आत्मा है।** लो, निश्चय से तो वह आत्मा है, जबकि पर्याय तो व्यवहार आत्मा है। मोक्ष की पर्याय भी व्यवहार आत्मा है — ऐसी बात है। यह शुद्धभाव अधिकार है न!

www.vitragvani.com

तो शुद्धभाव याने यह कारणपरमात्मा। यहाँ शुद्धभाव से शुद्धपर्याय अथवा शुद्धोपयोग, जिसको (समयसार गाथा १५ में) जैनशासन कहा है, उसकी बात नहीं है। अहा! जैन-शासन अर्थात् यह त्रिकाली तत्त्व शुद्धपर्यायरहित है और उसके आश्रय से जैनशासन प्रकट होता है — ऐसा यहाँ कहते हैं। जिस शुद्धोपयोग-भावश्रुतज्ञान को (समयसार में) जैनशासन कहा है, यह त्रिकाली वस्तु तो उस पर्याय से भी रहित है और उसके आश्रय से जैनशासन प्रकट होता है; इसलिए वह 'वास्तव में आत्मा है।'

'**अति-आसन्न भव्यजीवों को........**' अहो! जिनकी मुक्ति समीप है, जो संसार के किनारे आ गये हैं — ऐसे अति-आसन्न भव्यजीवों को '**निजपरमात्मा के अतिरिक्त...**' अर्थात् जिसको कारणपरमात्मा कहा है, जिसको वास्तव में आत्मा कहा है, जिसको सहज-शुद्ध-परमपारिणामिकभाव कहा है और जिसको अतीन्द्रियस्वभाववाला कहा है — '**ऐसे निजपरमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है।**' अहा! जैनशासन की पर्याय भी उपादेय नहीं हैं — ऐसा यहाँ कहते हैं। लो, मोक्षमार्ग भी उपादेय नहीं है अर्थात् जो पर्याय द्रव्य को उपादेय करती है, वह पर्याय भी उपादेय नहीं है; परन्तु वस्तु उपादेय है — ऐसा कहते हैं। अहा! अति आसन्न भव्यजीवों को ऐसे निजपरमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है।

पहले अजीवतत्त्व की व्याख्या आई थी न! तो 'अजीवतत्त्व में' बाह्य अजीवतत्त्व (द्रव्य) लेना हों तो लिए जा सकते हैं अथवा जीव के ज्ञान में-ख्याल में अजीवतत्त्व आता है न! तथा अजीव संबंधी विकल्प भी उत्पन्न होता है न! तो उस (अजीव संबंधी) ज्ञान और विकल्प को भी अजीवतत्त्व कहा जाता है। समयसार की ९५वीं गाथा में (जयसेनाचार्यकृत टीका में) आता है कि 'धर्मास्तिकाय मेरा है' — ऐसा एकत्व अज्ञानी को क्यों होता है ? क्योंकि उसको धर्मास्तिकाय तो दिखता नहीं ? भाई! धर्मास्तिकाय संबंधी जो विकल्प और उसका ज्ञान है, उसे भी 'धर्मास्तिकाय' कहा जाता है। उपचार से बात है न! जैसे कि घटाकार परिणमित ज्ञान 'घट' कहलाता है। यह दृष्टान्त ९५वीं गाथा में आया है। वस्तुतः ज्ञान तो ज्ञान ही है; परन्तु घट को जाननेवाले ज्ञान को घट कहा जाता है।

यहाँ तो कहते हैं कि अति-आसन्न भव्यजीवों को अर्थात् अल्पकाल में जिनकी मुक्ति है, उनको आत्मा उपादेय है; परन्तु इस कथन का यह आशय नहीं है कि दूसरों को अन्य तत्त्व उपादेय हैं। हाँ, अज्ञानी अनादि से अन्य को उपादेय मानता है; परन्तु वह

www.vitragvani.com

तो उसकी मिथ्यामान्यता है। निमित्त उपादेय है, राग उपादेय है, एकसमय की पर्याय उपादेय है — ऐसा तो अज्ञानी मानता है; परन्तु उसकी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो अति-आसन्न भव्य कहने से, अल्पकाल में जिनकी मुक्ति है, दो-चार भव में जिनकी मुक्ति है, उनको इस निजपरमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है।

***प्रश्न* —** भव्य कहने से, उसमें मोक्ष जानेवाले सभी जीव समाहित हो जाते हैं, फिर यहाँ 'अति-आसन्न भव्यजीवों' — ऐसा क्यों कहा है ?

***उत्तर* —** हाँ, भव्य कहने से उसमें मुक्ति जानेवाले सभी समाहित हो जाते है; परन्तु यहाँ अत्यन्त नजदीक में मोक्ष जानेवाले जीव लेना हैं, इसलिए कहते हैं कि अति-आसन्न भव्यजीवों को ऐसा आत्मा उपादेय है अर्थात् जिनको अन्दर में ऐसा आत्मा उपादेय हुआ है, वे अति-आसन्न भव्यजीव हैं।

अहा! 'अति-आसन्न भव्यजीवों को ऐसे निजपरमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है।' निजपरमात्मा अर्थात् त्रिकाली ध्रुव और वही अंगीकार करनेयोग्य है, उपादेय है अर्थात् उसका ही आश्रय करनेयोग्य है। त्रिकाली ध्रुव ही वास्तविक आत्मा है और जिसकी मुक्ति अत्यन्त निकट है — ऐसा अति-आसन्न भव्यजीव, उसको ही उपादेय करता है — ऐसे आत्मा को उपादेय किया होने से सम्यग्दृष्टि अति-आसन्न भव्य ही है। जिसको ऐसे मुक्त स्वरूप का भान हुआ है तो उसकी पर्याय में अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी।

जिसने अनन्त मुक्त पर्यायवाला सम्पूर्ण तत्त्व-अनन्त पर्यायों का पिण्ड ऐसा मुक्त स्वरूप अंगीकार किया, उसकी तो अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना रहेगी ही नहीं। वह (मुक्ति) जाएगी कहाँ ? उसको अल्पकाल में केवलज्ञान होगा ही। अब उसको भव कैसे ? यहाँ मूल बात तो यह है कि जिसमें भव नहीं है — ऐसे आत्मा को जिस जीव ने उपादेय किया है, उसको अब भव कैसा ? वस्तुत: तो वह आत्मा मुक्त ही है। भाई! बात बहुत सूक्ष्म है! अहा! इस बात को समझना चाहे-आदरना चाहे और समझ में नहीं आवे — ऐसा तीनकाल में नहीं हो सकता।

देखो, शब्द यह है कि 'कुछ उपादेय नहीं है' अर्थात् एक पर्याय भी उपादेय नहीं है। संस्कृत टीका में है कि '**न किंचिदुपादेयमस्तीति**' - द्रव्य को उपादेय करनेवाली पर्याय भी उपादेय नहीं है। भाई! वीतराग का ऐसा मार्ग है।

www.vitragvani.com

***प्रश्न* —** वह सब हेय है तो कन्दमूल नहीं खाना, रात्रि में भोजन नहीं करना — क्या यह सब नहीं करना ?

***उत्तर* —** भाई! यह चोबिहार (रात्रिभोजन त्याग) करना सो विकल्प है और विकल्प है, वह राग है, इतनी-सी बात है। वह हो भले ही; परन्तु क्या वह राग करनेयोग्य है ? (नहीं।) क्योंकि राग है सो दु:खरूप है। (धर्म के रुचिवंत जीव को) रात्रिभोजन नहीं करना, उपवास करना, कन्दमूल नहीं खाना — ऐसा विकल्प होता है; परन्तु वह खाने की चीज तो पर है, उसको आत्मा खाता-पीता नहीं है। आत्मा वह क्रिया न तो कर सकता है और न छोड़ सकता है। मात्र उसमें जो विकल्प-राग होता है, वह भी निश्चयस्वभाव का आश्रय करने पर हेय हो जाता है।

अहा! भगवान कहते हैं कि भाई! जिसका स्वभाव पूर्ण, अपरिमित, एकरूप, अनादि-अनन्त है, उस चीज को (भगवान आत्मा को) जिसने अंगीकार किया, उसको अब क्या बाकी रहा ? अर्थात् जिसने दृष्टि में भगवान (आत्मा) का आदर किया, उसको तो अन्दर में भगवान परमात्मा से भेंट हो गई; तब फिर उसको अब क्या चाहिए ? अहा! धर्मी जीव को तो वह एक ही उपादेय है। शेष जगत की कोई वस्तुमात्र, अनुकूलता, प्रतिकूलता या पर्याय आदरणीय नहीं है। अनुकूलता-प्रतिकूलता तो मिथ्यादृष्टि ने मानी है। वरना वह है कब ? क्योंकि वह तो ज्ञेय है; फिर भी मिथ्यादृष्टि ने ज्ञेय के दो भाग किये हैं कि यह अनुकूल है और यह प्रतिकूल है। इसप्रकार उसने एक ज्ञेय के दो भाग किये हैं।

***प्रश्न* —** सेवा करनेवाले हों — ऐसी अनुकूलता-व्यवस्था होवे तो ठीक है न ?

***उत्तर* —** उसमें धूल भी ठीक नहीं है। सुन भाई! तू बाहर में सुख मानकर भ्रम में पड़ा है। जगत में कोई भी सगवड़ता और इष्ट हो तो वह अपना भगवान आत्मा है और कोई भी अव्यवस्था हो तो वह विकारीभाव है। इसके अतिरिक्त कुछ भी व्यवस्था अथवा अव्यवस्था है — ऐसा वीतरागपरमात्मा नहीं कहते।

कलश ५४ पर प्रवचन

'सर्व तत्त्वों में जो एक सार है।' जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष — इन सब तत्त्वों में एक सार आत्मा है। गाथा में साततत्त्व कहे थे न ! तो सर्वतत्त्व कहने से उन साततत्त्वों में यदि कोई सार हो तो वह त्रिकाली चैतन्य भगवान आत्मा है।

www.vitragvani.com

अहा! (३८वीं गाथा की टीका में) 'साततत्त्वों का समूह है' — ऐसा कहा था ? और मूल गाथा में भी '**जीवादिबहितच्चं**' — ऐसा था। तो उसमें से ही यह अर्थ किया है और पुण्य-पाप तत्त्वों को आस्रव में लिया है; किन्तु भिन्न नहीं रखा है। यहाँ कहते हैं कि 'सर्व तत्त्वों में जो एक सार है।' पर्यायरूप जीवतत्त्व, अजीवतत्त्व, रागरूप आस्रव-तत्त्व, बंधतत्त्व और संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व, इन सबमें भी एक त्रिकाली भगवान आत्मा ही एक सार है, अन्य कोई सार नहीं है। अज्ञानी तो पाँच-पच्चीस लाख रुपये मिलने अथवा दुनिया में प्रतिष्ठा-प्रशंसा होने को सारपना मानता है; परन्तु उसमें रंचमात्र भी सारपना नहीं है।

जो '**समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है।**' कहते हैं कि पुण्य-पाप के भाव नष्ट होनेयोग्य हैं, संवर नष्ट होनेयोग्य है, निर्जरा नष्ट होनेयोग्य है और मोक्ष भी नष्ट होनेयोग्य है; क्योंकि यह सब पर्याय हैं। अरे! चारों ही भाव नष्ट होनेयोग्य हैं। क्षायिकभाव-केवलज्ञान हो तो भी वह एकसमय ही रहता है; इसलिए वह भी नष्ट होनेयोग्य है। 'जो समस्त' अर्थात् जितनी बदलनेयोग्य पर्यायें हैं, वे सब 'नष्ट होनेयोग्य' हैं और आत्मा उन नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है — ऐसा कहते हैं। संवर-निर्जरा की पर्याय और मोक्ष-सिद्धपर्याय भी नष्ट होनेयोग्य है और द्रव्य उनसे दूर है। श्लोक में '**सकलविलयदूर:**' — ऐसा है, तो उसका अर्थ यह है कि नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है।

अहा! यह कलश बहुत ऊँचा है, जैनशासन का मक्खन है! अहा! कहते हैं कि केवलज्ञान की पर्याय भी नष्ट होनेयोग्य है; वह दूसरे समय कहाँ रहती है ? जैसे पुण्य-पाप के विकल्प नाशवान हैं, वे एकसमय रहते हैं और दूसरे समय उनका व्यय हो जाता है; वैसे ही सिद्धदशा जैसी पर्याय भी एकसमय रहती है और दूसरे समय उसका व्यय हो जाता है। अत: ऐसे 'विलयदूर:'-विलय होनेयोग्य जो भाव हैं, उनसे ध्रुव भगवान आत्मा दूर है; क्योंकि वह अविनाशी है। तात्पर्य यह है कि वे भाव नाशवान हैं और यह आत्मा अविनाशी है, भगवान आत्मा त्रिकाल ऐसा का ऐसा रहता है। अहा! पर्याय में बहुत शुभाशुभभाव होने पर भी, उसके (आत्मा के) अंतरस्वभाव में नुकसान नहीं होता, वह ऐसा का ऐसा रहता है। इसीप्रकार केवलज्ञानादि की पर्यायें प्रकट होने पर भी उसमें (भगवान आत्मा में) पुष्टि नहीं होती, वह तो ऐसा का ऐसा रहता है; क्योंकि उसको पर्यायों से दूर कहा है न!

www.vitragvani.com

अहा! जैसे आस्रव, बंध-विकार है, नष्ट होनेयोग्य है, वैसे संवर, निर्जरा, मोक्ष, निर्मलपर्याय भी नष्ट होनेयोग्य है और उनसे द्रव्य दूर है। आशय यह है कि कैसा भी मिथ्यात्वादि का आस्रवभाव हो तो भी वस्तु तो उससे दूर ही है; कैसा भी रागरूप बंधभाव हो, तो भी वस्तु तो उससे दूर ही है और उसीप्रकार कैसी भी संवर, निर्जरा और मोक्ष केवलज्ञानादि की पर्याय उत्पन्न हुई हो, तो भी वस्तु तो उससे दूर ही है। अद्भुत बात है!

अहा! 'समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों' अर्थात् पर्यायें; क्योंकि द्रव्य नष्ट होनेयोग्य नहीं है। अत: समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों याने कि पर्यायें और उनसे द्रव्य दूर है अर्थात् भगवान आत्मा जो कि सम्यग्दर्शन का ध्येय/विषय है, वह नष्ट होनेयोग्य पर्यायों से दूर वर्तता है, उसको पर्याय से कुछ संबंध नहीं है। लो, भगवान का मार्ग ऐसा है! कितने ही जीवों ने तो ऐसा मार्ग (तत्त्वज्ञान) सुना भी नहीं होगा।

श्रोता — (द्रव्य और पर्याय) एक क्षेत्र में होने पर भी दूर हैं — यह बात कैसे जमे ?

पूज्य गुरुदेवश्री — पर्याय का अस्तित्व एकसमय का है, जबकि द्रव्य का तो त्रिकाली अस्तित्व है। वास्तव में तो दोनों का क्षेत्र भी भिन्न है, निश्चय से तो त्रिकाली द्रव्य से पर्याय का क्षेत्र भिन्न है। उन दोनों का भाव भिन्न है, क्षेत्र भिन्न है और सब सत्त्व भी भिन्न है — ऐसी बात है।

यहाँ कहा है कि '**सर्व तत्त्वों में जो एक**' एक ही '**सार है, जो समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है, जिसने दुर्वार काम को नष्ट किया है।**' अरे! कामवासना दूर न की जा सके — ऐसी दुर्वार है; तो भी वह वस्तु में है ही नहीं। 'काम को नष्ट किया है' का अर्थ यह है कि द्रव्य में काम नहीं है। काम-भोग की वासना, इन्द्र-इन्द्राणी की वासना अथवा छहखण्ड के राज्य की वासना तो दूर है। अहा! उसने दुर्वार ऐसे काम को नष्ट किया है अर्थात् उसमें काम नहीं है। 'दुर्वार' शब्द का अर्थ यह है कि हीन पुरुषार्थियों के द्वारा नष्ट न की जा सके — ऐसी कामवासना, त्रिकाली वस्तु में नहीं है और यदि उस त्रिकाली वस्तु का आश्रय लें तो वह वासना रहती भी नहीं है। आनन्दकन्द प्रभु आत्मा का आश्रय लेने पर कामवासना उत्पन्न ही नहीं होती, अपितु विलय पा जाती है।

'जो पापरूप वृक्ष को छेदनेवाला कुठार है।'

www.vitragvani.com

कुल्हाड़ा वृक्ष के मूल को छेदता है न! उसीप्रकार वह (द्रव्य) पापरूप वृक्ष को छेदनेवाला कुल्हाड़ा है अर्थात् द्रव्य में पाप नहीं है और द्रव्य का आश्रय करने पर पाप नष्ट हो जाता है।

'जो शुद्धज्ञान का अवतार है' अर्थात् उसका पूरा अस्तित्व ही शुद्धज्ञानमय है। उसमें अकेला शुद्धज्ञान ही रहा है; परन्तु अन्य कुछ उसमें नहीं है। अहा! भगवान आत्मा शुद्धज्ञान का ही अवतार है अर्थात् जिसमें शुद्धज्ञान ही रहा है — ऐसा है; परन्तु अज्ञानी तो मात्र एकसमय की पर्याय की रमत (क्रीडा) में ही रम रहा है; इसलिए पर्याय के पीछे जो सम्पूर्ण द्रव्य-वस्तु है, वह क्या है — यह बात उसे सुनने को भी नहीं मिली है।

'जो सुखसागर की बाढ़ है।' जैसे समुद्र में महाप्रवाह चलता आता हो, वैसे आत्मा तो आनन्द की बाढ़ है, अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है और उसका आश्रय करने पर अतीन्द्रिय आनन्द का प्रवाह बहता है — ऐसा वह आत्मा है। अहा! अज्ञानी को मूल वस्तु का पता नहीं है। भगवान तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ सर्वज्ञपरमेश्वर ने किसकी आत्मा कहा है, उसकी बात ही सुनने को नहीं मिलती और जो बात सुनने को मिलती है, वह सब बाहर की मिलती है कि यह करो या वह करो।

यहाँ कहते है कि भगवान केवली तीर्थंकर ने जो आत्मा देखा और कहा है, वह भगवान आत्मा ऐसा है, वह तो सुखसागर की बाढ़ ऐसा प्रभु है; परन्तु अरे! इसको कैसे जमें ? अहा! जो ध्रुव...ध्रुववस्तु है, वह तो एकसमय की पर्याय और विकल्प से भी रहित है। शुभ-अशुभभाव और एकसमय की पर्याय से भी रहित ऐसी सम्पूर्ण वस्तु है और वह सुखसागर की बाढ़ है। देखो! नदी नहीं ली है; परन्तु वह तो महासुखसागर का समुद्र का पूर है — ऐसा कहते हैं अर्थात् वह अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द है, उसका सत्त्व ही यह है। सत् ऐसे भगवान आत्मा का सत्त्व तो अकेला सुखसागर की बाढ़ है, उसका स्वभाव ही सुखसागर की बाढ़ है और जो ऐसे भगवान आत्मा का आश्रय करता है, वह सुखी होता है; परन्तु किसी (अन्य) वस्तु का आश्रय ले तो वह सुखी नहीं होता। अरे! अभी तो जैन में आत्मा की, जो कि त्रिकालीवस्तु है, उसकी बात ही खो गई है और दया पालो, व्रत करो — ऐसी बातें रह गई हैं। आत्मा किसको कहना — इस मूलबात का ही पता नहीं है, वह पद्धति ही समाप्त हो गई है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमेश्वर जो वीतराग मार्ग फरमाते हैं, उसको

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

संत यहाँ कहते हैं अर्थात् भगवान जो कहते हैं, वैसा ही संत कहते हैं और वैसा अपना स्वरूप है।

देखो! यहाँ सुखसागर की बाढ़ ऐसा कहा है; क्योंकि बाढ़ जोरदार आती है न! हमारे उमराला में बड़ी कालीमार नदी है। उसमें बाढ़ आवे तो घोड़ापूर आवे। 'घोड़ापूर' अर्थात् जैसे घोड़ा दौड़ता हुआ आता है, वैसे तीन-तीन, चार-चार हाथ ऊँचा पानी का दल दौड़ता हुआ आता है और तब बड़े-बुजुर्ग कहते हैं कि लड़को! भाग जाओ। उसीप्रकार आत्मा आनन्द की बाढ़ है, उसमें समा जाओ — ऐसा कहते हैं। दृष्टान्त में भाग जाओ — ऐसा है; जबकि सिद्धान्त में भगवान तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी परमात्मा ऐसा कहते हैं कि सुखसागर की बाढ़ में समा जाओ। लो यह '**केवलिपण्णत्तोधम्मो**' है। लोग मंगलाचरण में '**केवलिपण्णत्तोधम्मं शरणं**' बोलते अवश्य हैं; परन्तु उन्हें अर्थ का पता नहीं होता।

'भगवान' तो कहते हैं कि आनन्दसागर आत्मा में अन्तर नजर (दृष्टि) करने पर उसमें एकता होने पर आनन्द का प्रवाह बाहर (पर्याय में) बहता है-आता है और वह धर्म है।

***प्रश्न* —** टीकाकार मुनिराज ने आत्मा को अतिशयोक्ति करके कहा है या है जैसा कहा है ?

***उत्तर* —** भाई! भाषा क्या कहे ? भाषा कितना कहे ? अरे! आत्मा का पूरा रूप (पूर्णस्वरूप) तो केवली की वाणी में भी नहीं आता है। अहा! जो स्वभाव है, उसका क्या कहना ? भले ही क्षेत्र छोटा हो; परन्तु उससे कुछ प्रयोजन नहीं है; परन्तु जो स्वभाव है, जो भावरूप भाव है, उसकी शक्ति अपार है। उस एक-एक गुण की शक्ति अपार है और आत्मा तो ऐसे अनन्त गुणों की बाढ़ है। जैसे वह सुख-सागर की बाढ़ है, वैसे ज्ञान की बाढ़ है, दर्शन की बाढ़ है, स्वच्छता की बाढ़ है, प्रभुता की बाढ़ है और कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान आदि अनन्त शक्तियों की बाढ़ है। अहा! मुम्बई में तो पूरे दिन धमाधम-धमाधम होती है, उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि पर्याय में विकल्प के जाल की धमाधम है; परन्तु वह धमाधम द्रव्य में नहीं है। द्रव्य तो आनन्द की बाढ़ है, ज्ञान का सागर है, दर्शन का महाप्रवाह है और इसीप्रकार प्रभु आत्मा तो शान्ति...शान्ति...शान्ति... अर्थात् चारित्र-वीतरागता का कन्द है।

www.vitragvani.com

'और जो क्लेशोदधि का किनारा है।' संस्कृत में है कि क्लेशवाराशि-वा+राशि=पानी का ढेर=सागर। जो क्लेश की उदधि है, उसका वह (आत्मा) किनारा है। बस, क्लेश का किनारा आया, अब कदम बढ़ा मुक्ति में — ऐसा कहते हैं। पर्याय में जो विकल्परूपी क्लेश का महासागर है, उसका आत्मा किनारा है अर्थात् वहाँ क्लेश का अन्त आ गया है। आशय यह है कि आत्मा में तो क्लेश नहीं है; परन्तु जो उसका आश्रय लेता है, उसको भी क्लेश का किनारा आ जाता है — ऐसा कहना है।

अहा! इसने ऐसा आत्मा कभी सुना भी नहीं होगा। जैन तो बहुत हैं; परन्तु जैन सम्प्रदाय में भी यह बात सुनने को कहाँ मिलती है ? जैन परमेश्वर क्या कहते हैं — यह बात ही वहाँ कहाँ है ? वहाँ तो बाहर की बातें हैं। अहा! इन्द्रों और गणधरों की उपस्थिति में तथा संतों का समूह और बाघ-सिंह सभा में उपस्थित थे, तब तीनलोक के नाथ परमात्मा-भगवान की ऐसी वाणी आती थी कि अरे भगवान! तू तो क्लेश का किनारा है। तुझमें क्लेश कैसा ? और जो ऐसे भगवान आत्मा का आश्रय ले, उसको भी क्लेश कैसा ? उसको तो अतीन्द्रिय आनन्द की लहरें उठती हैं।

अब कहते हैं कि **'वह समयसार (शुद्ध आत्मा) जयवन्त वर्तता है'** अर्थात् शुद्धात्मा सदा ऐसा का ऐसा ही है। भाई! यह समझ में आता है ? यह सब समझनेयोग्य है, बाकी बाहर की धूल (पैसादिक में) कुछ माल नहीं है। यहाँ कहते हैं कि ऐसा भगवान आत्मा जयवन्त वर्तता है अर्थात् वह भगवान आत्मा त्रिकाल ऐसा का ऐसा ही रहा है और उसकी जय हो; परन्तु जो उसका आश्रय करता है, वह उसके लिए जयवन्त वर्तता है। केवली भगवान तीर्थंकरदेव ने जैसा अन्दर में भगवान आत्मा देखा और कहा है, जो उसका आश्रय लेता है, उसके लिए वह जयवन्त वर्तता है और उसकी (आश्रय करनेवाले की) भी जय वर्तती है। अब कभी उसकी पराजय नहीं हो सकती — ऐसा कहते हैं।

इसप्रकार गाथा ३८ में मांगलिक किया। ●

....त्रिकाली द्रव्य-गुण में विकार न होने पर भी पर्याय में विकार होता है, वहाँ ऐसा ही कर्मपद्धति का स्वभाव है अर्थात् उस-उस पर्याय का ऐसा ही अहेतुक स्वभाव है। वह विकार द्रव्य-गुण में से भी नहीं आया और दूसरे द्रव्यों में से भी नहीं आया, किन्तु वह पर्याय विकारी भावरूप परिणमित हुई है - ऐसा ही उस पर्याय का स्वभाव है। - **कारणशुद्धपर्याय, पृष्ठ-२८**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

नियमसार गाथा-३९

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा॥३९॥

न खलु स्वभावस्थानानि न मानापमानभावस्थानानि वा।
न हर्षभावस्थानानि न जीवस्याहर्षस्थानानि वा॥३९॥

(हरिगीत)

मानापमान, स्वभाव के नहिं स्थान होते जीव के।
होते न हर्षस्थान भी, नहिं स्थान और अहर्ष के॥३९॥

गाथार्थ :— जीव को वास्तव में स्वभावस्थान (विभावस्वभाव के स्थान) नहीं हैं, मानापमानभाव के स्थान नहीं हैं, हर्षभाव के स्थान नहीं हैं या अहर्ष के स्थान नहीं हैं।

टीका :— यह, निर्विकल्प तत्त्व के स्वरूप का कथन है।

त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय को वास्तव में विभावस्वभावस्थान (विभावरूप स्वभाव के स्थान) नहीं हैं; (शुद्ध जीवास्तिकाय को) प्रशस्त या अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से मान-अपमान के हेतुभूत कर्मोदय के स्थान नहीं हैं; (शुद्ध जीवास्तिकाय को) शुभपरिणति का अभाव होने से शुभकर्म नहीं है, शुभकर्म का अभाव होने से संसारसुख नहीं है, संसारसुख का अभाव होने से हर्षस्थान नहीं हैं; और (शुद्ध जीवास्तिकाय को) अशुभपरिणति का अभाव होने से अशुभकर्म नहीं है, अशुभकर्म का अभाव होने से दुःख नहीं है, दुःख का अभाव होने से अहर्षस्थान नहीं है।

(अब ३९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं-)

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदोदित-शर्म-निर्मित-वियद्बिंबा-कृतावात्मनि।
चैतन्यामृतपूरपूर्णवपुषे प्रेक्षावतां गोचरे।
बुद्धिं किं न करोषि वांछसि सुखं त्वं संसृतेर्दुःकृतेः॥५५॥

www.vitragvani.com

(वीरछन्द)

प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वतपद अन्तर्मुखी प्रगट सुखरूप।
नभमंडलवत् अकृत, चैतन्यामृत से भरपूर स्वरूप॥
अहो विचारक पुरुष गम्य जो उसमें रुचि क्यों नहीं करे ?
पापरूप सांसारिक सुख की अभिलाषा क्यों मूढ़ करे॥५५॥

***टीका :*—** जो प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वतपद है, जो सर्वथा अन्तर्मुख और प्रगट प्रकाशमान ऐसे सुख का बना हुआ, नभमण्डल समान अकृत[१] है, चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ जिसका स्वरूप है, जो विचारवन्त समान पुरुषों को गोचर है — ऐसे आत्मा में तू रुचि क्यों नहीं करता और दुष्कृतरूप संसार के सुख की वांछा क्यों करता है।।५५।।

गाथा ३९ की टीका पर प्रवचन

'यह निर्विकल्पतत्त्व के स्वरूप का कथन है।' जिसको (गाथा-३८ में) आत्मा कहा था, उसका ही यह कथन है। आशय यह है कि पूर्व में कहा गया था, वही कथन यहाँ दूसरे प्रकार से कहते हैं। अहा! शुद्धभाव कहो, निर्विकल्पतत्त्व कहो, कारणपरमात्मा कहो या कारणजीव कहो — एक ही है।

१. **'त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है।'** भगवान आत्मा का त्रिकाल निरुपाधि स्वरूप है। उसका स्वरूप ही निरुपाधि है, उसमें उपाधि नहीं है। **'ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय को....'** देखा ? 'ऐसे शुद्धजीव को' — ऐसा न कहकर, 'ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय को' — ऐसा कहा है, क्योंकि जीव 'अस्ति' है और 'काय' भी है-असंख्यप्रदेशी है। सर्वज्ञ भगवान के अतिरिक्त किसी मत में असंख्यप्रदेशी आत्मा की बात नहीं है। असंख्यप्रदेश, वह आत्मा का देश है। यहाँ द्रव्य की बात है, इसलिए कहते हैं कि 'त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है।' पर्याय में उपाधि है, वह राग-द्वेषरूप है और वह तो पर्याय में रही। द्रव्य में वह उपाधि कहाँ है ?

'ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय को....' शुद्ध=पवित्र, जीव=जीव, अस्ति=है, काय=प्रदेशों का समूह। जीवास्तिकाय=जीव असंख्यप्रदेशों के समूहरूप अस्तित्ववाला है। यहाँ कहते हैं कि त्रिकाल निरुपाधि जीव को **'वास्तव में विभावस्वभाव स्थान नहीं है।'** उसमें

१. अकृत=किसी से नहीं किया गया। (जिसप्रकार आकाश को किसी ने बनाया नहीं है, उसीप्रकार आत्मा को किसी ने नही बनाया है, आत्मा अन्तर्मुख प्रकट अतीन्द्रिय सुख का पिण्ड है, स्वयंसिद्ध शाश्वत है।)

www.vitragvani.com

शुभ-अशुभरागरूप विभाव के प्रकार नहीं हैं। दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति, काम, क्रोध आदि समस्त शुभाशुभभाव विभाव हैं और द्रव्य में वे विभावस्वभाव के भेद नहीं हैं; क्योंकि द्रव्य तो निर्विकल्प है, उसमें ये विभाव कैसे ?

अहा! यह बात तो द्रव्य और पर्याय के बीच की है। पर्याय में जो है, वह द्रव्य में नहीं है और द्रव्य में जो है, वह पर्याय में नहीं है। उसकी दशा में राग-द्वेष, पुण्य-पाप, संकल्प-विकल्प आदि हैं; परन्तु वस्तु में नहीं हैं। त्रिकाल-निरुपाधिरूप भगवान आत्मा में विभाव कैसा ? तथा देखो। विभावस्वभाव कहा है। गाथा में विभाव को स्वभाव कहा है। '**णो खलु सहावठाणा**' — ऐसा गाथा में कहा है। सो विभाव को भी स्वभाव कहते हैं, क्योंकि वह द्रव्य की पर्याय का भाव है न! अपना भाव है न! मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि उसकी पर्याय का (अवस्था का) भाव है, तथापि वह वस्तु में नहीं है, क्योंकि वस्तु निर्विकल्पतत्त्व है और यहाँ उसको शुद्धभाव कहा गया है। लो, प्रत्येक गाथा में ऐसी बात है। अभी तक जो सुना था, उसमें कभी ऐसा एक वाक्य भी सुना था ?

'अहा! विभावस्वभाव स्थान' — ऐसी भाषा है। उसका अर्थ यह है कि विभावरूप स्वभाव के प्रकार-भेद। (स्थान=भेद) असंख्यप्रकार के शुभभाव — दया, दान, भक्ति, पूजा आदि शुभभाव भी विभावभाव हैं। यह उपवास करूँ — ऐसा जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह भी पूर्णरूप से विभावभाव है और ऐसे विभावस्वभाव के भेद निर्विकल्प अभेद चैतन्यमूर्ति में नहीं हैं।

२. अब कहते हैं कि '**(शुद्ध जीवास्तिकाय को)......**' ऊपर जीवास्तिकाय शब्द आया है, इसलिए अन्य समस्त बोलों में भी वह शब्द ले लिया है।

शुद्ध+जीव+अस्ति+काय=पवित्र+भगवान आत्मा+अस्तिरूप+असंख्यप्रदेशी। असंख्य-प्रदेशी अस्तिरूप पवित्र भगवान आत्मा को प्रशस्त या अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से....उसको शुभभाव नहीं है, अशुभभाव नहीं है और मोह भी नहीं है, इसलिए '**मान-अपमान के हेतुभूत कर्मोदय के स्थान नहीं हैं।**' मान-अपमान के स्थान नहीं हैं। बाहर में लोग अभिनन्दन-पत्र दें, बड़ा कहें इत्यादि ऐसी अनेकप्रकार की अनुकूलता होवे तो उसको ओहो...हो...हो जाता है, जो कि मान है और यदि लोग अपमान कर दें तो प्रतिकूलता लगती है। यहाँ कहते हैं कि ऐसे जो मान-अपमान होते

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

हैं, वे वस्तु में नहीं हैं। किसका मान और किसका अपमान ? तो मान-अपमान का हेतु जो कर्म का उदय है, उसके भेद वस्तु में नहीं हैं।

३. **'शुद्ध जीवास्तिकाय को (शुभपरिणति का अभाव होने से.....)'** भगवान आत्मा में शुभ पर्याय — यह दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम है ही नहीं।

प्रश्न — तो फिर उनको कौन करता है ?

उत्तर — भाई! जीव स्वयं अज्ञानभाव से उनको करता है और वहाँ तक वे उसकी पर्याय में हैं और जीव के हैं अर्थात् अज्ञानी जबतक उस शुभभाव को करता है, वहाँ तक तो जीव के हैं; परन्तु वह पर्याय में है, वस्तु में नहीं; इसलिए यहाँ कहते हैं कि शुभपरिणति का अभाव होने से...जो तीर्थंकर प्रकृति बाँधने का शुभभाव आता है, उसका भी भगवान आत्मा के स्वभाव में अभाव है।

प्रश्न — क्या कोई आत्मा तीर्थंकर होता ही नहीं ?

उत्तर — आत्मा तीर्थंकर होता ही नहीं, वह तो केवलज्ञान प्राप्त करता है। क्या वह समवशरणमय हो जाता है ? नहीं। वह तो केवलज्ञानमय हो जाता है। समवशरणादि तो संयोग की बात है। **'पुण्यफला अरहंता'** अर्थात् पुण्य हो तो अरहंत पद (संयोग) मिलता है; परन्तु इसकारण जीव की पर्याय उस संयोगरूप हो जाती है ? नहीं। वे समवशरणादि तो संयोग हैं और आत्मा उस संयोग में आया ही कहाँ है ? संयोग में तो आत्मा है ही कब ?

प्रश्न — तीर्थंकर की महिमा तो बहुत होती है न ?

उत्तर — वह बात तो पुण्य की अपेक्षा से है; क्योंकि पुण्यरूप ४२ प्रकृतियों में वह (तीर्थंकर प्रकृति) सर्वोत्कृष्ट है न! इसलिए प्रकृति की अपेक्षा से महिमा है। वरना तीर्थंकर के अतिरिक्त भी जो कोई केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वे सब भी गुण की अपेक्षा से तो समान ही हैं। गुणों में क्या अतर है ? जो कोई केवलज्ञान प्राप्त करता है, वह भी पूर्ण आनन्द में है और तीर्थंकर भी पूर्ण आनन्द में हैं; परन्तु तीर्थंकर को समवशरण है और अन्य केवलियों को नहीं। इसकारण कहीं उन दोनों के गुण में अन्तर है ? गुण की दशा में अन्तर है ?

यहाँ कहते हैं कि **'(शुद्ध जीवास्तिकाय को) शुभपरिणति का अभाव होने से शुभकर्म नहीं है।** शुभपरिणति होवे तो शुभकर्म हो न!' और **'शुभकर्म का अभाव**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

होने से संसारसुख नहीं है।' संसार का माना हुआ पैसा, स्त्री, पुत्र, परिवार, अनुकूलता अथवा कल्पना का सुख स्वरूप में नहीं है। वह कल्पना दुःखमयदशा है। आत्मा में संसारसुख नहीं है। यद्यपि संसार की कल्पना का सुख अर्थात् संसार में सुख की कल्पना है तो दुःख; परन्तु उसको लोग 'सुख' कहते हैं न! इसलिए यहाँ उस अपेक्षा से बात की है। वरना वह संसारसुख सुख है ही नहीं।

'संसारसुख का अभाव होने से हर्षस्थान नहीं है।' कहते हैं कि पाँच लाख की पूँजी हो और इकलौते पुत्र के विवाह में एक लाख खर्च करना हो तो अहा हा.....! (हर्ष) हो जाता है, उसमें हर्ष आ जाता है — ऐसा हर्ष आत्मा में नहीं है।

(४) 'और (शुद्ध जीवास्तिकाय को) अशुभपरिणति का अभाव होने से अशुभकर्म नहीं है।' भगवान आत्मा में मिथ्यात्वादि अशुभभाव का अभाव है; क्योंकि अशुभपरिणति पर्याय में है। द्रव्य में-वस्तु में कहाँ है ? और इसलिए तो वह मिटती है न! **'अशुभकर्म का अभाव होने से दुःख नहीं है, दुःख का अभाव होने से अहर्षस्थान नहीं है।'** आत्मा में-वस्तु में शोक नहीं है। मात्र उसकी पर्याय में शोक को उत्पन्न करता है। वरना वस्तु में वह कहाँ है ? वस्तु तो वस्तु है। उसमें हर्ष या अहर्ष स्थान नहीं है। ऐसा जो निर्विकल्प चैतन्यतत्त्व है, वही उपादेय है और अनुभव करनेयोग्य है — ऐसा यहाँ कहा गया है।

कलश ५५ पर प्रवचन

'जो प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वतपद है।' यहाँ कहते हैं कि नित्यानन्दस्वरूप ध्रुव भगवान आत्मा में प्रीति या अप्रीति कुछ भी नहीं है। प्रीति=राग और अप्रीति=द्वेष। अनादि-अनन्त और एकसमय की पर्यायरहित वस्तु, जो त्रिकाल ध्रुव चैतन्यबिम्ब है, वह उत्पादव्ययरहित है।

(तत्त्वार्थसूत्र ५/३० में) ऐसा आता है न कि **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्;** परन्तु यहाँ कहते हैं कि वह आत्मवस्तु ऐसी है कि जिसमें उत्पाद-व्यय नहीं है। वह उत्पाद-व्ययरूप पर्यायरहित है; क्योंकि उत्पाद-व्यय तो नाशवान है। यह बात तो (कलश ५४ में) आ गई है न! अहा! उत्पाद-व्ययरूप जो पर्याय है, वह तो नाशवान है, एकसमय की है; जबकि उससे रहित यह त्रिकाली शाश्वतपद राग-द्वेषरहित है अर्थात् ध्रुव और

www.vitragvani.com

नित्यस्वभावी भगवान आत्मा राग-द्वेषरहित शाश्वतपद है और उसमें दृष्टि करनेयोग्य है। जिसको सम्यग्दर्शन प्रकट करना हो, जिसको धर्म प्रकट करना हो; उसको उस शाश्वत पद में दृष्टि करनेयोग्य है। निमित्त की बुद्धि छोड़कर, राग की बुद्धि छोड़कर और एकसमय की पर्याय की भी बुद्धि छोड़कर त्रिकाली द्रव्य की बुद्धि करना योग्य है और इसी का नाम भगवान सम्यग्दर्शन कहते हैं। प्रीति-अप्रीति रहित का अर्थ यह है कि आत्मा वीतरागबिम्बस्वरूप है, जिनस्वरूप है।

अहा! आत्मा जिनस्वरूप ही है और ऐसा यह आत्मा '**सर्वथा अन्तर्मुख है।**' वह सर्वथा अन्तर्मुख है। वह वस्तु बाह्यपर्याय में नहीं आती। पहले यह कहा था कि वह पुण्य-पाप अर्थात् प्रीति-अप्रीति से रहित है और अब कहा कि वह सर्वथा अन्तर्मुख है। एकसमय की पर्याय में भी वह ध्रुव वस्तु नहीं आती, तो फिर स्त्री, पुत्र, पैसा में तो वह कहाँ से आयेगी ? क्या आत्मा उनमें जाता होगा ? नहीं। उस अजीव में जीवद्रव्य भी नहीं जाता और उसकी पर्याय भी नहीं जाती। हाँ, अधिकतम तो अपनी एकसमय की अवस्था में जीव का परिणमन-उसकी पर्याय जाती है; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि त्रिकाली वस्तु तो उस अवस्था में भी नहीं आती — ऐसी वस्तु है।

कहते हैं — '**जो सर्वथा अन्तर्मुख और प्रगट प्रकाशमान ऐसे सुख का बना हुआ है।**'

कैसा है वह आत्मा ?

वह सर्वथा अन्तर्मुख है और अन्तर में जाने पर-अन्तर में गहरे उतरने पर, जो सुख प्रकट होता है, वैसे सुख से बना हुआ है। चैतन्यमूर्ति शाश्वतपद में जो अन्तर्मुख है, उसमें गहरे उतरने पर, उसमें से प्रकट होनेवाले सुख से वह बना हुआ है। ऐसे सुख का बना हुआ है अर्थात् वह सुखस्वरूप है, वह अनादि का सुखस्वरूप है। यहाँ कहते हैं कि शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप वस्तु पर्यायरहित शाश्वतपद है, जिसमें एकसमय की पर्याय भी नहीं है, वह ऐसी शाश्वत वस्तु है। उसमें गहरे उतरने पर, उसमें से प्रकट होनेवाले सुख से वह बना हुआ है अर्थात् वह आनन्दमूर्ति है। अहा....। अन्दर शाश्वत वस्तु भगवान आत्मा....स्वयं आत्मा भगवान है, वह तो अनादि-अनन्त-शाश्वत-सुखस्वरूप है और उसकी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है।

www.vitragvani.com

***'जो नभमण्डल समान आकृतिवाला (अर्थात् निराकार-अरूपी) है।'** जैसे आकाश को (पर-सापेक्ष) आकार नहीं है और वह अरूपी है; उसीप्रकार जिसमें अकेला आनन्द भरा है — ऐसा ध्रुव नित्य भगवान आत्मा अरूपी और (पर सापेक्ष) आकाररहित-निराकार है।

तथा **'चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ जिसका स्वरूप है।'** वस्तु का/द्रव्य का/ पर्याय से अतिरिक्त शाश्वत पदार्थ का स्वरूप चैतन्यामृत से छलाछल भरा हुआ है। जो एकसमय की पर्याय/अवस्था/दशा है, उससे अतिरिक्त सम्पूर्ण वस्तु का स्वरूप चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ है। तात्पर्य यह है कि आत्मा का स्वरूप चैतन्यरूपी अमृत के पूर से भरा हुआ है। अहा! जो जड़ अमृत है वह नहीं; परन्तु अकेले चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ उसका स्वरूप है। देखो! सुख से बना हुआ है — ऐसा तो पहले कहा है और अब 'पूर से भरा हुआ' है — ऐसा कहते हैं अर्थात् कहना यह है कि अन्दर में आत्मस्वरूप जोरदार है। लो, ऐसा उसका स्वरूप है।

अब कहते हैं — **'प्रेक्षावतां गोचरे' 'जो विचारवन्त चतुर पुरुषों को गोचर है।'** वह देखनेवाले को गोचर है।

***प्रश्न* —** यह आत्मा ऐसा है तो भी अनादि से परिभ्रमण क्यों करता है ? ऐसा स्वरूप होने पर भी रखड़ता क्यों है ? अनादि से ज्ञात क्यों नहीं होता ?

***उत्तर* —** जैसा स्वरूप है, वैसा वह मानता नहीं है; इसलिए परिभ्रमण करता है और अंदर जैसा स्वरूप है, वैसा माने उसके लिए ही वह स्वरूप है। वरना तो उस स्वरूप को माने बिना तो 'वह है' — ऐसा आया कहाँ से ? इसलिए यहाँ यह कहा है कि **'प्रेक्षावतां गोचरे'** विचारवंत को वह गम्य है। जो उसे देखना चाहता है, वह देख सकता है। (उसको ज्ञात हो सके) ऐसी ही वस्तु वह है — ऐसा कहते हैं। अहा! बहुत सरस कहा है कि **'प्रेक्षावतां गोचरे।'**

अहा! पहले तो यह कहा कि आत्मा चार भावों को गम्य नहीं है। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव से आत्मा अगोचर है — ऐसा (गाथा ३८ में) आया था; परन्तु अब कहते हैं कि ज्ञानी को वह गम्य है। जो देखना चाहता है, उसको वह दिखता है, ज्ञात होता है अर्थात् जो आत्मा का अनुभव करना चाहे, वह उसके

* हिन्दी नियमसार (सोनगढ़ व जयपुर संस्करण) में 'नभमण्डल समान आकृतिवाला' के स्थान पर 'नभमण्डल समान अकृत' यह अर्थ है। — **सम्पादक**

अनुभव में आ सकता है। बहुत वर्षों पूर्व प्रश्न हुआ था कि (आत्मा) कारणपरमात्मा है तो कार्य क्यों नहीं आता ? कार्य क्यों नहीं होता ? कारण है तो उसका कार्य आना ही चाहिए ?

परन्तु भाई! किसके लिए कारणपरमात्मा है ? जो यह स्वीकार करता है कि 'कारणपरमात्मा है', उसके लिए कारणपरमात्मा है या जो मात्र पर्याय का ही स्वीकार करता है, उसके लिए कारणपरमात्मा है ? जो मात्र एकसमय की पर्याय का ही स्वीकार करता है, उसके लिए तो वह (कारणपरमात्मा) नहीं है। एकसमय की पर्याय को ही स्वीकार करनेवाला त्रिकाली द्रव्य को स्वीकार नहीं करता; इसलिए उसके लिए कारणपरमात्मा है ही नहीं। भाई! तत्त्व सूक्ष्म है, क्योंकि यह वीतरागमार्ग है।

अहा! सर्वज्ञपरमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव द्वारा कथित आत्मा ऐसा है; परन्तु 'आत्मा ऐसा है', जो ऐसी मान्यता करता है, उसके लिए वह है न! जो ऐसी मान्यता नहीं करता, उसकी मान्यता में तो एकसमय की पर्याय और राग है, इसलिए उसके लिए तो 'यह कारणपरमात्मा है' — ऐसा कहाँ आया ?

क्या कहा — यह समझ में आया या नहीं ?

आत्मवस्तु त्रिकाली ध्रुव है — एक बात। पर्याय एकसमय की है — दूसरी बात। और दो होकर पूरा तत्त्व है; परन्तु अनादि से जिसको प्रकट पर्याय का ही स्वीकार है, उसके लिए तो कारणपरमात्मा है ही कहाँ ? जो अवस्था है, वह प्रकट है। सो उस प्रकट अवस्था पर ही जिसका विश्वास है, जिसकी दृष्टि और रुचि है, उसको यह 'कारणपरमात्मा' है ही कहाँ ? उसको तो इस पर्याय का ही स्वीकार है। अहा! वह कारणपरमात्मा त्रिकाल शाश्वत है; परन्तु वह उसको गोचर होता है कि जो एकसमय की अवस्था की रुचि छोड़कर त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि और रुचि करता है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि जो वस्तु-कारणपरमात्मा को समझना चाहता है अर्थात् वस्तु का विचार करके उस ओर ढले तो समझ में आ सकनेयोग्य है; परन्तु एकसमय की अवस्था की रुचि में वह पूर्ण सामान्य ढँक गया है और उसकी रुचि में मात्र विशेष ही रह गया है।

भाई! यह बात सूक्ष्म है! यह तो अपूर्व बात है! अनन्तकाल के जन्म-मरण अर्थात् चौरासी लाख योनियों का अवतार कैसे मिटें — उसकी बात है। यह कोई सामान्य बात नहीं है, किन्तु महान और महत्त्वपूर्ण बात है।

www.vitragvani.com

अहा! भगवान आत्मा एकसमय की पर्यायरहित वस्तु है। वह अखण्डानन्द-अभेद-निर्भेद-शाश्वत वस्तु है; परन्तु जो 'है', उसकी दृष्टि करके, उसका स्वीकार करनेवाले के लिए वह है। जो उसका स्वीकार नहीं करता और पर्याय का ही स्वीकार करता है, उसके लिए वह 'है' — ऐसा कहाँ आया ? ज्ञानी कहते हैं कि 'वह है'; परन्तु अज्ञानी के लिए 'वह है' — ऐसा यथार्थरूप से कहाँ आया ? अहा! प्रभु भगवान आत्मा का-निजकारणपरमात्मा का-निजकारणजीव का स्वरूप ध्रुव चैतन्य है; परन्तु वह किसके लिए है ? जिसको उसका स्वीकार हुआ है, उसके लिए है। जिसने अन्दर जाकर, वर्तमान ज्ञान की दशा में-अवस्था में उसका स्वीकार किया, उसके लिए वह है — ऐसी अपूर्व बात है। यद्यपि उसका स्वीकार तो एकसमय की पर्याय करती है; परन्तु जब वह पर्याय अन्दर ढलती है, तब उसका स्वीकार होता है और तभी उसके लिए 'यह द्रव्य है' — ऐसा कहा जाता है। वरना तो उसकी दृष्टि में यह है कि इस पर्याय जितना ही मैं हूँ। जो एकसमय की प्रकटदशा है उसका/व्यक्त पर्याय का अनुभव तो अनादि का है अर्थात् पर्यायदृष्टि तो अनादि की है; क्योंकि उसकी दृष्टि में एकसमय की दशा के अतिरिक्त जो सम्पूर्ण चीज है, वह तो आई नहीं है, उसकी दृष्टि तो कभी की ही नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि जो '**प्रेक्षावतां**' विचारवन्त चतुर पुरुषों को गोचर है...विचारवन्त को गम्य है, चतुर पुरुषों को गम्य है, समझनेवाले को गम्य है। चैतन्यामृत से परिपूर्ण ऐसा जो शाश्वतपद है, वह विचारवन्त को अर्थात् समकिती को गम्य है। अहो! वह त्रिकाली वस्तु सम्यग्दृष्टि को गम्य है। उसने सम्यग्दर्शन में पूर्णस्वरूप भगवान आत्मा का स्वीकार किया है और इसीलिए तो उसको सम्यग्दर्शन हुआ है; इसलिए सम्यग्दृष्टि को वह गम्य है अर्थात् वह चैतन्यवस्तु ऐसी है — ऐसा अनुभव उसको होता है। अहा! जो ऐसा महा अस्तित्व है, उस महा अस्तित्व के सन्मुख दृष्टि गये बिना और ज्ञानपर्याय का वर्तमान अंश उस ओर ढले बिना 'वह है' — ऐसा जाने कौन ? इसलिए अन्तरसन्मुख होनेवाले को वह गम्य है और वही उसको मानता है-श्रद्धा करता है।

'अहा! जो विचारवन्त चतुर पुरुषों को गम्य है — ऐसे आत्मा में...'

देखो! आत्मा विचारवन्त चतुर पुरुषों को गम्य है — ऐसा कहते हैं; क्योंकि ऐसे आत्मा में.....ऐसा कहा है न! तो फिर 'ऐसे' आत्मा में तू रुचि क्यों नहीं करता। तू

www.vitragvani.com

एकसमय की पर्याय की और दया, दान के विकल्प की-राग की रुचि करता है, तो त्रिकाली द्रव्य की रुचि क्यों नहीं करता ? और वह रुचि भी तू ही नहीं करता, कोई कर्म रोकता है; इसलिए तू रुचि नहीं करता — ऐसा नहीं है।

देखो, (कलश में) भाषा है कि '**बुद्धि किं न करोषि**' अर्थात् 'ऐसे आत्मा में तू'- तू स्वयं ही 'रुचि क्यों नहीं करता ?'

***प्रश्न* —** भाई साहब! क्या करें कर्म रोकता है ? कोई कर्म रोकता होगा, इसलिए ही तो अनादिकाल से यह सब नहीं हुआ — ऐसा होगा न ?

***उत्तर* —** भाई! तू स्वयं ही विपरीत रुचि से अपने को रोकता है। भेदज्ञान करने की शक्ति रहित जो तेरी दृष्टि (विपरीत दृष्टि) है, वही तुझे रोकती है, कर्म नहीं रोकता। समयसार कलश १३१ में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है कि '**भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचनः**' अभी तक जो कोई सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही प्राप्त हुए हैं। जिन्होंने निमित्त और राग से भिन्न पड़कर पर्याय को अन्तर्सन्मुख किया है — ऐसे भेदविज्ञानी जीव ही सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं। उनको कर्म का अभाव हुआ, इसलिए भेदविज्ञान हुआ और सिद्धपद प्राप्त हुआ — ऐसा नहीं है; परन्तु वे अपने पुरुषार्थ से ही सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं। वे जीव पर और राग से भेद करके ही सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं और '**अस्यैवाभावतो बद्धा**' जो पर से और राग से भेद नहीं करते, वे भेद नहीं करने के कारण ही बँधे हैं; परन्तु किसी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म का जोर है, इसलिए वे बँधे हैं — ऐसा नहीं है।

अहा! जो त्रिकाली द्रव्य के सन्मुखता का कार्य नहीं करता वह बँधा हुआ है और जो उस ओर ढलता है, वह सिद्धपद प्राप्त करता है; इसलिए भूल अपनी ही है। 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया'; परन्तु अन्य किसी के कारण हैरान नहीं हुआ है। कर्म बिचारे कहाँ हैरान करते हैं ? चन्द्रप्रभ भगवान की पूजन में आता है कि —

करम विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई॥

जिसप्रकार अग्नि ने लोहे का संग किया है तो उस पर घन पड़ते है; परन्तु यदि अग्नि लोहे का संग नहीं करे तो उस पर कोई घन नहीं मारता; उसीप्रकार आत्मा अपने

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

विपरीत पुरुषार्थ से कर्म के संग जुड़ता है तो मार पड़ती है; परन्तु कर्म निमित्त है, इसकारण जीव में मिथ्यात्व होता है — ऐसा नहीं है। जीव विपरीत दृष्टि करता है, इसलिए मिथ्यात्व होता है।

यहाँ कहते हैं कि अरे! '**ऐसे आत्मा में...**' जो कि समझदार चतुर पुरुष को समझ में आता है — ऐसे आत्मा में 'तू रुचि क्यों नहीं करता ?' देखो! मुनिराज ने तो 'तू रुचि क्यों नहीं करता' — यह कहा है; परन्तु यह नहीं कहा है कि कर्म रोकते हैं; इसलिए तू रुचि नहीं करता।

भगवान! तुझे सत्य का पता नहीं है। अहा! यह शरीर तो चमड़ा है, मिट्टी-जड़ है, अजीवतत्त्व है। इसमें कहाँ आत्मा है ? क्या यह शरीर आत्मा है ? (नहीं) और अंदर होनेवाले पुण्य-पाप के भाव भी क्या आत्मा हैं ? नहीं, क्योंकि वे तो आस्रव हैं। शुभाशुभभाव तो आस्रवतत्त्व हैं; इसलिए तू उन रूप कहाँ है ? वे भाव कहाँ तेरा तत्त्व हैं ? और आस्रवतत्त्व को जाननेवाली वर्तमान प्रकट अवस्था भी एकसमय की दशा है, इसकारण वह भी पूर्णतत्त्व कहाँ है ? भगवान! तू कहाँ उसमें है ?

अहा! ये सब शरीर, वाणी, मन तो जड़ हैं, अजीवतत्त्व हैं। वे तो अजीव होकर ही रहे हैं। क्या वे तेरे होकर रहे हैं ? तथा आत्मा तो अरूपी है, तो क्या वे अरूपी होकर रहे हैं कि जिससे तू उनको अपना कहता है ? वे तो रूपी होकर रहे हैं; फिर भी तू कहता है कि वे मेरे हैं, मूढ़ है। इसीप्रकार एकसमय के राग को निज माननेवाला भी मूढ़ है; क्योंकि राग तो रागरूप-आस्रवरूप होकर रहा है। राग कहाँ आत्मारूप होकर रहा है; इसलिए उस राग के विकल्प को भी निज माननेवाला मूढ़ ही है तथा राग को जाननेवाली प्रकट अवस्था भी अंशरूप होकर रही है। वह कहाँ त्रिकाली द्रव्यरूप होकर रही है ? इसलिए अपने को उस राग को जाननेवाली प्रकट अवस्थारूप माननेवाला भी मूढ़ है। भाई! तू एकसमय की दशा में भी नहीं आया है।

बापू! वीतरागमार्ग ऐसा है और ऐसा मार्ग अन्य कहीं नहीं है। वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कहीं भी वस्तु की ऐसी रीति और पद्धति नहीं हो सकती। वस्तु ही ऐसी है और जैसी वस्तु है वैसा ही कथन-प्रतिपादन भगवान की वाणी में आया है।

यहाँ कहते हैं कि जो शाश्वतपद है, जिसमें अंदर गहरे उतरने पर ज्ञात होता है कि

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

वह सुख से बना हुआ अर्थात् सुखस्वरूपी है, जो निराकार है और जो ज्ञानियों को गम्य है, जो उसको गम्य करना चाहता है, उसको गम्य है — 'ऐसे आत्मा में तू रुचि क्यों नहीं करता ?' अहा! दिगम्बर मुनियों की बात अद्भुत है! दिगम्बर संतों की गाथाएँ, टीका और कलश अद्भुत से अद्भुत हैं!! देखो न! एक-एक कलश में कितनी बात भर दी है! शब्द थोड़े हैं; परन्तु भाव बहुत भर दिये हैं। गागर में सम्पूर्ण सागर भर दिया है!

भगवान...! मुनिवर तो आत्मा को भगवान कहकर ही बुलाते हैं। भगवान! तू तो त्रिकाली आनन्दकन्द है न नाथ! तेरा स्वरूप तो अकृत्रिम, निराकार, शुद्ध, शाश्वत सुख से बना और चैतन्य के अमृत से भरपूर भरा है — ऐसा तू है; फिर भी तू ऐसी वस्तु की रुचि क्यों नहीं करता ? और तुझको राग क्यों रुचता है ? निमित्त क्यों रुचता है ? एकसमय की पर्याय क्यों रुचती है ?

देखो! इस ३९वीं गाथा की टीका के प्रारंभ में कहा है कि '**निर्विकल्पतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्**' 'यह निर्विकल्पतत्त्व के स्वरूप का कथन है' अर्थात् यह अभेदस्वरूप का कथन है। प्रभु भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द और चैतन्यामृत से भरपूर सागर है। वह शाश्वत और ज्ञानभाव में ज्ञात होनेयोग्य है। वह ज्ञात न हो — ऐसा नहीं है; क्योंकि उसमें प्रमेयत्व नामक गुण है। ज्ञान में ज्ञात हो-प्रमेय हो वह ऐसा है। भगवान आत्मा में एक प्रमेयत्व नामक गुण होने से आत्मा ज्ञानपर्याय में प्रमेय होता है अर्थात् तेरी पर्याय ही ऐसी है कि उसमें आत्मा प्रमेय हो सकता है। अहा! पर्याय प्रमेय है और त्रिकाली द्रव्य भी प्रमेय है अर्थात् एकसमय की पर्याय भी प्रमेय का एक भाग है और त्रिकाली द्रव्य भी प्रमेय का एक भाग है; फिर भी अज्ञानी अनादि से एकसमय की पर्याय को ही प्रमेय करके बैठा है। प्रमेय तो पूरा तत्त्व है। इसलिए यदि उस त्रिकाली पूर्णतत्त्व को समझना चाहे तो समझा जा सकता है। वह समझ में नहीं आवे — ऐसा है ही नहीं। वह त्रिकाली तत्त्व ही ऐसा है कि समझा जा सकता है — ऐसा यहाँ कहते हैं।

भगवान! प्रभु! तू आनन्द का सागर है न! तो फिर तू ऐसे आत्मा की रुचि क्यों नहीं करता ? और तुझको यह राग रुचता है ? यह स्त्री-प्रतिष्ठा-पैसा रुचता है, तुझको हुआ क्या है ? आत्मा को छोड़कर, यह पुत्र, मकान, मोटर मेरे हैं — ऐसी रुचि तू क्यों करता है ?

श्रोता — पर-पदार्थ की रुचि तो हो ही जाती है ?

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री — भाई! रुचि तू करता है तो होती है। परवस्तु तो पर है; परन्तु रुचि तो तू करता है न कि यह पर मेरा है ? यहाँ तो कहते हैं कि तब फिर तू ऐसी रुचि क्यों नहीं करता कि यह त्रिकाली भगवान आत्मा मेरा है — ऐसा कहकर दोष अज्ञानी पर डाला है और यह कहना है कि उसमें किसी अन्य का रंचमात्र भी दोष नहीं है।

यहाँ कहा है कि ऐसे आत्मा में तू रुचि क्यों नहीं करता ? और अब इसके समक्ष कहते है कि **'और दुष्कृतरूप संसार के सुख की वांछा क्यों करता है ?'** अरे! तुझको, जो चीज दुष्कृत है, उसकी इच्छा अर्थात् इच्छा की इच्छा, राग की इच्छा, भोग की इच्छा और मान-प्रतिष्ठा की इच्छा क्यों होती है ? अहा! आत्मा तो महासुकृत का भण्डार ऐसा भगवान है। जबकि ये स्त्री, पुत्र, परिवार, पैसा, मान-प्रतिष्ठा और पुण्य-पाप के भाव तो दुष्कृत हैं। अत: जो दुष्कृतरूप संसार है, उसके सुख को क्यों चाहता है ? अरेरे! तुझको बाहर की वस्तु में प्रसन्नता क्यों आती है ? तुझको आत्मा के ध्रुवस्वभाव के अतिरिक्त बाह्यवस्तुओं और रागादि पर्याय में प्रसन्नता होती है, तेरा वीर्य वहाँ उल्लिसित होता है और वहाँ तू मजा मानता है — यह तुझे क्या हुआ है ?

अरेरे! दुष्कृतरूप संसारसुख की वांछा क्यों करता है। भगवान! यह मान-प्रतिष्ठा, पैसा, रूपवान और सुहावना शरीर आदि तो सब दुष्कृत के निमित्त हैं अर्थात् वे तो दुष्कृतरूप संसार का कारण है; तो फिर तू ऐसे दुष्कृतरूप संसार के सुख की वांछा क्यों करता है ?

***प्रश्न* —** संसार में सुख है तो अवश्य ?

***उत्तर* —** अज्ञानी संसार में सुख मानता है; परन्तु उसमें कभी रंचमात्र भी सुख था ? अज्ञानी ने संसार में सुख माना है; परन्तु सुख तो आत्मा में है। अज्ञानी आत्मा में तो सुख नहीं मानता और जिसमें सुख नहीं है, उसमें सुख मानता है। अत: यहाँ कहते हैं कि जिसमें सुख नहीं है, उसमें तू सुख क्यों मानता है ? यहाँ मुख्यरूप से यह बात कहना है।

***प्रश्न* —** तो इसमें बाबा करने की बात है ?

***उत्तर* —** तू बाबा ही है, सुन! यहाँ भगवान होने की बात है।

द्रव्य से तो प्रत्येक आत्मा भगवान है ही और उस जैसा ही पर्याय में होना है। यहाँ

www.vitragvani.com

भी यही कहते हैं कि तेरा भगवान आत्मा शाश्वत है तथा विचारवन्त को गम्य हो सकने योग्य वस्तु है; इसलिए वह ज्ञात न हो सके, न माना जा सके या अनुभव न किया जा सके — ऐसी वस्तु ही नहीं है। वाह! मुनिराज का कलश तो देखो! ये पद्मप्रभमलधारिदेव दिगम्बर मुनि थे। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की गाथाओं के टीकाकार ये दिगम्बर संत ७०० वर्ष पूर्व हो गये हैं। समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय — इन तीन शास्त्रों की टीका तो अमृतचन्द्राचार्यदेव ने की है और नियमसार की टीका इन्होंने की है। कितने ही अज्ञानीजनों को यह मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव की टीका रुचिकर नहीं लगती। इन्होंने स्पष्ट बात की है न! इसलिए अज्ञानी को उनकी बात नहीं रुचती और वे कहते हैं कि नहीं, नहीं, यह टीका नहीं है; यह तो मुनि की टीका है, आचार्य की नहीं ? परन्तु भाई! आचार्य, मुनि अथवा समकिती — सब एक ही बात कहते हैं। सुन! जैसे कि क्या तिर्यंच के समकित और सिद्ध के समकित में अन्तर है ? सम्यग्दर्शन तो तिर्यंच का हो या सिद्ध का, समान ही है तथा दोनों के सम्यग्दर्शन का विषय भी समान ही है।

यहाँ कहते हैं कि अरेरे! ऐसे आत्मा की रुचि क्यों नहीं करता ? ऐसा कहकर मुनिराज जरा उलाहना देते हैं। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले वनवासी दिगम्बर संत-मुनि, जो कि पंचपरमेष्ठी में समाहित हैं, वे कहते हैं कि अरे प्रभु! आत्मा ऐसा है न भाई! आत्मा शाश्वत है और उसमें गहरे उतरने पर वह अकेले सुख से बना है — ऐसा ज्ञात होता है। अन्दर आत्मा में प्रवेश करने पर सुख प्राप्त होता है; वरना बाहर में कहाँ सुख है ? तथा वह अरूपी है, निराकार है, चैतन्यामृत से भरपूर भरा है और ज्ञानियों को गोचर है अर्थात् जो आत्मा को समझना चाहे, समझ में आ सकता है — ऐसा है। अरे! आत्मा ऐसा होने पर भी तू उसमें रुचि क्यों नहीं करता ? मकान, पैसा आदि पर में सुख है — ऐसा मानकर उनकी चिन्ता क्यों करता है ?

अरेरे! 'दुष्कृतरूप संसार के सुख को .....' देखो! संसार के सुख के पहले दुष्कृत विशेषण दिया है अर्थात् यह पैसा-धूल का जो सुख है, वह दुष्कृतरूप संसार का सुख है।

प्रश्न — पुण्य के परिणाम में तो सुख है न, हित है न ?

उत्तर — अरेरे! वह तो दुष्कृत है; फिर भी उसमें सुख की वांछा क्यों करता है, उसको क्यों चाहता है ? ●

नियमसार गाथा-४०

णो ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा॥४०॥

न स्थितिबंधस्थानानि प्रकृतिस्थानानि प्रदेशस्थानानि वा।
नानुभागस्थानानि जीवस्य नोदयस्थानानि वा॥४०॥

(हरिगीत)

नहिं प्रकृति स्थान-प्रदेश स्थान न और स्थिति-बन्धस्थान नहिं।
नहिं जीव के अनुभागस्थान तथा उदय के स्थान नहिं॥४०॥

गाथार्थ :— जीव को स्थितिबन्धस्थान नहीं हैं, प्रकृतिस्थान नहीं हैं, प्रदेशस्थान नहीं हैं, अनुभागस्थान नहीं हैं अथवा उदयस्थान नहीं हैं।

टीका :— यहाँ (इस गाथा में) प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध के स्थानों का तथा उदय के स्थानों का समूह जीव को नहीं है — ऐसा कहा है।

सदा निरुपराग[१] जिसका स्वरूप है — ऐसे निरंजन (निर्दोष) निज परमात्मतत्त्व को वास्तव में द्रव्यकर्म के जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्थान नहीं हैं। ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों में के उस-उस कर्म के योग्य ऐसा जो पुद्‍गलद्रव्य का स्व-आकार वह प्रकृतिबन्ध है; उसके स्थान (निरंजन निज परमात्मतत्त्व को) नहीं है। अशुद्ध अन्तःतत्त्व के (अशुद्ध आत्मा के) और कर्मपुद्‍गल के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश वह प्रदेशबन्ध है; इस बन्ध के स्थान भी (निरंजन निज परमात्मतत्त्व को) नहीं है। शुभाशुभकर्म की निर्जरा के समय सुख-दुःखरूप फल देने की शक्तिवाला वह अनुभागबन्ध है; इसके स्थानों का भी अवकाश (निरंजन निज परमात्मतत्त्व में) नहीं है और द्रव्यकर्म तथा भावकर्म के उदय के स्थानों का भी अवकाश (निरंजन निज परमात्मतत्त्व में) नहीं है।

इसप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में ११वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

---

१. निरुपराग=उपराग रहित। (उपराग=किसी पदार्थ में, अन्य उपाधि की समीपता के निमित्त से होनेवालो उपाधि के अनुरूप विकारी भाव; औपाधिकभाव; विकार; मलिनता।)

www.vitragvani.com

(मालिनी)

''न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावदयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्॥''

(वीरछन्द)

जिसमें बद्धस्पृष्ट आदि सब भाव सदा ऊपर तिरते।
फिर भी वे चैतन्यरूप में कभी प्रतिष्ठित नहिं होते॥
अहो जगतजन! मोह रहित होकर निज का अनुभवन करो।
सर्व ओर से सदा प्रकाशित सम्यक् एक स्वभाव लखो॥

श्लोकार्थ :— जगत मोहरहित होकर सर्व ओर से प्रकाशमान ऐसे उस सम्यक् स्वभाव का ही अनुभवन करना चाहिए कि जिसमें यह बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव उत्पन्न होकर स्पष्टरूप से ऊपर तैरते होने पर भी वास्तव में स्थिति को प्राप्त नहीं होते।

और (४०वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं)—

(अनुष्टुभ्)

नित्यशुद्धचिदानन्दसंपदामाकरं परम्।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम्॥५६॥

(वीरछन्द)

नित्य शुद्ध जो चिदानन्दमय सम्पत्ति की खान महान।
जो अत्यंत अपद विपदा को उसका अनुभव करूँ सुजान॥५६॥

श्लोकार्थ :— जो नित्य शुद्ध चिदानन्दरूपी सम्पदाओं की उत्कृष्ट खान है तथा जो विपदाओं का अत्यन्तरूप से अपद है (अर्थात् जहाँ विपदा बिलकुल नहीं है) ऐसे इसी पद का मैं अनुभव करता हूँ।॥५६॥

(वसंततिलका)

यः सर्वकर्मविषभूरुहसंभवानि
मुक्त्वा फलानि निजरूपविलक्षणानि।
भुंक्तेऽधुना सहजचिन्मयमात्मतत्त्वं
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति संशयः कः॥५७॥

www.vitragvani.com

(वीरछन्द)

निज से भिन्न तथा कर्मों के विषवृक्षों के फल को त्याग।
सहज चिदातम का भोक्ता जो क्या संदेह लहे निर्वाण॥५७॥

श्लोकार्थ :— (अशुभ तथा शुभ) सर्व कर्मरूपी विषवृक्षों से उत्पन्न होनेवाले, निजरूप से विलक्षण ऐसे फलों को छोड़कर जो जीव इसीसमय सहजचैतन्यमय आत्मतत्त्व को भोगता है, वह जीव अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है — इसमें क्या संशय है?।।५७।।

गाथा ४० की टीका पर प्रवचन

गोम्मटसार में कर्म के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागबंध इत्यादि की बात आती है न! तो वे आत्मा में नहीं हैं, जड़ में हैं — ऐसा यहाँ कहते हैं।

यहाँ (इस गाथा में) प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के स्थानों का तथा उदय के स्थानों का समूह जीव को नहीं है — ऐसा कहा है।

आठ कर्म हैं, उनकी प्रकृति अर्थात् उनका स्वभाव, स्थितिबंध अर्थात् काल, अनुभागबंध अर्थात् रस और प्रदेशबंध (अर्थात एकसमय में बंधने योग्य कर्म परमाणुओं की संख्या।) भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु है और उसमें कर्म के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंध के स्थान नहीं हैं, क्योंकि जीव में कर्म ही नहीं है, कर्म तो जड़ है, इसलिए जड़कर्म के प्रकृतिबंध, स्थितिबंध आदि सब भी जड़ हैं; अतः वह जड़ भगवान आत्मा में है ही नहीं।

अब विशेष बात लेते हैं कि वह जड़ तो आत्मा में नहीं है; परन्तु उसके उदय से पड़नेवाले विकार के उदय के भंग तो आत्मा में हैं न ? भाई! वह '**उदय के स्थानों का समूह जीव को नहीं है।**' पहले जड़ की बात ली है कि जड़ (अर्थात् कर्म के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागबंध) जीव में नहीं हैं। अब कहते हैं कि जड़ के निमित्त से होनेवाला उदयभाव भी जीव में नहीं है। वे उदयभाव के स्थान चिदानन्द ज्ञायकभाव ऐसे प्रभु आत्मा में कहाँ से आये ?

अहा! यहाँ दो बातें ली गई हैं —

१. कर्म के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंध तथा

२. उदयस्थान (जीव में नहीं हैं) — ऐसी दो बातें ली हैं।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अब यह बात तो सत्य है कि जड़कर्म के प्रकृति आदि तो आत्मा में नहीं हैं; परन्तु जड़ के-निमित्त के संबंध से होनेवाला विकार तो आत्मा में है न ? तो कहते हैं कि नहीं, वह विकार भी वस्तु में नहीं है; क्योंकि वह विकार एकसमय की पर्याय में है और पर्याय वस्तु में नहीं है। अहा! वे प्रकृति, स्थिति आदि तो आत्मा की एकसमय की पर्याय में भी नहीं हैं; क्योंकि वे तो पर हैं; परन्तु उनके संबंध में अर्थात् दोनों का (जीव व कर्म का) निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से जो विकार उत्पन्न होता है, जो शुभाशुभभाव के उदय के प्रकार हैं, वे एकसमय की पर्याय के अस्तित्व में होने पर भी त्रिकाली वस्तु में नहीं हैं।

अहा! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु है। पण्डित बनारसीदासजी कृत 'समयसार नाटक' में आता है कि -

चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्धसमान सदा मेरौ।
मोह महातम आतम अंग, कियौ परसंग महातम घेरौ।।
ज्ञानकला उपजी अब मोहि, कहौ गुन नाटक आगम करौ।
जासु प्रसाद सधै सिवमारग, बेगि मिटै भववास बसेरौ॥

मैंने स्वयं पर के संग से मोह उत्पन्न किया है। अरे! इसको ऐसा मनुष्यभव भव के अभाव के लिए प्राप्त हुआ है। यह भव भव का अभाव करने के लिए है; परन्तु भव में रहने अथवा भव बढ़ाने के लिए यह भव नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि जो निमित्तरूप कर्म है, वह तो आत्मा में नहीं है; परन्तु कर्म के निमित्त के संबंध से उत्पन्न विकृतभाव भी त्रिकालीवस्तु भगवान आत्मा में नहीं है। जिसमें विकार नहीं है — ऐसे भगवान आत्मा की दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है। भाई! ऐसी अद्भुत बात है।

कैसा है वह त्रिकाली भगवान आत्मा ?

(५) 'सदा निरुपराग जिसका स्वरूप है — ऐसे निरंजन (निर्दोष) निज परमात्मतत्त्व को वास्तव में द्रव्यकर्म के जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्थान नहीं हैं।'

'निरुपराग' अर्थात् विकारीभाव में जो वस्तु निमित्त है, वह उपाधि है और उसके अनुरूप जो विकारीभाव-औपाधिकभाव-मलिनता है, वह उपराग है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

इस बात को अधिक विस्तार से समझना पड़ेगा।

आत्मा का स्वरूप निरुपराग है। निरुपराग याने उपराग रहित। तो उपराग याने क्या ? कि '**किसी पदार्थ में अन्य उपाधि की समीपता के निमित्त से होनेवाला उपाधि के अनुरूप विकारीभाव।**' जैसे कि स्फटिक में फूल के निमित्त से होनेवाली फूल के अनुरूप लाल आदि झाईं। स्फटिक में लाल आदि झाईं होती है, वह फूल के निमित्त के अनुरूप विकारीभाव है और उस भाव को अर्थात् उस औपाधिकभाव को उपरागभाव कहते हैं। उसीप्रकार निमित्तरूप कर्म की अनुकूलता में होनेवाले अर्थात् वह निमित्तरूप कर्म अनुकूल है, उसके अनुरूप जीव में होनेवाले विकार को उपराग कहते हैं। सो वह निमित्तरूप कर्म तो आत्मा में नहीं है; परन्तु उस निमित्त के अनुरूप होनेवाला विकार भी आत्मा में नहीं है; इसलिए ऐसे उपराग से रहित होने से आत्मा निरुपराग है।

जैसे स्फटिक मणि के समीप लाल-पीला फूल हो तो वह फूल निमित्त है, उपाधि है और उस फूल के अनुरूप अन्दर में जो लाल-पीला रंग होता है, वह लाल-पीला रंग उपराग है। ऐसा होने पर भी वह स्फटिक मणि तो उपराग रहित है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के कर्म का निमित्तपना उपाधि है अर्थात् कर्म निमित्त है, वह उपाधि है और वह तो पर में है। अब कहते हैं कि उस कर्म के अनुरूप जो विकारभाव होता है, वह उपराग, मलिनता, विकार, औपाधिकभाव है और त्रिकाली द्रव्य में वह उपराग भी नहीं है।

इसप्रकार यहाँ तीन बोल कहे गये हैं —

१. निमित्त अर्थात् उपाधि। निमित्त कहो या उपाधि कहो एक ही है। जैसे स्फटिक के लाल-पीला फूल उपाधि है।

२. उस उपाधि के अनुरूप अर्थात् उस निमित्त के अनुरूप अंदर जो लाल-पीला रंग होता है, उसको उपराग, मलिनता कहा जाता है।

३. तो भी वह स्फटिक मणि उपराग रहित है।

इसीप्रकार चैतन्य स्फटिक मणि भगवान आत्मा के विषय में —

१. जड़कर्म है, वह निमित्त है, उपाधि है।

२. उस निमित्तरूप-उपाधिरूप कर्म के संग से उसकी पर्याय में कर्म के अनुरूप होनेवाला पुण्य-पाप का-शुभाशुभभाव का विकार सो नैमित्तिक है, उपराग है,

www.vitragvani.com

मैल है। निमित्त अनुकूल और नैमित्तिक अनुरूप है।

३. तो भी त्रिकाली चैतन्यतत्त्व में वह अनुरूप विकार नहीं है। ऐसा जो (निरुपराग) शाश्वतपद है, वहाँ दृष्टि करनेयोग्य है; क्योंकि निधान तो वह है।

अहा! '**सदा निरुपराग जिसका स्वरूप है — ऐसे निरंजन (निर्दोष) निजपरमात्मतत्त्व को**'....देखो! यहाँ भगवान का आत्मा — ऐसा नहीं कहा है; परन्तु अपना '**निजपरमात्मतत्त्व**' — ऐसा कहा है। निज+परमात्म+तत्त्व=निजपरमात्मतत्त्व=अपना परमात्मस्वरूपमय तत्त्व अर्थात् त्रिकाली ज्ञायकभाव, परमपारिणामिकभाव, वस्तु के स्वरूप की त्रिकाली अस्ति। ऐसे '**निजपरमात्मतत्त्व को वास्तव में द्रव्यकर्म के जघन्य, मध्यम अथवा उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्थान नहीं हैं**', जिसको स्थिति अर्थात् काल की मर्यादा ही नहीं है, उसको कर्म की स्थिति कैसी। वह भगवान आत्मा तो अनादि-अनन्त है, इसलिए उसमें यह कर्मबंध की स्थिति नहीं है। कर्म की स्थिति जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट होती है। जघन्य अर्थात् न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट अर्थात्, सर्वाधिक स्थिति, सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर और मध्यम स्थिति अर्थात् जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बीच की स्थिति — ये सब स्थिति के स्थान, विकाररहित निजकारणप्रभु चैतन्यपरमात्मतत्त्व निज भगवान आत्मा में नहीं है।

अरे! हमारे आत्मस्वभाव में विभाव नहीं है, हमारे भगवान आत्मा में विभाव नहीं हैं, तब फिर उसकी क्या चिन्ता ? जो भाव आत्मा में नहीं है, उसकी हमको क्या चिन्ता ? ऐसा कलश ३४ में आ गया है न! परन्तु यह बात किसके लिए है ? जिसको आत्म-स्वभाव ज्ञात हुआ है अर्थात् जिसने आत्मज्ञान किया है, उसके लिए यह बात है; क्योंकि उसने जाना है कि आत्मा में विभाव नहीं है।

यहाँ कहते है कि कर्म की जो स्थिति बँधती है, उस निमित्त के अनुरूप उपादान में जो दशा-योग्यता है, वह त्रिकाली स्वरूप में नहीं है। कर्म में जैसे स्थितिबंध, प्रदेशबंध आदि होते हैं, उसरूप की दशा जीव के अन्दर-पर्याय में भी होती है। तात्पर्य यह है कि उसप्रकार की स्थिति आदि का उपादानपना-अनुरूपपना जीव की पर्याय में होता है। इसप्रकार कर्म में निमित्तरूप की-अनुकूलरूप की स्थितिबंध आदि होती है और जीव की पर्याय में उपादानरूप की, अनुरूपपने की स्थिति होती है — ऐसा होने पर भी वह सब त्रिकाली स्वरूप में नहीं है — ऐसा यहाँ कहते हैं।

६. '**ज्ञानावरणादि...**' जड़ आठ कर्म हैं न! तो उन '**अष्टविध**' आठप्रकार के '**कर्मों**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

में के उस-उस कर्म के योग्य ऐसा जो पुद्गलद्रव्य का स्व आकार वह प्रकृतिबंध है।' स्व-आकार=उसका अपना स्वरूप। प्रकृति, वह पुद्गल का स्वरूप है, पुद्गल का स्वभाव है; इसलिए प्रकृति को पुद्गल का स्व आकार कहा है अर्थात् यहाँ पुद्गलद्रव्य के स्वभाव को प्रकृतिबंध कहते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि की प्रकृति पुद्गल का स्वभाव है न! इसलिए प्रकृति को पुद्गल का स्व-आकार स्वरूप कहा है और '**उसके स्थान**'-प्रकृतिबंध के भेद '(**निरंजन निजपरमात्मतत्त्व को**) **नहीं है।**' टीका की पहली पंक्ति में निरंजन निजपरमात्मतत्त्व को....कहा था; अतः ये शब्द सभी बोलों में ले लेना चाहिए। यहाँ कहा है कि निरंजन निजपरमात्मतत्त्व में प्रकृतिबंध के स्थान नहीं हैं अर्थात् भगवान आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में प्रकृति का स्वभाव नहीं है।

प्रश्न — शास्त्रों में तो बहुत बार आता है कि केवली के चार कर्म शेष रहे हैं और संसारी के आठ कर्म होते हैं ?

उत्तर — यह सब तो निमित्तपने का ज्ञान कराने के लिए है। वरना कर्म वस्तु में कहाँ है ? यहाँ तो उसके अलावा यह भी कहते हैं कि अनुकूल प्रकृति के अनुरूप ऐसी जो दशा (पर्याय) है, वह भी वस्तु में नहीं है। अहा! प्रकृति तो पर में हैं; परन्तु जीव की पर्याय में उसके अनुरूप जो योग्यता का भाव है-जो विकृतपना है, वह भी वस्तु में नहीं है।

क्या कहा, समझ में आया ?

कि कर्म के स्थितिबंध और प्रकृतिबंध आत्मा में नहीं हैं — ऐसा जो कहा है, वह अकेले निमित्त की बात नहीं है। अभी कहेंगे कि आत्मा में उदय स्थान नहीं हैं; तो उसका अर्थ यह है कि कर्मरूप निमित्त के अनुरूप ऐसी जो स्थिति आदि की योग्यता की पर्याय है, वह भी आत्मा में नहीं है। अहा! कर्म की स्थिति आदि बँधती है, वह तो कर्म में रही; परन्तु उस कर्म के अनुरूप-नैमित्तिकरूप की योग्यता जीव की पर्याय में है या नहीं? (हाँ, है।) दूसरे प्रकार से कहें तो, कर्म के स्थितिबंध आदि तो कर्म में हैं; (परमार्थ से) उनके साथ जीव का क्या संबंध है ? (कोई संबंध नहीं है।) फिर भी आत्मा को पर्याय में निमित्त ऐसी प्रकृति को-उपाधिरूप प्रकृति को-अनुरूप स्थिति आदि की योग्यता का भाव है और फिर भी वह भाव भगवान निजपरमात्मतत्त्व में नहीं है।

७. '**अशुद्ध अन्तःतत्त्व के और कर्म पुद्गलों के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश वह**

www.vitragvani.com

प्रदेशबंध है।' पर्याय अशुद्ध अन्त:तत्त्व है। पर्याय के और कर्म के निमित्त-नैमित्तिक संबंध है; इसलिए परस्पर प्रवेश — ऐसा कहा है तथा जड़कर्म का संबंध पर्याय के साथ ही है, शुद्धद्रव्य के साथ कोई संबंध नहीं है।

देखो! यहाँ 'अशुद्ध' शब्द है अर्थात् पर्याय अशुद्ध है — ऐसा कहा है। इसका अर्थ यह है कि जितने कर्म पुद्गल के प्रदेश हैं-कर्म में परमाणुओं की जितनी संख्या है-उसप्रकार की ही यहाँ आत्मा की पर्याय में योग्यता है; तथापि नैमित्तिक में (जीव की पर्याय में) वह योग्यता स्वयं के कारण है और निमित्त (कर्म) उसके स्वयं के कारण है।

विक्रम संवत् १९८४ में वीरजीभाई ने यह प्रश्न किया था कि निगोद के जीव के इतने कर्म हैं — ऐसा कहा जाता है; परन्तु वे तो जड़ में हैं, तो जीव में (उससमय) क्या लेना ? उत्तर देते हुए (हमने) उससमय कहा था कि वहाँ कर्म में जैसी योग्यता है; वैसी ही उसके अनुकूल योग्यता यहाँ जीव में है। जीव कर्म को अनुकूल (निमित्त) है और उसीप्रकार कर्म भी जीव को अनुकूल (निमित्त) है। यद्यपि निमित्त तो निमित्तरूप ही रहा है, वह कहीं आत्मा का स्पर्श नहीं करता है। आठों ही कर्म की प्रकृति स्वयं के (कर्म के) कारण से आई है और वह जीव की पर्याय की योग्यता का कारण (निमित्त) है। जीव में तो उस योग्यता का भी अभाव है और ऐसे निज भगवानरूप निजपरमात्मतत्त्व की दृष्टि करनेयोग्य है, जिसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

अहा! यहाँ यह बात चल रही है कि 'शुद्धभाव' किसको कहते हैं। आत्मा का जो त्रिकाली, शुद्ध, ध्रुव, नित्यानन्दस्वभाव है, उसको यहाँ 'शुद्धभाव' कहते हैं। जिसमें संयोगी वस्तु नहीं है, जिसमें पुण्य और पाप के भाव नहीं हैं तथा जिसमें एकसमय की व्यक्त-प्रकट अवस्था भी नहीं है — ऐसा जो अपना निजपरमात्मस्वभाव है, उसको यहाँ 'शुद्धभाव' कहा गया है और वह 'शुद्धभाव' सम्यग्दर्शन का विषय है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के पंथ में सम्यग्दर्शन धर्म की पहली सीढ़ी है। वह सम्यग्दर्शनरूपी पहली सीढ़ी त्रिकाली द्रव्यस्वभाव — ऐसे निरंजन निजपरमात्मतत्त्व की अन्तर्दृष्टि करने से प्राप्त होता है अर्थात् जिस श्रद्धा में पूर्णानन्दस्वभाव की प्राप्ति होती है, उस श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसी बात है!

देखो! ऊपर 'शुद्धभाव' लिखा है न! तो शुद्धभाव याने क्या ? अशुद्ध पुण्य-पाप के भाव तो शुद्धभाव नहीं हैं तथा अशुद्धता से रहित आत्मा के आश्रय से प्रकट होनेवाली

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

निर्मलदशा भी शुद्धभाव नहीं है। तात्पर्य यह है कि यहाँ पर्यायरूप शुद्धभाव की बात नहीं है; परन्तु भगवान आत्मा, जो कि एक सैकेण्ड के असंख्यातवें भाग में पूर्ण ध्रुव स्वरूप निजपरमात्मा है, उसको यहाँ 'शुद्धभाव' कहा गया है।

अहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने जैसा आत्मा देखा है, वैसा पूर्णरूप से प्राप्त किया है और उसकी ही बात उनकी दिव्यध्वनि में आई है कि प्रभु! यह तेरी चीज है! अरे! तू संसार की चौरासी लाख योनियों के अवतार की जन्म-मरण की दु:खमय घाणी में पिलता है! उन चौरासी लाख योनियों में स्वर्ग का भव हो या अरबपति सेठ का भव हो, वे सब प्राणी दु:खी हैं। अपने शुद्धभाव का आश्रय लिये बिना जितने पुण्य-पापभाव के विकल्प होते हैं, वे सब दु:ख के अंगारे हैं, आकुलता है; परन्तु इसको भान नहीं है, यह मूढ़ है, अपना पता नहीं है कि मेरी दशा में क्या है और मेरे स्वभाव में क्या है ? इन दोनों बातों का इसको पता नहीं है।

अहा! अपनी पर्याय में शरीर, वाणी, कर्म और अन्य पर-चीजें तो हैं ही नहीं; परन्तु त्रिकाली शुद्धभाव भी उसमें नहीं आया है। उसकी अवस्था में (पर्याय में) दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजादि के भाव हैं अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, विषयादि के भाव हैं; परन्तु वे दोनों प्रकार के भाव आकुलता और दु:खरूप हैं, इसलिए वह दु:खी है; परन्तु अरे! उसको पता नहीं है कि दु:ख कहाँ है, दु:ख क्यों होता है और दु:ख का अभाव कैसे करना ? वह तो बाहर की प्रवृत्ति से-किंचित् दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि की प्रवृत्ति से दु:ख मिटना मानता है; परन्तु भाई! वह प्रवृत्ति ही दु:खरूप है। अरे! दुनिया का मार्ग अलग है और सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने गणधरों और सौ इन्द्रों के समक्ष दिव्यध्वनि के द्वारा जो तत्त्व कहा है, वह कोई अलग चीज है।

८. यहाँ कहते हैं कि '**शुभाशुभकर्म की निर्जरा के समय सुख-दु:खरूप फल देने की शक्तिवाला वह अनुभागबंध है, उसके स्थानों का भी अवकाश** (**निरंजन निजपरमात्मतत्त्व में**) **नहीं है।**' जहाँ दृष्टि देने से सम्यग्दर्शन होता है, वह ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा निजपरमात्मा ही है अर्थात् आनन्दनिधान, आनन्दकन्द और शुद्धरूप ध्रुव आत्मा को निजपरमात्मा कहते हैं। ऐसे निजपरमात्मतत्त्व में कर्म के अनुभाग के स्थान नहीं हैं अर्थात् रसदान शक्तिरूप स्थान-भाग उसमें नहीं है।

प्रश्न — कर्म तो आत्मा में है ?

***उत्तर* —** वह तो व्यवहारनय का कथन है। बाकी भगवान आत्मा में कर्म है ही नहीं तथा कर्म का जो अनुभाग है, फल देने की शक्ति है, वह भी अपनी चीज में (आत्मा में) नहीं है। देखो! टीका में है कि 'निरंजन निजपरमात्मतत्त्व में नहीं है।' निरंजन=निर्दोष, निज=अपना, परमात्मतत्त्व=परमात्मस्वरूप, परमात्मस्वभाव। अहा! आत्मा आनन्दकन्द, जिनस्वरूप, वीतरागमूर्ति है अर्थात् आत्मा का स्वभाव तो वीतरागी जिनबिम्ब है; जबकि ये बाह्य जिनबिम्ब तो व्यवहार है। अहा! अपना ध्रुवस्वरूप जिनबिम्बरूप है अर्थात् यह आत्मा तो वीतरागमूर्ति है और ऐसे निजपरमात्मतत्त्व में दृष्टि देने से, उसमें अनुभाग के स्थान नहीं हैं — ऐसा ज्ञात होता है। अरे! इस बात का पता नहीं होने से (अज्ञान से) अनादि से बाहर से धर्म होना मानकर काल गँवाया है। ऐसा मनुष्य भव भी उसको अनन्तबार मिला है। अरे! उसने अनन्तबार मुनिव्रत भी धारण किया है; परन्तु....

पण्डित दौलतरामजी कृत 'छहढाला' की चौथी ढाल के ५वें छन्द में आता है न—

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

इसका अर्थ यह हुआ कि मुनिव्रत भी अनन्तबार लिया है, नग्नपना तथा पंचमहाव्रत के परिणाम-सच्चे पंचमहाव्रत, जो कि शुभभावरूप हैं, वे भी अनन्तबार पालन किये हैं, परन्तु वह सब तो दुःखरूप था। सो इसने ऐसी क्रिया तो अनन्तबार की है; परन्तु '**पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।**' इसका अर्थ यह है कि वह शुभभाव-पंचमहाव्रत की क्रिया भी सुखरूप नहीं, बल्कि दुःखरूप है।

अहा! भगवान! यहाँ तो आत्मा को भगवान कहकर बुलाते हैं, क्योंकि वह अन्दर भगवानस्वरूप है न ? उसका स्वरूप ही भगवान है। यहाँ भी यही कहा है कि 'निजपरमात्मतत्त्व'। यहाँ कहते हैं कि अनुभव में उस निरंजन निजपरमात्मा का स्वाद आये बिना, बहुत-बहुत व्रत-पंचमहाव्रत और अट्ठाईस मूलगुणादि-अनन्तबार पालन किये, परन्तु 'निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' इसका अर्थ क्या हुआ ? कि उन व्रतादि में सुख नहीं है, उल्टे वे तो दुःखरूप हैं; क्योंकि उन व्रतादि में वृत्ति का उत्थान है — ऐसा करूँ और ऐसा पालन करूँ तथा वह वृत्ति तो राग है। (राग कभी सुखरूप नहीं हो सकता।) भाई! ऐसा मार्ग है। अरे! यह अज्ञानी चौरासी लाख योनियों

www.vitragvani.com

की जन्म-मरण की घाणी में पिल रहा है, फिर भी इस बात से अपरिचित यह मूढ़ होकर मानता है कि मैं सुखी हूँ। यहाँ तो कहते हैं कि आतमज्ञान में सुख है अर्थात् निजपरमात्मतत्त्व को स्वज्ञेय बनाकर जो ज्ञान प्रकट होता है और उसकी दृष्टि करके जो सम्यग्दर्शन होता है, वही मोक्ष का मार्ग है-उसमें ही सुख है; जबकि पंचमहाव्रतादि की क्रिया का राग तो बंधमार्ग है और उसमें दुःख है।

भाई! मार्ग तो ऐसा है। दुनिया माने या न माने, इससे कहीं मार्ग नहीं बदल जायेगा। जो सत्य है वह तो त्रिकाल सत्य ही रहेगा। अज्ञानी विवाद मचाता है कि पंचमहाव्रत के परिणाम दुःखरूप हैं ? भाई! वह विकल्प है न! वृत्ति है न! वह तो पराश्रयभाव है, विकार है, आस्रव है और आस्रव तो दुःखरूप होता है। भगवान! तुझे पता नहीं है। तेरे आनन्द से विपरीत जो दशा उत्पन्न होती है, वह तेरी चीज नहीं है। तेरी चीज में वह और उस चीज में तू नहीं है। अहा! न्याय से तो समझना पड़ेगा कि न्याय क्या है ?

यहाँ कहते हैं कि भगवान! तेरे निजपरमात्मतत्त्व में वे अनुभागबंध के स्थान भी नहीं हैं।

९. 'और द्रव्यकर्म तथा भावकर्म के उदय के स्थानों का भी अवकाश (निरंजन निजपरमात्मतत्त्व में) नहीं है।' भगवान निजपरमात्मतत्त्व में आठप्रकार के जड़कर्म के उदय के प्रकार-भेद भी नहीं हैं तथा कर्मरूप निमित्त के संग से अपनी पर्याय में जो शुभाशुभ विकल्प उत्पन्न होते हैं, जो कि भावकर्म हैं, वे भी आत्मा में नहीं हैं। ऐसे आत्मा में दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है।

द्रव्यकर्म=आठ जड़कर्म और भावकर्म=पुण्य-पाप की वृत्ति, विकल्प। ये दोनों वस्तु में नहीं हैं।

क्यों ?

क्योंकि द्रव्यकर्म तो अजीवतत्त्व है, इसलिए वे जड़कर्म तो अजीव होकर रहे हैं; परन्तु जीव में नहीं हैं तथा भावकर्म — दया, दान, व्रतादि के परिणाम तो आस्रवतत्त्व हैं, इसलिए वे भी आत्मतत्त्व नहीं हैं। भाई! अद्भुत बात है! अहा! ये पुण्य-पाप के विकल्प, जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बंधती है, वह भाव भी आस्रव होने से भगवान आत्मा में नहीं है। भाई! प्रभु का मार्ग कड़क है। जिनको ज्ञान में एकसमय में तीनकाल

-तीनलोक ज्ञात हुए हैं, उन वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव के ज्ञान के अनुसार जो दिव्यध्वनि-वाणी आई है, उसमें प्रतिपादित मार्ग अलौकिक है। लौकिक मार्ग के साथ उसकी समानता नहीं हो सकती है।

देखो! यहाँ कहते हैं कि 'द्रव्यकर्म और भावकर्म के ....' भावकर्म अर्थात् शुभ-अशुभ परिणाम। व्रत-अव्रत के परिणाम भावकर्म हैं और वे भावकर्म के प्रकार-स्थान आत्मा में नहीं हैं। शुभ-अशुभभाव के जो असंख्यप्रकार हैं, वे सब भावकर्म के स्थान हैं और वे सब अखण्डानन्दस्वरूप निजपरमात्मा में नहीं हैं। अहा! यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि उनका 'अवकाश नहीं है।' आत्मा में द्रव्यकर्म और भावकर्म को अवकाश-उनको रहने का स्थान भी नहीं है। नित्यानन्द प्रभु भगवान आत्मा में वह भावकर्म का विकल्प-व्रत-अव्रत का विकल्प नहीं है अर्थात् निजपरमात्मतत्त्व ऐसे ध्रुव भगवान आत्मतत्त्व में शुभ-अशुभ राग की वासना नहीं है और ऐसी वस्तु की अन्तर्दृष्टि करना तथा उसका अनुभव करना धर्म है। भगवान! मार्ग तो ऐसा है! भले ही वह दुनिया को रुचे या न रुचे-स्वतंत्र है।

पुण्य-पाप, व्रत-अव्रत अथवा दया, दान का विकल्प भावकर्म है और वस्तु में वह नहीं है। जो अपना स्वरूप है — ऐसे अनादि-अनन्त आनन्दमय ध्रुवरूप निज भगवान आत्मा में वह भावकर्म नहीं है; क्योंकि वस्तु है वह निर्विकार है। भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है, निजानन्दमय है और यह पुण्य-पाप का भाव विकार है, उपाधि है, मैल है, मलिन है और दुःख है।

अहा! जो इस दुनिया में पैसा, सेठपना और स्वर्ग में सुख मानता है, वह मूढ़ है; क्योंकि उनमें रंचमात्र भी सुख नहीं है, सुख तो आत्मा में है। क्या पर में-जड़ में सुख है ? तथा जड़ की सन्मुखतारूप विकल्प वृत्ति में सुख है ? नहीं, क्योंकि वह तो राग है। भगवान कहते हैं कि दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का जो शुभ विकल्प है, जो भावकर्म है, उसमें भी दुःख ही है, सुख नहीं। जगत के जीवों के लिए यह काम बहुत कठोर है! वे कहाँ अटके हैं और कहाँ खड़े हैं, इसका उनको भी पता नहीं है।

अहा! निरंजन निजपरमात्मतत्त्व में-सच्चिदानन्द प्रभु ध्रुव आत्मा में द्रव्यकर्म और भावकर्म का अवकाश नहीं है अर्थात् अन्दर वे हैं ही नहीं; क्योंकि आत्मा तो आनन्दकन्द सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा है, अपना निजस्वरूप सिद्धसमान है — ऐसी अन्तर्दृष्टि

www.vitragvani.com

करने से सम्यग्दर्शन होता है और तब धर्म की पर्याय प्रकट होती है, वरना धर्म नहीं होता। छहढ़ाला में भी (चौथी ढाल, ९वें छन्द में) कहा है कि —

लाख बात की बात यहै, निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दंद-फंद, निज आतम ध्याओ।।

वही बात यहाँ भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। अहा! सर्वज्ञ केवली त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव श्री सीमंधर भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं अर्थात् वहाँ अभी भी परमात्मा मौजूद हैं और समवशरण में दिव्यध्वनि भी खिरती है। वहाँ विक्रम संवत् ४९ में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव भगवान के पास गये थे, आठ दिन रहे थे और वहाँ से वापस आकर इन शास्त्रों की रचना की है।

वे भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ऐसा कहते हैं अर्थात् वे भगवान का यह संदेश लाये हैं कि प्रभु! तू कैसा है ? तेरी चीज तो आनन्द से ठसाठस-छलाछल भरी है। वह आनन्द अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द; क्योंकि तू जिस इन्द्रियसुख को सुख मानता है, वह तो दु:ख है। तेरा स्वभाव अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है और उस स्वभाव में पुण्य-पाप के विकल्प की वासना नहीं हैं। यहाँ यही बात कहते हैं। देखो, टीका में है न कि 'द्रव्यकर्म तथा भावकर्म के उदय के.....।'

उदय कैसे कहा है ?

क्योंकि भावकर्म उत्पन्न होता है, इसलिए 'भावकर्म के उदय के' — ऐसा कहा है। और वह उत्पन्न होने पर भी वस्तु में नहीं है। यहाँ जिसको आत्मा कहा है, उसमें वह भावकर्म नहीं है अर्थात् निरंजन निजपरमात्मतत्त्व में वे उदय के स्थान नहीं हैं।

अब मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव अपनी बात के आधार के लिए श्री अमृतचन्द्रसूरि का श्लोक कहते हैं। यह समयसार की १४वीं गाथा का श्लोक है।

आत्मज्ञानी, आत्मध्यानी दिगम्बर संत श्री अमृतचन्द्राचार्य महाराज आज से लगभग ९०० वर्ष पूर्व हो गये हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य तो विक्रम संवत् ४९ अर्थात् लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुए हैं। वे भी आत्मज्ञानी, आत्मध्यानी और आनन्द में मस्त थे। अतीन्द्रिय आनन्द में मस्त थे, तुम्हारे इस धूल के आनन्द में नहीं। उन श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के (११०० वर्ष) पश्चात् श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव हुए, उनका यह कलश है। अहा! वे

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

दिगम्बर मुनि तो वनवासी थे और अतीन्द्रिय आनन्द के प्याले पीते थे-निर्विकल्प रस पीते थे। वे कहते हैं कि **'जगत मोहरहित होकर...'** जगत याने जगत के जीव। हे जगत के जीवो! पर की सावधानी का विकल्प छोड़कर...मिथ्याभ्रान्ति छोड़कर, पर में तथा पुण्यादिरूप परभाव में धर्म है-सुख है — ऐसी भ्रान्ति छोड़कर...! अहा! जगत के लिए बहुत कठिन पड़े — ऐसा काम है।

भगवान आत्मा की पर्याय में दिखनेवाला राग, द्वेष, मोह ऊपर-ऊपर है; क्योंकि वह उत्पन्न होता है; अतः पर्याय में है; परन्तु वस्तु में नहीं है। **'तो जगत मोहरहित होकर सर्व ओर से प्रकाशमान....'** चैतन्यज्योति भगवान आत्मा ज्ञान का नूर और आनन्द का पूर है। ज्ञान का नूर अर्थात् तेजमय ज्ञान का प्रकाश। जैसे सर्चलाइट होती है न! बाहुबलीजी में (श्रवणबेलगोला में) हजार-हजार वोल्ट की दो बड़ी सर्चलाईट हैं न! उसीप्रकार यह आत्मा तो अनन्त-अनन्त ज्ञानप्रकाश की सर्चलाईट है, ज्ञान का नूर-तेज है तथा आनन्द का पूर है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड-पूर है — ऐसा आत्मा है। मोहरहित होकर उस आत्मा का अनुभव करो।

हे प्रभु! हे जगत के प्राणियो! यहाँ तो जगत के जीवों को प्रभु कहते हैं। यदि तुझे शान्ति चाहिए हो तो, आनन्द चाहिए हो तो, जन्म-मरणरूप दुःख का चक्कर मिटाना हो तो **'मोहरहित होकर सर्व ओर से प्रकाशमान ऐसे उस सम्यक् स्वभाव का ही अनुभव करना चाहिए...'** अहा! सर्व ओर से प्रकाशमान प्रभु तो अन्दर ही है। उसमें पुण्य-पाप के विकल्प की गंध नहीं है; परन्तु वह तो ज्ञान और आनन्द का पुंज प्रभु है। ऐसे प्रकाशमान प्रभु का अर्थात् ऐसे उस सम्यक् स्वभाव का ही अनुभव करना चाहिए। वह सम्यक् स्वभाव अर्थात् सत् स्वभावी ऐसा त्रिकाली आनन्दकन्द आत्मा। आशय यह है कि आत्मा सम्यक्-सत्-स्वभावी है; जबकि पुण्य-पाप के भाव तो विकार हैं, कल्पित हैं, दुःखरूप हैं, अनित्य हैं और इसलिए नाशवान-नाश होनेयोग्य चीज है।

अहा! यहाँ बाहर की चीज की तो बात ही नहीं है; क्योंकि वह तो पर है; परन्तु अन्दर में जो शुभाशुभराग होता है, वह नाशवान, विकारी और दुःखरूप है — ऐसा भगवान कहते हैं। वही बात संत आड़तिया होकर कहते हैं कि भाई! भगवान ऐसा कहते हैं। त्रिलोकनाथ परमात्मा वीतराग सर्वज्ञ प्रभु तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि में ऐसा आया है और वैसा ही हम कहते हैं।

www.vitragvani.com

श्रोता — आपने भी समवशरण में यह बात सुनी थी और वही बात हमको फरमाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री — देखो न! गाथा भी सुन्दर है। अहा! अभी तो सम्यग्दर्शन...चौथा गुणस्थान, जबकि श्रावकदशा तो कहाँ रही! और मुनिदशा तो कहीं दूर रही। बापा! मुनिदशा तो कोई अलग ही चीज है। दुनिया को उसके स्वरूप का पता नहीं है। अरे! सम्यग्दर्शन किसको कहते हैं और वह क्या चीज है, इसका भी दुनिया को पता नहीं है। राजा श्रेणिक बड़े राजा थे, हजारों अधीनस्थ राजा उन पर चँवर ढ़ोरते थे और अरबों के मूल्य के हीरे के सिंहासन पर वे बैठते थे, फिर भी वे सम्यग्दृष्टि थे। उनको ऐसी अंतर्दृष्टि और अनुभव वर्तता था कि 'मुझमें रागादि विकल्प और परचीज नहीं है और मैं उसमें नहीं हूँ। मुझमें तो ज्ञान और आनन्द है; परन्तु रागादि मुझमें नहीं है।'

अनुभूति का अर्थ यह है कि अनु=निजानन्दमय भगवान आत्मा का अनुसरण करके, भूति=होना। अनादिकाल से पुण्य-पाप के भाव का अनुसरण करने से जो कुछ होता है, वह तो राग की अनुभूति है; जो विकार और दुःख है; जबकि आनन्दरूपदशा को प्रकट करना स्व की अनुभूति है और उसको धर्म कहते हैं — ऐसा मार्ग है भगवान! परमेश्वर ने सत्यमार्ग की यही रीति कही है। कदाचित् कोई अज्ञानी अपनी कल्पना से-स्वच्छन्दता से-अन्यप्रकार से कहे तो वह दुःखी होने का उपाय है।

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! तू तो सर्व ओर से प्रकाशमान है न! प्रभु! तू अनन्त...अनन्त ...चैतन्य का पिण्ड-चैतन्य का बिम्ब है, जिसमें से चैतन्यप्रकाश की अनन्त ज्वालायें उत्पन्न होती हैं, तू ऐसा चैतन्य आत्मा है; इसलिये ऐसे प्रकाशमान एक सम्यक् स्वभाव का ही अनुभव करना चाहिए। देखो! चैतन्यपना सम्यक् स्वभाव है तो पुण्य-पाप के भाव मिथ्यास्वभाव हैं — ऐसा कहना है। अहा! यह शरीर, पैसा-धूल तो कहीं बाहर ही रह गये; क्योंकि वे तो मिट्टी-पर हैं अर्थात् वे तो अजीव होकर रहे हैं। क्या वे तेरी चीजरूप होकर रहे हैं ? यदि वे तेरी चीजरूप होकर रहे हों, तब तो वे सब अरूपी और चैतन्य हो जाएँ; परन्तु वे तो जड़वस्तुएँ हैं। वे तो जड़ में जड़ के कारण रहते हैं, तेरे में नहीं हैं। यह सभी बातें न्याय से, लॉजिक से समझना पड़ेगी न! अहा! भगवान का मार्ग तो सीधा सरल है; परन्तु वह लोगों के ख्याल में नहीं आया है।

यहाँ कहते हैं कि (जीव) जबतक अपने स्वभाव का भान नहीं करता, तबतक वह

www.vitragvani.com

दुःखी, दुःखी और दुःखी ही है। अरे! दुःख के पर्वत में घुस गया है; परन्तु भान नहीं है। देखो, यहाँ भगवान आत्मा का 'सम्यक् स्वभाव' है — ऐसी भाषा प्रयुक्त की है। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा से भिन्न कर्तृत्वबुद्धि से उत्पन्न हुए पुण्य-पाप के भाव मिथ्याभाव हैं और उनके फलरूप प्राप्त संयोग बाह्यभाव हैं। अहा! संयोगी वस्तु तो संयोगरूप होकर रही है; परन्तु तेरी पर्याय में उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पाप के भाव भी तेरे आत्मा में नहीं हैं — ऐसा यहाँ कहते हैं।

प्रश्न — आत्मा में पुण्य-पाप के भाव नहीं हैं — ऐसा आप कहते हैं; परन्तु दिखता तो यह है कि वे आत्मा में हैं ?

उत्तर — यह तो जबतक अज्ञान है, तबतक अज्ञानी पुण्य-पाप को उत्पन्न करता है। जबतक अज्ञानी आत्मा को अपने स्वभाव का भान नहीं है, तबतक वह अज्ञानभाव से पुण्य-पाप के भाव को करता है, उनमें रचता है, उनमें लीन होता है और इसीलिए वह दुःखी है। देखो! समयसार कलश टीका में इस श्लोक का ऐसा अर्थ किया है कि चैतन्य से प्रकाशमान भगवान आत्मा 'अनुभवगोचर होने पर कोई भ्रान्ति नहीं रहती।' शुद्ध आनन्दरूप प्रभु आत्मा का अनुभव होने पर सम्यग्दर्शन होता है, तब कोई भ्रान्ति नहीं रहती अर्थात् इस पुण्य परिणाम में सुख है, पुण्य परिणाम धर्म है और पर की अनुकूलता होवे तो धर्म होता है इत्यादि ऐसी मिथ्याभ्रान्ति नहीं रहती।

प्रश्न — पैसा बराबर हो और शरीर निरोग हो तो धर्म करने में अनुकूलता रहती है न ?

उत्तर — ऐसा रंचमात्र भी नहीं होता, सुन! वे तो पर जड़-मिट्टी हैं, इसलिए उस अजीव के कारण तुझमें क्या आता है ? अज्ञानी ही परद्रव्य में इष्ट-अनिष्टपना मानता है कि रोग होवे तो अनिष्ट और निरोगता होवे तो इष्ट; परन्तु अरे मूर्ख! रोग अथवा निरोगता तो जड़ की अवस्था है। क्या वह दशा आत्मा में आ गई है ? घुस गई है ? हाँ, उस दशा के काल में किये गये राग-द्वेष तेरी पर्याय में हैं-तेरे में उत्पन्न हुए हैं।

देखो, यही बात पण्डित राजमल्लजी कलश टीका में कहते हैं — 'यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जीव को तो शुद्धस्वरूप कहा...' तुमने तो आत्मा को शुद्धस्वरूप कहा है और वह ऐसा ही है; परन्तु राग-द्वेष-मोहरूप परिणामों को अथवा सुख-दुःख आदिरूप परिणामों को कौन करता है, कौन भोगता है ? उत्तर इसप्रकार है कि उन

www.vitragvani.com

परिणामों को करे तो जीव करता है और जीव भोगता है। क्या राग को कोई जड़ करता है ? (नहीं।) अज्ञानी स्वयं ही पर्याय में अज्ञानरूप होकर पुण्य और पाप के भाव को करता है तथा स्वयं ही अज्ञानरूप होकर उस पुण्य-पाप के फल ऐसे हर्ष-शोक को भोगता है और जो हर्ष-शोक को भोगता है, वह दु:ख को भोगता है; 'परन्तु यह परिणति विभावरूप है, उपाधिरूप है।' इन शुभ-अशुभ परिणाम को करना और उनको भोगना — यह सब दु:खरूप उपाधि है; परन्तु अपना स्वरूप नहीं है। इसकारण निजस्वरूप विचारने पर यह जीव का स्वरूप नहीं है — ऐसा कहा जाता है।

यहाँ कहते हैं कि हे जगत के प्राणियो! तुमको सम्यक् स्वभाव का ही अनुभव करना चाहिए। जिसमें पुण्य और पाप के विकल्प नहीं हैं; किन्तु जो त्रिकाली ज्ञान का नूर और आनन्द का पूर है — ऐसे तेजमय प्रभु भगवान आत्मा का तुमको अनुभव करना चाहिए, तभी तुमको धर्म होगा। भाई! धर्म की बात बहुत कड़क है। प्रभु! मार्ग तो ऐसा है।

अहो! इसको अपनी दया नहीं आती। अरे! स्वयं की दया तो आई ही नहीं; परन्तु अपनी दया किसे कहते हैं, उसका पता भी नहीं है और पर की दया पालने के लिए चल निकला है। परन्तु भाई! तू धूल भी पर की दया नहीं पाल सकता; क्योंकि उसकी (अन्य जीव की) आयु अवशेष हो तो वह जीता है और आयु अवशेष नहीं हो तो मर जाता है। क्या वह परजीव तुझसे जीता-मरता है ? परन्तु अरे ! तुझे अपने पर दया नहीं आती, तुझे तेरी दया नहीं आती। भाई! मैं आनन्दघन शुद्ध चैतन्य हूँ — ऐसी प्रतीति और अनुभव के बिना, राग और पुण्य मेरा है — इस मान्यता में तेरे जीव की दया का नाश होता है। अपना जीवन, जो कि शुद्धप्रकाशमय और आनन्दमय है, उसका स्वीकार नहीं करके, तूने यह माना है कि मैं तो जो पुण्य-पाप का भाव है वह हूँ। इसका अर्थ यह हुआ कि तूने त्रिकाली चैतन्यमय और आनन्दकन्द आत्मा के जीवन का स्वीकार नहीं किया है अर्थात् 'वह है ही नहीं' — ऐसा माना है। बस, यही अपनी हिंसा है। अहा! लॉजिक से-न्याय से समझना तो पड़ेगा न! क्योंकि भगवान का मार्ग न्यायवाला है।

प्रश्न — अहिंसा परमधर्म है न ?

उत्तर — राग की उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है और वह अहिंसा परमधर्म है। बाकी

www.vitragvani.com

पर की दया का भाव भी राग और हिंसा है। यह तो पहले कहा था न! विक्रम संवत् १९९६ के साल में गाँधीजी व्याख्यान में आये थे। उससमय वह बात की थी कि जीव पर की दया तो पाल ही नहीं सकता; क्योंकि परद्रव्य स्वतंत्र तत्त्व है; परन्तु उसकी दया पालने का जो भाव होता है, जो शुभराग है, वह शुभराग हिंसा है। उसमें अपने चैतन्य की वीतरागीदशा की हिंसा होती है।

यहाँ कहते है कि '**सम्यक् स्वभाव को ही...**' देखो, '**ही**' शब्द पड़ा है न! परन्तु अरे! अभी चीज को (वस्तुस्वरूप को) समझ में तो ले! उसको ख्याल में तो ले! उसको ज्ञान में-ख्याल में तो ले कि वस्तु यह है; परन्तु उसकी पहिचान नहीं है, उसका ख्याल नहीं है तथा उसका पता भी नहीं है और मानता है कि धर्म हो जायेगा। धूल भी धर्म नहीं होगा।

***प्रश्न* —** पाँच-दस लाख रुपये खर्च कर दें, तब तो धर्म हो जायेगा न!

***उत्तर* —** उसमें धूल भी धर्म नहीं है, सुन तो सही! क्योंकि पैसे कहाँ तेरी चीज है ? क्या तू अजीव का मालिक है ? वह पैसा तो अजीव है; इसलिए मैं अजीव को खर्च करता हूँ — यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि की है।

यहाँ कहते हैं कि सम्यक् स्वभाव का ही अनुभव करो। बाकी इस परचीज को मैं देता हूँ और लेता हूँ — ऐसा तेरे में है ही नहीं। हाँ, तुझमें विकल्प उत्पन्न होते हैं; परन्तु विकल्प तो राग है, विभाव है। वे कोई सम्यक् स्वभाव नहीं हैं।

***प्रश्न* —** सम्यक् स्वभाव का ही अनुभव करना चाहिए — ऐसा कहकर एकान्त क्यों करते हो ? आप एकान्त क्यों करते हो ? कथंचित् किसी विभाव का अनुभव करो — ऐसा अनेकान्त क्यों नहीं कहते ? भगवान का मार्ग तो अनेकान्त है; इसलिए पुण्य से भी धर्म होता है और स्वभाव से भी धर्म होता है — ऐसा अनेकान्त क्यों नहीं कहते ?

***उत्तर* —** अरे! तू ऐसा मानता है, तब तो तू पागल है। समाधि-शतक में अज्ञानी को पागल कहा है। अरे! तुझको अपनी खबर नहीं है। प्रभु! तू कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? और क्या मान रखा है ?

यहाँ तो कहते हैं कि परसंबंधी समस्त भ्रान्ति छोड़ दे तथा पुण्य परिणाम से धर्म

www.vitragvani.com

होगा, शुभभाव करते-करते धर्म होगा अथवा शुभभाव में किंचित् धर्म का अंश है — ऐसी भ्रान्ति भी छोड़ दे; क्योंकि वह मिथ्याभाव है और सम्यक् स्वभाव का ही अनुभव कर। देखो, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। अहा भगवान! तेरी चीज तो चैतन्य के प्रकाश से भरपूर है, उसमें कहीं पुण्य-पाप का अंधकार नहीं है। शुभ और अशुभभाव तो अंधकार हैं; क्योंकि उनमें ज्ञान के तेज का अभाव है; इसलिए कहते हैं कि उनकी दृष्टि छोड़ दे; भ्रान्ति छोड़कर, सम्यक् स्वभाव ऐसे भगवान आत्मा के चैतन्यप्रकाश का ही अनुसरण करके उसका अनुभव कर। लो, यह अनुभूति की व्याख्या और यह अनुभूति ही धर्म है; परन्तु अरे! अज्ञानी को यह बात नहीं बैठती, इसमें दुनिया प्रसन्न नहीं होती, क्योंकि दुनिया तो अज्ञानी (पागल) है। इसकारण राग से प्रसन्न हो जाती है। परन्तु बापू! यथार्थ में प्रसन्न तो वह होता है कि जिसने अपनी चीज ऐसे सम्यक् स्वभाव का अनुभव किया है। देखो, यहाँ आत्मा नहीं कहकर 'सम्यक् स्वभाव' कहा है। तात्पर्य यह है कि त्रिकाली सत्-ध्रुव — ऐसे आनन्द और प्रकाश (ज्ञान) स्वभाव को ही जीव कहा जाता है। त्रिकाली सम्यक् स्वभाव को ही जीव कहा जाता है और ऐसे जीव का अनुभव करना चाहिए। देखो! यह तो 'शुद्धभाव अधिकार' है तो यह शुद्धभाव अर्थात् सम्यक् स्वभाव। अदुभुत बात है! अहा! अभी तो क्या कहा जाता है और क्या विधि है — यह बैठना और समझना भी कठिन पड़े ऐसा है। बहुत कठिन काम है।

अरे! इसने मनुष्यभव प्राप्त करके भी यों ही पापवृत्ति में बर्बाद कर दिया है। जिसकी कोई कीमत नहीं है — ऐसी चीज की रुचि में जीवन निकाल दिया है। कीमती चीज जो भगवान आत्मा है, उसकी कीमत नहीं की; परन्तु जिसकी कीमत नहीं है, उसकी कीमत की है। जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उनकी कोई कीमत नहीं है। हाँ, उनकी दुःखरूप कीमत है। सो इसने उनकी कीमत की और बाहर में जो पुण्य का फल आया — यह धूल मिली, उसकी कीमत की। पाँच-पचास लाख रुपये मिले तो इसको ओहो...हो गया; परन्तु उनमें धूल भी सुख नहीं है। सुन तो सही! तू अपनी मूर्खता से उनमें सुख मानता है; इसलिए यहाँ कहते हैं कि अब एकबार ऐसी मूर्खता छोड़ दे। लो, ऐसा मार्ग है।

यहाँ कहते हैं कि **'सम्यक् स्वभाव का ही अनुभव करना चाहिए कि जिसमें यह बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव उत्पन्न होकर स्पष्टरूप से ऊपर तैरते होने पर भी...'**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

कहते हैं कि पुण्य-पाप के भाव उत्पन्न होते हैं; इसलिए वे (अस्ति) हैं; परन्तु वे पर्याय में हैं, त्रिकाली द्रव्य में नहीं। पुण्य-पाप के भाव उत्पन्न होते हैं; इसलिए वे हैं अवश्य। वे अस्तिरूप ही नहीं हैं — ऐसा नहीं है। पुण्य-पाप के भाव अस्तिरूप (तो) हैं; परन्तु जैसे जल में तेल की बूँद ऊपर तैरती है, तो भी वह तेल अथवा तेल की चिकनाहट जल में प्रवेश नहीं करते, उसीप्रकार जल समान भगवान आत्मा चिदानन्द अमृत से भरा है और उसके अन्दर पुण्य-पाप के भाव, जो कि तेल के समान चिकने हैं, वे प्रवेश नहीं करते।

बापू! ये सब अरबपति और धूलपति भी दु:खी हैं। परन्तु अरेरे! इनको अपनी दया नहीं है कि मेरा क्या होगा ? मैं कहाँ जाऊँगा ? यह आँख बन्द होते ही मैं कहा जाऊँगा ? कहाँ पड़ाव डालूँगा ? इसप्रकार इसको अपनी दया नहीं आती। ऐसे जीव से यहाँ कहते हैं कि हे भगवान! हे प्रभु! हे भाई! तेरी चीज तो सम्यक् स्वभावी है न! अत: प्रभु! उसका अनुभव कर और जो इन पुण्य-पापभाव के अनुभव में लीन है, वह अनुभव छोड़ दे, क्योंकि उससे तो तू दु:ख में लीन है। ऐसी बात है भाई! तीनलोक के नाथ तीर्थंकर परमेश्वर की वाणी में तो ऐसा आया है और अभी भी यही बात आती है। महाविदेहक्षेत्र में तीर्थंकर श्री सीमंधर भगवान साक्षात् विराजमान हैं। उनकी देह पाँच सौ धनुष की है और एक करोड़ पूर्व की आयु है। विक्रम संवत् ४९ में जब श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेह पधारे थे, तब भी वे (सीमंधर परमात्मा) विराजमान थे और अभी भी विराजमान हैं। कारण कि सीमंधर भगवान की आयु एक करोड़ पूर्व की है और एक पूर्व में ७० लाख करोड़ और ५६ हजार करोड़ वर्ष होते हैं। (उनकी वाणी में यह बात आई है।

यहाँ तो कहते हैं कि किसी भी प्रकार की विकल्प की वृत्ति हो, वह सब वृत्ति दु:खरूप है; तथापि वह है अवश्य, नहीं है — ऐसा नहीं है। वस्तुस्वरूप वेदान्त की तरह नहीं है कि 'ब्रह्म सत् और जगत मिथ्या' पुण्य-पाप के भाव हैं ही नहीं और अकेला शुद्ध आत्मा ही है — ऐसा नहीं है। हाँ, अपने (आत्मा के) स्वरूप की अपेक्षा से वे पुण्य-पापभाव मिथ्या हैं; परन्तु उनकी स्वयं की अपेक्षा से तो वे हैं। देखो न, यही बात यहाँ कहते हैं कि 'ऊपर तैरते होने पर भी...' इसप्रकार उनकी अस्ति सिद्ध की है। जैसे तेल की बूँद पानी के ऊपर तैरती है; तथापि अन्दर नहीं है और फिर भी

www.vitragvani.com

उसकी अस्ति है या नहीं ? (है।) उसीप्रकार ये शरीरादि पदार्थ तो पर हैं, क्योंकि यह शरीर तो जड़ होकर रहा है, मिट्टी है। वह तो आत्मा में है ही कहाँ ? अब आत्मा की पर्याय में-अवस्था में शुभ-अशुभभाव उत्पन्न होते हैं; इसलिए वे ऊपर-ऊपर तैरते हैं। आशय यह है कि उसकी पर्याय में उनकी अस्ति है; फिर भी वे वस्तु में नहीं हैं। भगवान आत्मा के स्वभाव में पुण्य-पाप नहीं हैं; अतः यदि तुझे जन्म-मरण का अन्त लानेवाली चीज ऐसा सम्यग्दर्शन, जो कि धर्म की पहली सीढ़ी है, वह प्रकट करना होवे तो जिसके स्वभाव में पुण्य-पाप नहीं हैं — ऐसे सम्यक् स्वभाव का अन्तर में अनुभव करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि उस स्वभाव का अनुसरण करके आनन्द का प्रकट होना-सम्यग्दर्शन का उत्पन्न होना-धर्म के प्रथम सोपान का होना — यही मुक्ति का उपाय है। इसके अतिरिक्त अन्य सब व्यर्थ है। ऐसी बात है भाई!

अहा! 'जिसमें ये बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव...' देखो भाई! 'भाव है' — ऐसा कहा है न! और वे भी स्पष्टरूप से ऊपर तैरते हैं अर्थात् बद्धस्पृष्ट आदि भाव बराबर ऊपर-ऊपर हैं — ऐसा कहते हैं।

प्रश्न — संसार अर्थात् ? संसार का अर्थ क्या है ?

उत्तर — '**संसरतः इति संसार**' — जो शुद्ध आनन्दकन्दस्वरूप आत्मा है, उसमें से हटकर विकार में आना संसार है अर्थात् विकार ही संसार है। आनन्दकन्द भगवान आत्मा से च्युत होकर-हटकर विकार को निज मानना ही संसार है।

प्रश्न — यह स्त्री, परिवार, पैसा संसार नहीं है ?

उत्तर — ये तो अजीवतत्त्व हैं। वहाँ आत्मा का संसार कैसे रहेगा ? संसार तो आत्मा की पर्याय में रहता है और पर्याय में भूल वहीं संसार है। वे अजीव पदार्थ मेरे हैं और राग-द्वेष मेरे हैं — ऐसी मान्यतारूप भाव को भगवान संसार कहते हैं; परन्तु यह स्त्री, परिवार, व्यापार-धंधा संसार नहीं है; क्योंकि ये तो अजीव हैं, इसलिए वहाँ आत्मा का संसार कहाँ से आया ?

यहाँ कहते हैं कि अहो! '**यह बद्धस्पृष्टत्वादि भाव उत्पन्न होकर स्पष्टरूप से ऊपर तैरते होने पर भी वास्तव में स्थिति को प्राप्त नहीं होते।**' प्रतिष्ठा नहीं पाते। जिसको 'शुद्धभाव' कहा है, उस शुद्ध आनन्दघन ध्रुववस्तु भगवान आत्मा में — ऐसा जो सम्यक् स्वभाव है उसमें पुण्य-पाप के भाव शोभा नहीं पाते, वे अन्दर प्रतिष्ठा नहीं पाते अर्थात्

अन्दर आत्मा में शुभाशुभ भावों को आधार नहीं मिलता। भाई! अद्भुत बात है! अहा! 'वास्तव में स्थिति को प्राप्त नहीं होते' — ऐसा कहा है। अर्थात् वे भाव चिद्घन भगवान आत्मा के अंदर प्रवेश करें — ऐसा होता ही नहीं। जैसे सर्दी के मौसम में घी का ऐसा घन जम जाता है कि उसमें ऊंगली तो घुसती ही नहीं, छड़ भी नहीं घुसती; उसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञानघन है, सम्यक् स्वभाववान है; इसलिए इस शरीर का तो उसमें प्रवेश नहीं है; परन्तु पुण्य और पाप के विकल्प का भी अन्दर में प्रवेश नहीं है; परन्तु अरे! जो एक बीड़ी के लिए अर्पित हो जाए — ऐसा अज्ञानी 'मैं इतना महान हूँ' — यह कैसे माने ? अज्ञानी दो सिगरेट पिये, तब तो दस्त उतरे! मूर्खता के घर क्या कोई अलग होते हैं ? अब ऐसे जीव को आत्मा किसप्रकार बैठे ? (कैसे समझ में आये ?)

यहाँ तो कहते हैं कि भगवान! तेरे में जो पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, वे तो अरे! जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बँधती है, वह भाव भी ऊपर-ऊपर तैरते हैं; क्योंकि भाई! वह तो मैल है। प्रभु! तुझे पता नहीं है। अहा! तू निर्मलानन्द प्रभु है और तेरे प्रकाश के तेज के सन्मुख ये सब विभाव तो अंधकार हैं, अचेतन भाव हैं। आशय यह है कि शुभाशुभभाव भी अचेतन हैं; इसलिए चेतन आत्मा में, उस अचेतन का प्रवेश नहीं है — ऐसा कहते हैं। एक ओर आत्मा और दूसरी ओर राग है। उन दोनों के बीच सांध (संधि) है; इसलिए अहो! राग आत्मा में स्थिति नहीं पाता।

कलश ५६ पर प्रवचन

'जो नित्य-शुद्ध चिदानन्दरूपी सम्पदाओं की उत्कृष्ट खान है।' भगवान तू कैसा है ? यदि तुझमें पुण्य-पाप के स्थान नहीं हैं तो तू कैसा है ? कि 'नित्य-शुद्ध चिदानन्दरूपी-ज्ञानानन्दरूपी सम्पदाओं की...' यह तेरी सम्पदा है और तू ऐसी सम्पदाओं की 'उत्कृष्ट खान है।' स्वरूप में से अनन्तकाल तक आनन्द निकला करे तो भी कम नहीं हो — ऐसी तेरी खान है। ये पैसा तो, दो-पाँच अरब रुपये हों तो भी एकदम खत्म हो जाते है; परन्तु यहाँ आत्मा का आनन्द तो कभी कम नहीं होता।

अहा! जो नित्य शुद्ध...त्रिकाल-कायम शुद्ध 'चिदानन्दरूपी सम्पदाओं की उत्कृष्ट खान है।' प्रभु! तेरी तो ज्ञानानन्दरूपी सम्पदाएँ हैं; परन्तु यह धूल तेरी सम्पदा नहीं है। अज्ञानी को थोड़ा रूपवान शरीर मिले तो अहाहा...! (हर्ष) हो जाता है; परन्तु वह शरीर तो जड़-धूल-मिट्टी है, माँस और हड्डियों से निर्मित है। भाई! इसमें तो जीवाणु पड़ेंगे

और अग्नि में जल जायेगा। इसमें कहाँ आत्मा है ? तथा यह कब तेरी सम्पदा थी ? देखो। यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि तू नित्य-शुद्ध चिदानन्दरूपी सम्पदाओं की उत्कृष्ट खान है। ये बाहर की खान तो खत्म हो जायेंगी और ये तो धूल की सम्पदा है; जबकि यह आत्मा तो अनन्त-अनन्त ज्ञानानन्द सम्पदाओं की खान है तथा ये बाहर की सम्पदाएँ तो दु:ख का निमित्त हैं।

प्रश्न — ये बाह्यसम्पदायें सुखरूप तो नहीं हैं; परन्तु सुख का निमित्त भी नहीं हैं ?

उत्तर — नहीं, वह दु:ख का निमित्त है। वह कब सुख का निमित्त था ?

प्रश्न — लोग पैसेवालों को सुखी कहते हैं न ?

उत्तर — वे तो पागल के अस्पताल में सब पागल ही होते हैं; इसलिए एक पागल दूसरे पागल को सुखी कहे, उसके जैसा है। यहाँ कहते हैं कि भगवान! तेरी तो चिदानन्दरूपी सम्पदाएँ हैं और वे तुझमें भरी पड़ी हैं तथा जो '**विपदाओं का अत्यन्तरूप से अपद है।**' पुण्य-पाप की जो विपदाएँ हैं, उनका तो तू अपद है। आशय यह है कि तुझमें विपदा है ही नहीं।

'**ऐसे इसी पद का मैं अनुभव करता हूँ।**' मुनिराज कहते हैं कि मैं ऐसी मेरी निज सम्पदा का अनुभव करता हूँ। मै पुण्य-पाप के विकल्प का अथवा व्रत के विकल्प का अनुभव नहीं करता; क्योंकि वह तो राग है — ऐसा कहकर वे दुनिया को भी समझाते हैं कि तू भी ऐसा कर तो सुखी होगा, वरना दु:खी तो है ही...।

कलश ५७ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि '**(अशुभ तथा शुभ) सर्व कर्मरूपी विषवृक्षों से उत्पन्न होनेवाले...**' जो आठ कर्म हैं, वे विषवृक्ष हैं-जहर के झाड़ (वृक्ष) हैं और भगवान आत्मा अतीन्द्रिय अमृत का वृक्ष है। सो सर्व कर्मरूपी विषवृक्षों से जहर के वृक्षों से उत्पन्न होनेवाली, जो सुख और दु:ख की कल्पना — देवगति में सुख है, पैसेवालों को सुख है, मान-प्रतिष्ठा में सुख है, विषयों में सुख है इत्यादि प्रकार की जो कल्पना है, वह कर्मरूपी जहर के वृक्ष का फल है। सेठ! क्या कहा ? कि यह जो तुम्हारा पैसा है, वह कर्मरूपी विषवृक्ष का फल है।

प्रश्न — तो क्या पैसा फैंक देना चाहिए ?

***उत्तर* —** कौन फैंक दे ? इसने कहाँ पैसा लिया था, रखा था, जो कि फैंक दे ? अर्थात् पैसा कब इसके पास था कि उसको फैंक दे ? क्योंकि पैसा तो जड़ है। पैसा तो जड़ में, जड़ होकर (जड़रूप) रहा है। क्या वह आत्मा का (आत्मारूप) होकर रहा है कि जिससे आत्मा उसे रखे या फैंके ? पैसा तो जड़ की अवस्था है, जड़रूप है। इसलिए उसको आत्मा क्या रखे ? क्या फैंके ? क्या रक्षण करे ? और क्या उत्पन्न करे ? यह सब तो अज्ञानी का मिथ्याभ्रम है (कि मैं पैसे को रखता हूँ।) ऐसी बात है!

यहाँ तो अत्यन्त संक्षिप्त बात ली है कि कर्मरूपी जहर के वृक्ष के फल में जो कल्पना होती है... कहा है न कि '**सर्वकर्मरूपी विषवृक्षों से उत्पन्न होनेवाले, निजरूप से विलक्षण ऐसे फलों को...**' अहा! भगवान आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है; इसलिए उसका फल पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द ही होता है और धर्मी को ऐसे स्वरूप का भोग होता है। आशय यह है कि जिसने आत्मा को माना है, उसको (धर्मी को) तो अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है — ऐसा यहाँ कहते हैं। अहा! जिसने आत्मा को माना है अर्थात् आत्मा का स्वरूप अकेला आनन्द है (आत्मा मात्र आनन्दस्वरूप है), वह अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ है — ऐसा जिसने माना है, वह धर्मी तो अतीन्द्रिय आनन्द के फल का भोक्ता है-भोगनेवाला है; परन्तु इस जहर के फल का भोगनेवाला नहीं है — ऐसा कहते हैं।

अहा! सब कोई स्वतंत्ररूप से अपने-अपने परिणाम करते हैं। वे पर के लिए कुछ नहीं करते हैं; परन्तु यहाँ तो एक ही बात है कि जिसको जहर वृक्ष के फल अनुभव में आते हैं, उसको तो संसार (मिथ्यात्व) है और वह दुःखी है तथा वह उसके फल में चार गतियों में परिभ्रमण करेगा। किसी को पूर्व पुण्योदय के कारण पाँच-पच्चीस करोड़ रुपये मिले हों और यदि उसमें वह कल्पना करता हो कि मुझे (इनसे) सुख है तो वह मूढ़ जीव वर्तमान में भी दुःखी है और वह चौरासी लाख योनियों के दुःख में दौड़ जाता है।

श्रोता — पैसे के लिए तो दुनिया पागल हो रही है ?

पूज्य गुरुदेवश्री — मूढ़-अज्ञानी पैसे के पीछे पागल हो रहा है तो वह पागल ही है। जहाँ थोड़ा पैसा आया कि वह कहता है 'मैं पैसेवाला'; परन्तु यहाँ तो कहते हैं

कि तू मूढ़ है। क्या तू जड़वाला है ? क्योंकि पैसा तो जड़ है। लो ऐसी बात है।

त्रिलोकनाथ वीतराग परमात्मा तीर्थंकरदेव केवलज्ञान के द्वारा देखकर-जानकर यहाँ कहते हैं कि इस जगत में जो जीव कर्मरूपी जहर के फल को-हर्ष-शोक को भोगते हैं, वे दु:खी हैं; क्योंकि उन्होंने आत्मा को छोड़ दिया है, आत्मा का अनादर किया है। वे वर्तमान में भी दु:खी हैं और भविष्य में भी दु:ख की गति में जायेंगे-चार गतियों में परिभ्रमण करेंगे। लो, यह इसका फल है। जबकि धर्मी को तो आनन्द का फल (भोग) होता है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। जो ऐसे आत्मा के निजलक्षण का जाननेवाला है, माननेवाला और स्वीकार करनेवाला है, उसको तो अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव और भोगना होता है। भले ही फिर वह धर्मी चक्रवर्ती के राज्य में दिखे; तथापि उसको तो निजस्वरूप के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है।

अहा! देखो, 'अशुभ तथा शुभ सर्वकर्मरूपी विषवृक्षों से उत्पन्न होनेवाले' — ऐसा कहा है न! आशय यह है कि सातावेदनीय कर्म के फल में शरीर, स्त्री आदि अनुकूल होते हैं और वह बहुत गाँवों का स्वामी-राजा हो इत्यादि ऐसी सामग्री मिलती है। सातावेदनीय से अनुकूलता....अनुकूलता....अनुकूलता होती है। यहाँ तो कहते हैं कि ऐसे सातावेदनीय कर्म के फल को भोगता है, वह दु:खी प्राणी जहर के फल को-दु:ख को ही भोगता है; परन्तु उसको आत्मा के आनन्द का पता नहीं है। मैं एक ज्ञानानन्द-अमृत का सागर हूँ अर्थात् मुझमें अतीन्द्रियज्ञान और आनन्दरूपी अमृत भरा है — ऐसा अज्ञानी को पता नहीं है। ऐसी सूक्ष्म बात है भाई!

यहाँ तो कहते हैं कि हर्ष-शोक के भाव 'निजरूप से विलक्षण' अर्थात् निजस्वरूप से विपरीत लक्षणवाले जहर के फल हैं। वे भाव निजस्वरूप आनन्दमूर्ति प्रभु आत्मा से विपरीत लक्षणवाले-दु:खरूप हैं। प्रभु! तेरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, इसलिए उसमें से निर्झर फूटें तो अतीन्द्रिय आनन्द के ही फूटें और इस जहर के वृक्ष में से तो दु:ख के निर्झर फूटें। भाई! यह कल्पना से माना हुआ सुख या दु:ख सब दु:ख ही है।

प्रश्न — यह वास्तव में दु:ख है ?

उत्तर — वास्तव में क्या, अकेला जहर है।

प्रश्न — राग में दु:ख न हो और दु:ख की कल्पना करता हो — ऐसा तो नहीं है न ?

www.vitragvani.com

उत्तर — राग में दु:ख की कल्पना नहीं; परन्तु वास्तव में दु:ख है तथा वह है तो जहर; परन्तु अज्ञानी उसको सुखरूप मानता है। अज्ञानी के सुखरूप मानने पर भी वह जहर है, हलाहल जहर है। विषय का सुख, पैसे का सुख, स्त्री का सुख, परिवार का सुख आदि यह सब हलाहल जहर है; परन्तु अज्ञानी उसको सुख मानता है। पैसे का रस भी जहर का रस है; क्योंकि वह निजरूप से विलक्षण है। अहा! स्वयं भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है; परन्तु अज्ञानी को उसका पता नहीं है कि मैं कौन हूँ ? कैसा हूँ ? और कहाँ हूँ ? जैसे पागल फिरता है, वैसे ही अज्ञानी पागल-बेभान होकर अनादि से फिरता है। (संसार में भटकता है।)

यहाँ कहते हैं कि '**निजरूप से विलक्षण ऐसे फलों को छोड़कर.....**' भले ही सर्वार्थसिद्धि के देव का पद हो, चक्रवर्ती का पद हो अथवा तीर्थंकर का पद हो, उसमें जो जहर का फल ऐसा शुभ-अशुभभाव तथा हर्ष-शोक भाव होता है, उसको धर्मी छोड़ देता है; क्योंकि वह जहरीले सर्प जैसा है। जैसे जहरीले सर्प का छोटा-सा बच्चा भी जहरीला होता है; उसीप्रकार पुण्य और पाप का भाव जहर जैसा है; अत: जिसको आत्मस्वरूप का भान हुआ है, वह धर्मी जीव तो आत्मा को ही माननेवाला है और वह इस हलाहल जहर के फल को-परिणाम को छोड़ देता है, उसका आदर नहीं करता है।

'**जो जीव इसीसमय सहज चैतन्यमय आत्मतत्त्व को भोगता है.......**' देखो, 'अधुना' अर्थात् अभी ही; इसीसमय; वर्तमान में। भगवान आत्मा सुख-दु:ख की कल्पना से और पुण्य-पाप की सामग्री से पार प्रभु है। ऐसा भगवान आत्मा जिसकी मान्यता में (श्रद्धा में), अनुभव में, स्वीकृति में आया है, उसने ही आत्मा को जैसा है, वैसा स्वीकार किया है — ऐसा यहाँ कहते हैं; क्योंकि वह आत्मा पुण्य-पाप और हर्ष-शोक के भावरूप नहीं है। अहा! आत्मा में से तो अतीन्द्रिय आनन्द आता है; परन्तु वह आनन्द उसी को आता है, जो पुण्य-पाप के फल का आरूढ़पना छोड़ करके आत्मा को स्वीकार करता है-मानता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा में आरूढ़ होनेवाले को ही आनन्द आता है। भाई! बात अद्भुत है!

अहा! 'सहज चैतन्यमय आत्मतत्त्व को.......' अकृत्रिम स्वभावमय प्रभु आत्मा को अर्थात् स्वाभाविक चैतन्यमय और आनन्दमय ऐसा जो आत्मतत्त्व है, उसे 'भोगता है।' अर्थात् धर्मी तो उसे ही भोगता है; जबकि अधर्मी हर्ष-शोकरूप जहर को भोगता है।

बस, इतनी-सी बात है। (परन्तु अज्ञानी भी पर को नहीं भोगता।) देखो! अब कैसी खूबी (विशेषता) की है कि **'जो जीव इसीसमय सहजचैतन्यमय आत्मतत्त्व को भोगता है, वह जीव अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है।'** जो आत्मा का अनुभव करता है, वही मोक्षमार्ग में है और उसको ही मुक्ति प्राप्त होती है। इसप्रकार इस कलश में मार्ग और मार्गफल — दोनों की बात एकसाथ की है; क्योंकि यह तो पहले से ही कहा है कि 'यह मोक्षमार्ग और उसके फल के स्वरूप निरूपण की सूचना है। (गाथा २)

अहा! यह बाहर की साहबी, बड़ा कलात्मक बँगला और बाग-बगीचा और उसमें फर्नीचर लगाया हो तो अज्ञानी मानता है कि मैं बड़ा सुखी हूँ; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि तू दु:ख में, जहर में पड़ा है। भगवान! सच्चा गहना तो अन्दर में चैतन्यहीरा है। जो अनन्त-आनन्द के नाथ ऐसे चैतन्यहीरे का अनुभव करता है, वह सुखी है तथा वह जीव सुख के मार्ग में आगे बढ़कर मुक्ति प्राप्त करेगा। ऐसा अद्‌भुत मार्ग है। देखो, यहाँ यही कहते हैं कि 'वह जीव अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है।' जिसको आत्मा का अनुभव हुआ है, वह जीव अल्पकाल में सिद्ध होगा। जो जीव हर्ष-शोक का अनुभव छोड़कर आत्मा की अनुभूति करता है। **'वह जीव अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है, इसमें क्या संशय है ?'** ऐसे जीव अल्पकाल में सिद्धपद प्राप्त करते हैं, इसमें संशय कैसा ? अहा! कोई लाल-पीला होकर घूमता हो और उसके पास करोड़-दो करोड़ रुपये हों, तो भी भाई! वह संध्या का रंग है। थोड़ी ही देर में अंधकार हो जानेवाला है; परन्तु यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि जहाँ चैतन्य का तेज जागृत हुआ, वहाँ ऐसे अंधकार को (पुण्य-पाप व हर्ष-शोक को) फिर कौन भोगे ?

अहा! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा स्वयं पूर्णानन्द से विराजमान है। जिसने अन्तर्मुख होकर उसका स्वीकार किया है, उसको पुण्य-पाप के फल का अस्वीकार है। भरत चक्रवर्ती छहखण्ड के राज्य में थे, उनके पद्मिनी जैसी सुन्दर छियानवें हजार रानियाँ थीं। उनमें से एक पटरानी तो ऐसी थी कि जिसकी सेवा एक हजार देव करते थे। सो उनके भोग की वासना जहररूप लगती थी। अहा! धर्मी को विषय-भोग काले नाग जैसे दिखते हैं; इसलिए वह आनन्द की खान (निज भगवान आत्मा) के अनुभवपूर्वक उन्हें जहररूप देखकर छोड़ देता है। अन्दर में अमृत का सागर आत्मा डोल रहा है, वह अमृत से भरपूर भरा है। जिसको ऐसे आत्मा का स्वीकार हुआ है, सम्यक् अनुभव और श्रद्धा

हुई है, वह आत्मा के आनन्द का वेदन करता है; परन्तु पुण्य-पाप के फल का वेदन नहीं करता। यहाँ अध्यात्मशास्त्र है; इसलिए एक ही प्रकार के भोग का अधिकार है अर्थात् ज्ञानी को एक ही प्रकार का भोग होता है — ऐसा कहते हैं; परन्तु उसको थोड़ा दु:ख है और थोड़ा सुख है — ऐसा यहाँ नहीं कहना है। देखो न! एक कलश में कितनी अद्‌भुत बात करते हैं।

अहा! यह हर्ष-शोक का भाव भी अचेतन, दु:खरूप है। वह कहीं चैतन्य की जाति का नहीं है; इसलिए जिसको आत्मा का अनुभव होकर अतीन्द्रिय आनन्द की जागृति हुई है अर्थात् राग की एकता के कारण आनन्द का खजाना बन्द था, उसे राग की एकता तोड़कर जिसने खोला है — ऐसा समकिती जीव आनन्द की अनुभूति से मुक्ति प्राप्त करेगा। ऐसा कहकर यह भी कह दिया है कि मोक्षमार्ग में राग-व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प आयेगा; परन्तु उससे समकिती मुक्ति प्राप्त नहीं करेगा, मोक्ष में नहीं जायेगा; परन्तु वह तो आत्मा के आनन्द के अनुभव से मुक्ति प्राप्त करेगा।

अरे भाई! जिन्होंने भगवान आत्मा से भेंट/अनुभव नहीं किया है, वे सब रंक राग में गये हैं और जिन्होंने भगवान आत्मा का भान किया है, वे तो आत्मा में मस्त होते हैं, आनन्द की मस्ती में सराबोर होते हैं; उनको अन्य किसी चीज (रागादि में) रुचि नहीं होती और वे अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करते हैं, इसमें क्या संदेह है ? इसप्रकार मोक्ष का मार्ग और मोक्ष — दोनों की बात की है। मोक्ष का मार्ग अर्थात् आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव, निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र — यह आत्मा का मोक्षमार्ग है और बीच में व्यवहाररत्नत्रय का राग आता है; परन्तु वह तो बंध का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग नहीं।

इसप्रकार ४० वीं गाथा का कलश पूर्ण हुआ। ●

अपने निकट ही रहनेवाले किसी भी मित्र अथवा अन्य किसी से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है, मुझे इस शरीर से भी प्रेम नहीं रहा, इस समय मैं अकेला ही सुखी हूँ। यहाँ संसार परिभ्रमण में चिरकाल से मुझे जो संयोग के निमित्त से कष्ट हुआ है, उससे मैं विरक्त हुआ हूँ, इसलिए अब मुझे एकाकीपना (अद्वैतपना) अत्यन्त रुचता है। - **पद्मनन्दिपंचविंशति**

नियमसार गाथा-४१

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा॥४१॥

न क्षायिकभावस्थानानि न क्षयोपशमस्वभावस्थानानि वा।
औदयिकभावस्थानानि नोपशमस्वभावस्थानानि वा॥४१॥

(हरिगीत)

नहिं स्थान क्षायिकभाव के, क्षायोपशमिक तथा नहीं।
नहिं स्थान उपशमभाव के, होते उदय के स्थान नहिं॥४१॥

गाथार्थ :— जीव को क्षायिकभाव के स्थान नहीं हैं, क्षयोपशमस्वभाव के स्थान नहीं हैं, औदयिकभाव के स्थान नहीं हैं अथवा उपशमस्वभाव के स्थान नहीं हैं।

टीका :— चार विभावस्वभावों के स्वरूपकथन द्वारा पंचमभाव के स्वरूप का यह कथन है।

कर्मों के क्षय से[१] जो भाव हो वह क्षायिकभाव है। कर्मों के क्षयोपशम से जो भाव हो वह क्षायोपशमिकभाव है। कर्मों के उदय से जो भाव हो वह औदयिकभाव है। कर्मों के उपशम से जो भाव हो वह औपशमिकभाव है। सकल कर्मोपाधि से विमुक्त ऐसा, परिणाम से जो भाव हो वह पारिणामिकभाव है।

इन पाँच भावों में, औपशमिकभाव के दो भेद हैं, क्षायिकभाव के नौ भेद हैं, क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेद हैं, औदयिकभाव के इक्कीस भेद हैं, पारिणामिकभाव के तीन भेद हैं।

अब, औपशमिकभाव के दो भेद इसप्रकार हैं — उपशमसम्यक्त्व और उपशमचारित्र।

क्षायिकभाव के नौ भेद इसप्रकार हैं — क्षायिकसम्यक्त्व, यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान और केवलदर्शन तथा अन्तरायकर्म के क्षयजनित दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य।

क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेद इसप्रकार हैं — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान — ऐसे ज्ञान चार; कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान ऐसे भेदों

१. कर्मों के क्षय से=कर्मों के क्षय में; कर्म क्षय के सद्‌भाव में। (व्यवहार से कर्म क्षय की अपेक्षा जीव के जिस भाव में आये वह क्षायिकभाव है।)

www.vitragvani.com

के कारण अज्ञान तीन; चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ऐसे भेदों के कारण दर्शन तीन; काललब्धि, करणलब्धि, उपदेशलब्धि, उपशमलब्धि और प्रायोग्यतालब्धि ऐसे भेदों के कारण लब्धि पाँच; वेदकसम्यक्त्व; वेदकचारित्र और संयमासंयमपरिणति।

औदयिकभाव के इक्कीस भेद इसप्रकार हैं — नारकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ऐसे भेदों के कारण गति चार; क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय और लोभकषाय ऐसे भेदों के कारण कषाय चार; स्त्रीलिंग, पुलिंग और नपुंसकलिंग ऐसे भेदों के कारण लिंग तीन; सामान्यसंग्रहनय की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन एक, अज्ञान एक और असंयमता एक, असिद्धत्व एक; शुक्ललेश्या, पद्मलेश्या, पीतलेश्या, कापोतलेश्या, नीललेश्या और कृष्णलेश्या ऐसे भेदों के कारण लेश्या छह।

पारिणामिकभाव के तीन भेद इसप्रकार हैं — जीवत्वपारिणामिक, भव्यत्वपारिणामिक और अभव्यत्वपारिणामिक। यह जीवत्वपारिणामिकभाव भव्यों को तथा अभव्यों को समान होता है; भव्यत्वपारिणामिकभाव भव्यों को ही होता है; अभव्यत्वपारिणामिकभाव अभव्यों को ही होता है।

इसप्रकार पाँच भावों का कथन किया।

पाँच भावों में क्षायिकभाव कार्यसमयसारस्वरूप है; वह (क्षायिकभाव) त्रिलोक में प्रक्षोभ[1] के हेतुभूत तीर्थंकरत्व द्वारा प्राप्त होनेवाले सकल-विमल केवलज्ञान से युक्त तीर्थनाथ को (तथा उपलक्षण से सामान्य केवली को) अथवा सिद्धभगवान को होता है। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव संसारियों को ही होते हैं, मुक्त जीवों को नहीं।

पूर्वोक्त चार भाव आवरणसंयुक्त होने से मुक्ति का कारण नहीं है। त्रिकालनिरुपाधि जिसका स्वरूप है — ऐसे निरंजन निज परम पंचमभाव (पारिणामिकभाव की) भावना से पंचमगति में मुमुक्षु (वर्तमानकाल में) जाते हैं, (भविष्यकाल में) जायेंगे और (भूतकाल में) जाते थे।

(अब ४१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं—)

---

१. प्रक्षोभ=खलबली। तीर्थंकर के जन्मकल्याणकादि प्रसंगों पर तीन लोक में आनन्दमय खलबली होती है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

(आर्या)

अंचितपंचमगतये पंचमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः।
संचितपंचाचाराः किंचनभावप्रपंचपरिहीणाः ॥५८॥

(वीरछन्द)

किञ्चित् भी परिग्रह प्रपञ्च बिन, पञ्चाचार सहित विद्वान।
पञ्चमगति की प्राप्ति हेतु वे सुमरें पञ्चमभाव महान॥५८॥

श्लोकार्थ :— (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप) पाँच आचारों से युक्त और किंचित् भी परिग्रह प्रपंच से सर्वथा रहित ऐसे विद्वान पूजनीय पंचमगति को प्राप्त करने के लिए पंचमभाव का स्मरण करते हैं।॥५८॥

(मालिनी)

सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः।
उभयसमयसारं सारतत्त्वस्वरूपं
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः॥५९॥

(वीरछन्द)

ये समस्त शुभकर्म भोगियों के भोगों के मूल सदा।
अहो मुनीश्वर! परम तत्त्व अभ्यास कुशल है चित् जिनका॥
भव से मुक्ति प्राप्ति हेतु तुम उस समस्त शुभ को छोड़ो।
इसमें क्या क्षति ? सार तत्त्वमय उभय समय का सार भजो॥५९॥

श्लोकार्थ :— समस्त सुकृत (शुभकर्म) भोगियों के भोग का मूल है; परमतत्त्व के अभ्यास में निष्णात चित्तवाले मुनीश्वर भव से विमुक्त होने हेतु उस समस्त शुभ कर्म को छोड़ो और सारतत्त्वस्वरूप[१] ऐसे उभय समयसार को भजो। इसमें क्या दोष है ?।॥५९।।

गाथा ४१ की टीका पर प्रवचन

'चार विभावस्वभावों के स्वरूप कथन द्वारा पंचमभाव के स्वरूप का यह कथन है।'

१. समयसार सारभूत तत्त्व है।

भगवान आत्मा त्रिकाली पंचमभावस्वरूप है अर्थात् परमपारिणामिकभावस्वरूप है और उसको, उसके स्वरूप को चार भावों द्वारा वर्णन करते हैं कि उसमें ये चार भाव नहीं हैं। देखो, यहाँ क्षायिकभाव को भी विभावस्वभाव कहा है।

क्षायिक माने क्या ? केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि जो पूर्ण पर्याय है, वह क्षायिकभाव है और यहाँ उसको विभाव में समाहित किया है। पहले उपयोग की गाथा में (गाथा १०, ११, १२ में) केवलज्ञान को स्वभावज्ञान में समाहित किया था और चार ज्ञानों को विभावज्ञान में समाहित किया था। वहाँ यह आया था कि केवलज्ञान स्वभावज्ञान है; क्योंकि वर्तमान में उसको सद्भावरूप कर्म की अपेक्षा नहीं है। कर्म सद्भावरूप निमित्त नहीं होने से केवलज्ञान स्वभावज्ञान है और जो अन्य चार ज्ञान हैं, वे विभावज्ञान हैं — ऐसा कहा था तथा केवलज्ञानादि को शुद्धगुण और मतिज्ञानादि को अशुद्धगुण कहा था (गाथा-९) तथा केवलज्ञान को निरपेक्ष स्वभावपर्याय कहा था। (गाथा-१४) अब यहाँ केवलज्ञान की पर्याय को सापेक्ष कहेंगे।

(१) गाथा-१४ में केवलज्ञान और केवलदर्शन निरपेक्ष हैं — ऐसा कहा था। परमानन्द का नाथ आत्मा पूर्ण प्रकाशमान केवलज्ञान की जगमग ज्योतिरूप प्रगट हुआ; उस केवलज्ञान को किसी की अपेक्षा नहीं है। केवलज्ञान और मुक्ति को पर की अपेक्षा नहीं है — ऐसा वहाँ कहा था। जबकि यहाँ कहते हैं कि हम केवलज्ञानादि पर्यायों को भी विभावभाव कहते हैं; क्योंकि वे विशेष दशाएँ हैं; परन्तु त्रिकाली सामान्यभाव नहीं है। इस अपेक्षा से उनको विशेषभाव कहकर विभावभाव कहा गया है। (वि+भाव=विशेष भाव।) थोड़ी सूक्ष्म बात है। यह तो नियमसार है न!

(२) पूर्व (गाथा १० से १२) में केवलज्ञान को स्वभावज्ञान और मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्ययज्ञान को विभावज्ञान कहा था, विभावगुण कहा था। जबकि यहाँ तो केवलज्ञान को भी विभावपर्याय कहा है। यद्यपि वहाँ पहले (गाथा १० से १२ में) चार ज्ञान का अभाव होकर केवलज्ञान प्रकट होता है, इसलिए उन पर्यायों की अपेक्षा से केवलज्ञान को स्वभावज्ञान कहा था; परन्तु यहाँ त्रिकालीभाव की अपेक्षा से केवलज्ञान की पर्याय विशेषभाव है; इसलिए विभाव में समाहित किया है।

(३) तथा, दूसरी एक अपेक्षा से केवलज्ञान की पर्याय को पारिणामिकभाव भी कहा

www.vitragvani.com

है; क्योंकि उसको कर्म की अपेक्षा नहीं है; इसलिए उसको 'पंचास्तिकाय' में पारिणामिक-भाव कहा है। जबकि अन्य चार भाव कर्म की अपेक्षावाले होने से हेय हैं और कर्मकृत हैं — ऐसा भी वहाँ कहा है।

इसप्रकार एक केवलज्ञान के संदर्भ में तीन अपेक्षाओं से बात की है।

अहा! यह तो सर्वज्ञ का पंथ है, जो अनेकान्त से वस्तुस्वरूप का परिज्ञान कराता है; परन्तु उसमें (वस्तु में) जो धर्म हो और जिस अपेक्षा से लागू पड़ता हो, उस अनुसार परिज्ञान कराता है, जिसप्रकार अपेक्षा लागू नहीं पड़े उसप्रकार नहीं; क्योंकि यह कोई खिचड़ा नहीं है। अहा! एक ओर कहते हैं कि केवललब्धि (केवलज्ञान) क्षायिकभाव है और क्षायिकभाव होने से वह निरपेक्ष है (गाथा १४) तथा ऐसा भी कहा कि केवलज्ञान स्वभावभाव (स्वभावज्ञान) है। (गाथा १० से १२) इसप्रकार वह केवलज्ञान स्वभावभाव और निरपेक्षपर्याय है; जबकि यहाँ कहते हैं कि केवलज्ञान विभावस्वभाव है।

ऐसा क्यों ?

यहाँ केवलज्ञान को त्रिकालीद्रव्य की अपेक्षा से विभाव और विशेषभाव कहा है; जबकि अन्यत्र दूसरे चार ज्ञानों की अपेक्षा से उसको स्वभावभाव कहा है तथा दूसरे चार ज्ञानों में पर-निमित्त की अपेक्षा है; जबकि केवलज्ञान में निमित्त की अपेक्षा नहीं है — इस अपेक्षा से केवलज्ञान की पर्याय को निरपेक्ष पर्याय कहा है।

***प्रश्न* —** पर्याय का इतना सब ज्ञान किसलिए कराते हो ? उसमें तो आत्मसन्मुखता का लक्ष्य चूक जाता है ?

***उत्तर* —** किसने कहा है कि आत्मा का लक्ष्य चूक जाता है ? क्या पर्याय का ज्ञान होने से द्रव्य का लक्ष्य चूक जाता है ? जानने का तो उसका (आत्मा का) स्वभाव है। हाँ; पर्याय का आश्रय करे तो द्रव्य का लक्ष्य चूक जाता है। समयसार की १६वीं गाथा में तो ऐसा कहा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय वह आत्मा है और उसकी सेवा वह आत्मा की सेवा है; क्योंकि वहाँ यह कहना है कि राग की सेवा, वह अनात्मा की सेवा है।

'चार विभावस्वभाव' अर्थात् ?

औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — इन चार भावों को यहाँ विभाव-स्वभाव कहा है और आगे इसी गाथा में उन्हें आवरण संयुक्त भी कहेंगे। 'चार

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

भाव आवरण संयुक्त होने से मुक्ति का कारण नहीं है' — ऐसा कहेंगे। भाई! कथन की क्या विवक्षा है, वह जानना चाहिए न! यहाँ तो मुक्ति के कारणरूप त्रिकाली द्रव्यस्वभाव को सिद्ध करना है; त्रिकाली परमपारिणामिकभाव मुक्ति का कारण है — ऐसा यहाँ बतलाना है और जो ये पर्यायें हैं, उनका आश्रय करने जाने पर मुक्ति का कारण उत्पन्न नहीं होता; इसलिए इन चार भावों को आवरण संयुक्त कहा है। उनको त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से सापेक्ष और विशेषभाव कहा है। अहा! यह प्रभु की, आत्मा की लीला है। कोई ईश्वर की लीला कहते हैं; परन्तु उसकी लीला नहीं; यह तो आत्मा की लीला है और यहाँ उसकी बात है।

यहाँ 'चार विभावस्वभाव' कहा है। अत: किसी को उलझन न हो, उसके लिए यह स्पष्टीकरण होता है।

प्रश्न — यहाँ केवलज्ञान को विभावस्वभाव क्यों कहा है ?

उत्तर — क्योंकि सामान्य त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से वह विशेष भाव है, इसलिए वह विभावस्वभाव है।

प्रश्न — पहले गाथा १०, ११, १२ में उसको स्वभावभाव स्वभावज्ञान किसलिए कहा था ?

उत्तर — क्योंकि दूसरे चार ज्ञानों को विभावज्ञान कहा था, इसलिए केवलज्ञान को स्वभावज्ञान कहा था।

प्रश्न — पूर्व में (गाथा १४ में) केवलज्ञान को स्वभावनिरपेक्षपर्याय किसलिए कहा था ?

उत्तर — क्योंकि वर्तमान में उसे किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं है अर्थात् उसको (सद्भावरूप) निमित्त का अभाव हो गया है, इस अपेक्षा से उसको निरपेक्षपर्याय कहा था और दूसरे चार ज्ञानों को सापेक्षपर्याय कहा था। पंचास्तिकाय में तो विभावभाव को उपादान अपना है और निमित्तपना कर्म का है, इसलिए स्व-पर हेतुक पर्याय कहा है। अहो! भाई! अपेक्षा के अनेकप्रकार हैं। लो, एक बात में कितने पहलू (पड़खे) पड़ते हैं।

यहाँ कहते हैं '**चार विभावस्वभावों के स्वरूपकथन द्वारा पंचमभाव के स्वरूप का यह कथन है।**' पंचमभाव का स्वरूप बताना है। भगवान आत्मा अनादि-अनन्त

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अर्थात् अनुत्पन्न और अविनाशी — ऐसा त्रिकाल ध्रुवस्वरूप परमपारिणामिकभाव है और यहाँ उसको बताना है; परन्तु इन चार भावों को कहकर अर्थात् ये चार भाव उसमें नहीं हैं — ऐसा कहकर परमपारिणामिकभावरूप आत्मा को बताना है।

हमको ऐसी समझ करना पड़ेगी ? इसमें तो अकेली समझ करने की ही बात आती है ?

भाई! यह तो अभी बहिर्लक्ष्यी (परलक्ष्यी) समझ की बात है। अज्ञानी को तो बहिर्लक्ष्यी समझ का भी ठिकाना नहीं है। वस्तुस्वरूप क्या है, उसकी बहिर्लक्ष्यी समझ का भी जिसको ठिकाना नहीं है, वह अन्दर में किसप्रकार जायेगा। जिसकी समझ ही खोटी है, उसको ध्रुव का आश्रय कहाँ से आयेगा ?

यहाँ कहते हैं — **'कर्मों के क्षय से जो भाव हो, वह क्षायिकभाव है।'**

***प्रश्न* —** आप कहते हो कि आत्मा क्षायिकभाव प्रगट करे तो कर्म का क्षय हो जाता है; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि 'कर्मों के क्षय से जो भाव हो, वह क्षायिकभाव है।' इसलिए कर्म का क्षय हो तभी केवलज्ञान होता है — ऐसा कहो ?

***उत्तर* —** भाई! यहाँ तो निमित्त की अपेक्षा से बात की है; क्योंकि केवलज्ञान होने पर निमित्त का अभाव होता है न! इस अपेक्षा से उसको क्षायिकभाव कहा है। (अर्थात् कर्म के क्षय की अपेक्षा से क्षायिकभाव कहा है।) देखो, फुटनोट में अर्थ किया है कि **'कर्मों के क्षय से=कर्मों के क्षय में; कर्म के क्षय के सद्भाव में। (व्यवहार से कर्मक्षय की अपेक्षा जीव के जिस भाव में आवे, वह क्षायिकभाव है।)'**

***प्रश्न* —** परन्तु क्षायिक शब्द में तो ऐसा प्रतिध्वनित होता है कि आत्मा ने कर्मों का क्षय किया है और उनका क्षय हुआ तो यह (केवलज्ञान) हुआ है ?

***उत्तर* —** भाई! यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा ने कर्मों का क्षय नहीं किया है, कर्मों का क्षय दूसरा क्यों करे ? अन्य कौन उनका नाश करे ? क्योंकि कर्म की पर्याय तो स्वतंत्र है और जीव को स्वयं की दशा प्राप्त होने में उस कर्म के अभाव का निमित्तपना है, इसकारण उस भाव को क्षायिकभाव कहा जाता है। भाई! बात अद्भुत है! धर्म कोई अलग चीज है बापा!

जिस भाव में कर्म के अभाव की अपेक्षा आती है, उस भाव को क्षायिकभाव कहते हैं। केवलज्ञानादि को क्षायिकभाव कहते हैं। अब फिर उसके नौ भेद आयेंगे।

'कर्मों के क्षयोपशम से जो भाव हो, वह क्षायोपशमिकभाव है।' जिस भाव में कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा आती है, उसको क्षायोपशमिकभाव कहते हैं।

'कर्मों के उदय से जो भाव हो, वह औदायिकभाव है।' जिस भाव में कर्म के उदय की अपेक्षा हो, उसे औदायिकभाव कहते हैं।

'कर्मों के उपशम से जो भाव हो, वह औपशमिकभाव है।' केवलज्ञानादि क्षायिकभाव है; मतिज्ञानादि क्षायोपशमिकभाव है; पुण्य-पाप, दया-दानादि समस्त विकार औदायिकभाव है और समकित तथा चारित्र में औपशमिकभाव होता है। आगे इन सबका स्पष्टीकरण आयेगा।

'सकल कर्मोपधि से विमुक्त' सकल कर्म की उपाधि का अभाव अर्थात् निमित्त का सद्भाव या अभाव, सबका अभाव **'ऐसा, परिणाम से जो भाव हो वह पारिणामिक-भाव है।' 'परिणाम से'** इस शब्द से यहाँ पर्याय की बात नहीं है; परन्तु परिणाम से अर्थात् सहजभाव से जो भाव हो, वह पारिणामिकभाव कहा जाता है।

इसप्रकार पाँच भावों के नाम बतलाये। अब उनके भेदों की बात करते हैं। वे भेद कौन-कौन हैं — यह बाद में कहेंगे। **इन पाँच भावों में औपशमिकभाव के दो भेद हैं, क्षायिकभाव के नौ भेद हैं, क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेद हैं, औदयिकभाव के इक्कीस भेद हैं, पारिणामिकभाव के तीन भेद हैं।'**

(१०) 'अब औपशमिकभाव के दो भेद इसप्रकार हैं — उपशमसम्यक्त्व और उपशमचारित्र।' उपशमसम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में होता है और उपशम श्रेणी माँड़ने-वाले को वह सातवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। उपशमचारित्र ग्यारहवें गुणस्थान में होता है। कर्म सत्ता में हो और फल न देता हो — ऐसी पुरुषार्थ की जागृति को उपशम सम्यक्त्व और उपशमचारित्र कहते हैं और ये सब भाव विभावभाव में समाहित होते हैं; क्योंकि ये विशेष भाव हैं, विशेष पर्याय हैं तथा ये सामान्य द्रव्यरूप नहीं हैं, सामान्य द्रव्य, जो त्रिकाली परमपारिणामिकभाव है, उसरूप ये नहीं हैं। सम्यग्दर्शन का विषय परमपारिणामिकभाव है अर्थात् सम्यग्दर्शन परमपारिणामिकभाव के आश्रय से होता है। प्रथम धर्म का प्रारम्भ त्रिकाली परमस्वभावभाव के आश्रय से होता है; इसलिए इस औपशमिकभाव को अपेक्षितभाव (विभावभाव) कहकर, आश्रय करनेयोग्य नहीं है —ऐसा कहा है।

(११) क्षायिकभाव के नौ भेद इसप्रकार हैं — 'क्षायिकसम्यक्त्व' — जो समकित प्रगट हुआ है, वह अब कभी विनष्ट नहीं होगा, वह क्षायिकसम्यक्त्व है। वह सिद्धदशा में भी साथ ही रहता है; फिर भी यहाँ उसको विभावस्वभाव कहा गया है; क्योंकि वह पर्याय है। अहा...! त्रिकाली वस्तु ज्ञायकभाव की-तीनोंकाल ज्ञान और आनन्द का पुंज ऐसा ध्रुव प्रभु आत्मा की-अपेक्षा से इस क्षायिकभाव को भी पर्याय होने से विभाव कहा गया है। लो, क्षायिकभाव को भी विभावभाव कहा है। यहाँ विभाव का आशय विकार नहीं है; परन्तु विशेषभाव है। यह क्षायिकभाव भी त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से विशेषभाव है और वह विशेषभाव पर्यायनय का विषय है; किन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय नहीं है; क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय तो त्रिकाली वस्तु है। उस त्रिकाली वस्तु/आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र और आनन्दादि प्रगट होते हैं; परन्तु इस क्षायिकभाव के आश्रय से वे प्रगट नहीं होते।

'यथाख्यातचारित्र' — यथाख्यातचारित्र अर्थात् जैसा स्थिरता का स्वरूप है, वैसा प्रसिद्ध हो जाना। यथाख्यातचारित्र ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में प्रगट होता है और वह भी विशेष भाव है, पर्याय है। तात्पर्य यह है कि जो क्षायिकभाव है, वह भी विशेषभाव है और इसकारण उसको विभावस्वभाव कहा गया है। अहा! अभी तो अज्ञानी को पुण्य के भाव को विभाव कहना भी रुचिकर नहीं लगता। वह तो पुण्यभाव से भी पवित्रता होना मानता है; जबकि यहाँ तो कहते हैं कि ऐसे क्षायिकभाव (यथाख्यातचारित्र) के आश्रय से भी पवित्रता प्रगट नहीं होती — ऐसी बात है।

'केवलज्ञान और केवलदर्शन' — वह भी विभावभाव है, विशेषभाव है; क्योंकि वह पर्याय है — इस अपेक्षा से विभावभाव है।

'तथा अन्तरायकर्म के क्षयजनित दान.....' — अन्तरायकर्म के अभाव से उत्पन्न होनेवाला दान-स्वरूप का दान, अपने आनन्द का दान स्वयं देता है। लो, पैसे का दान कोई नहीं दे सकता — ऐसा कहते हैं।

प्रश्न — जिसको ये भेद-प्रभेद नहीं आते हों, उसको क्या करना चाहिए ?

उत्तर — भेद-प्रभेद न आते हों तो सीखना। क्या धंधे के सब भेद-प्रभेद नहीं सीखते हो ? तो संसार के कार्य में सब समझ चाहिए और यहाँ अनसमझ चाहिए — ऐसा होगा ?

www.vitragvani.com

प्रश्न — संसार के काम में तो पहले से ही समझ है, जबकि यहाँ तो......... ?

उत्तर — बात सत्य है; क्योंकि अनादि से संसार की ही समझ है न! और इस बात की समझ नहीं की होने से, यह समझ करना कठिन लगती है; फिर भी यह वस्तुस्वरूप समझना; क्योंकि यह अपने घर की बात है। (अपने हित की बात है।)

यहाँ कहते हैं कि दान अर्थात् स्वयं पर्याय में अपने स्वरूप का दान देता है और वह भी विशेषभाव है; क्योंकि वह पर्याय है न! अहा! अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्दादि का दान स्वयं अपने को देता है अर्थात् लेनेवाला भी स्वयं और देनेवाला भी स्वयं है। ऐसी जो दान की अवस्था है, उसको भी त्रिकाली सामान्य द्रव्य की अपेक्षा से विशेषभाव कहा गया है।

इसीप्रकार '**लाभ**' स्वरूप का लाभ। दरवाजे पर लिखते हैं न 'लाभ सवाया' वहाँ तो धूल भी लाभ सवाया नहीं है; क्योंकि वहाँ कहाँ लाभ था ? यहाँ तो कहते हैं कि वे सब लिखनेवाले मूर्ख/पागल हैं। लाभ तो अन्दर में ज्ञान और आनन्द की पर्याय की प्रगटता होने को कहते हैं। आशय यह है कि केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्त-आनन्दादि की पर्याय की प्राप्ति होना वह लाभ है; तथापि वह लाभ भी विभावभाव है। यहाँ विभावभाव का आशय यह है कि त्रिकाली सामान्य द्रव्य नहीं, किन्तु विशेषभाव है और पर्यायनय का विषय है। अहा! दान के योग्य जो जड़वस्तु है, वह अजीव है और दान देने का विकल्प विभाव है तथा उस विकल्परहित अन्तरस्वरूप की निर्विकल्पदशा, जो कि यथार्थ दान है, वह भी विशेषभाव है; परन्तु सामान्य त्रिकालीभाव नहीं है।

'**भोग**' — आत्मा में अनन्त-आनन्द का अनुभव। वह अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का भोग भी विशेष पर्याय है और इसकारण उसको विभावभाव कहा है।

'**उपभोग**' — बारम्बार अतीन्द्रिय आनन्द का भोग वह उपभोग है। वह भी एक विशेषभाव है, इसलिए सामान्यभाव की अपेक्षा विशेषभाव है।

'**वीर्य**' — अनन्तवीर्य प्रगट होता है वह। केवलीभगवान को आत्मा में से अनन्तवीर्य-पुरुषार्थ प्रगट हुआ है। वह अनन्तवीर्य भी पर्याय है और इसकारण त्रिकाली वस्तु द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से उसको विभाव अर्थात् विशेषभाव कहा गया है। इसप्रकार यहाँ बात है। अहा! बात तो ऐसी अलौकिक है!

भाई! तेरे सामान्य द्रव्य में तेरा महाभण्डार भरा है। वह (स्वभाव) अनन्तगुण का समुद्र है और वही आश्रय करनेयोग्य है। यह तो नियमसार अर्थात् मोक्षमार्ग की व्याख्या है न! तो, मोक्षमार्ग किसके आश्रय से प्रगट होता है ? मोक्षमार्ग त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से ही प्रगट होता है; परन्तु पर्याय के आश्रय से मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट नहीं होती।

इसप्रकार क्षायिकभाव की नवलब्धि अर्थात् नौ भेद कहे।

(१२) अन्दर किंचित् उघाड़ हो और किंचित् न हो — ऐसे भाव को क्षायोपशमिकभाव कहते हैं। उस '**क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेद इसप्रकार हैं — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान — ऐसे चार ज्ञान........**' ये चार ज्ञान भी क्षायोपशमिकभाव हैं। अहा! सर्वावधिज्ञान में एक पृथक् परमाणु भी ज्ञात होता है और कदाचित् उस परमाणु से कोई अनन्तवाँ भाग होता तो भी उसमें ज्ञात होता — ऐसा सर्वावधि ज्ञान है; परन्तु वह सर्वावधिज्ञान पर्याय है, अंश है, विशेष है, भेद है; इसलिए वह त्रिकालीद्रव्य की अपेक्षा से विभावभाव है। भाई! अद्‌भुत बात है।

प्रश्न — इसी मार्ग से मोक्ष होगा ? दूसरे किसी मार्ग से मोक्ष नहीं होगा ?

उत्तर — हाँ; यह जो वीतरागमार्ग है, इसी मार्ग से मोक्ष होगा; परन्तु अन्य किसी मार्ग से मोक्ष नहीं होगा। यहाँ वीतरागमार्ग में आये हैं तो कोई सम्प्रदाय बाँधने नहीं आये हैं; परन्तु जो सत्य है उसकी शरण के लिए आये हैं। अनादि से तीर्थंकरदेव ने जैसा वस्तुस्वरूप कहा है, वैसा ही वस्तुस्वरूप है। अर्थात् दिगम्बर मुनियों द्वारा कथित पंथ ही सत्य वस्तु है। अन्यमत में तो भगवान द्वारा कथित वस्तुस्वरूप रहा ही नहीं है; परन्तु अज्ञानी ने अपनी कल्पना से वह सब नया खड़ा किया है। भाई! कठोर बात है। अहा! यह तो अनन्त तीर्थंकरों और सर्वज्ञों का अनादि परम्परा मार्ग है। महाविदेहक्षेत्र में भी भगवान का यही परम्परा मार्ग चलता है। यह जो दिगम्बर धर्म है, वही सनातन धर्म है, निर्ग्रन्थपन्थ है और निर्ग्रन्थपन्थ ही भव अन्त का उपाय है। आशय यह है कि भव के अभाव के लिए उसका शरण लेनेयोग्य है; बाकी यह कहीं कोई पक्ष नहीं है, अपितु वस्तु की स्थिति ही ऐसी है।

यहाँ कहते हैं कि ये चार ज्ञान — सम्यक्‌मति-श्रुतादि क्षायोपशमिकभावरूप हैं और इसकारण वे भी विभावस्वभाव हैं।

www.vitragvani.com

'कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान — ऐसे भेदों के कारण अज्ञान तीन' — ये तीन अज्ञान मिथ्यादृष्टि के होते हैं न! तो वे भी क्षायोपशमिकभावरूप हैं।

'चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ऐसे भेदों के कारण दर्शन तीन' — ये भी क्षायोपशमिकभावरूप हैं। केवलदर्शन क्षायिकभावरूप है और वह पूर्व में क्षायिकभाव में आ गया है।

'काललब्धि' अर्थात् क्षयोपशमलब्धि। काललब्धि क्षायोपशमिकभावरूप है — ऐसा कहते हैं। पाँच लब्धियों के वर्णन में क्षायोपशमलब्धि ली है, जबकि यहाँ काललब्धि ली है। जिससमय जिस पर्यायरूप प्रगटदशा है, वह उसकी काललब्धि है और काललब्धि का वह क्षयोपशमभाव विशेषभाव है। 'द्रव्यसंग्रह' में आता है कि काल है, परन्तु वह हेय है, काललब्धि हेय है। वहाँ ऐसा कहा है कि काललब्धि है अवश्य; परन्तु है हेय। विक्रम संवत् १९८४ में (ईस्वी सन् १९२८ में) दामनगर में एक सेठ के साथ इस काललब्धि पर बड़ी चर्चा हुई थी। उसका कहना था कि तुम (गुरुदेवश्री) पुरुषार्थ....पुरुषार्थ करते हो; परन्तु काललब्धि है इसलिए उस अनुसार कार्य होता है। तब हमने कहा कि काललब्धि हेय है या उपादेय ? उपादेय तो भगवान आत्मा का स्वभाव है, इसलिए वही आश्रय करनेयोग्य है तथा काललब्धि के साथ में पुरुषार्थ भी है। देखो, द्रव्यसंग्रह (गाथा २१, २२) में कहा है कि काल हेय है। यह बात द्रव्यसंग्रह में आती है न ? मैं उससमय वही पढ़ रहा था, मेरे स्वाध्याय में उससमय द्रव्यसंग्रह की वही गाथा आई थी और तभी सेठ के साथ यह चर्चा हुई थी। काललब्धि का ज्ञान कब होता है ? जिसको काललब्धि का यथार्थज्ञान करना हो वह सामान्यद्रव्य का आश्रय लेता है और तब उसको काललब्धि का यथार्थ ज्ञान होता है, वरना उसके बिना यथार्थ ज्ञान नहीं होता। यहाँ तो कहते हैं कि यह काललब्धि की पर्याय भी हेय है। पर्यायरूप चारों ही भाव हेय हैं।

'करणलब्धि' — इसके तीन भेद आते हैं न! अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति-करण — ये सभी भेद क्षायोपशमिकभावरूप हैं और हेय हैं।

'उपदेशलब्धि' — देशनालब्धि। भगवान की अथवा गुरु की देशना वह उपदेशलब्धि है और वह क्षायोपशमिकभावरूप है; क्योंकि उसके निमित्त से ख्याल (ज्ञान) होता है न ? इसलिए इस अपेक्षा से क्षायोपशमिकभावरूप है।

‘**उपशमलब्धि**’ — पाँच लब्धियों के वर्णन में समागत विशुद्धिलब्धि, कषाय की मन्दता। यहाँ कषाय की मन्दता को क्षायोपशमिकभाव में रखा है और पंचास्तिकाय में भी उसको क्षायोपशमिकभाव में रखा है। उसमें थोड़ा-सा अशुभभाव घटता है न; इसलिए द्रव्यनिक्षेप से उसको क्षायोपशमिकभाव कहा जाता है।

‘**प्रायोग्यलब्धि**’ — कर्म की स्थिति बहुत थोड़ी, अंत:कोड़ाकोड़ी रह जाना सो प्रायोग्यलब्धि है। ऐसी भी एक लब्धि है। ‘**....ऐसे भेदों के कारण लब्धि पाँच....**’ — पाँचों ही लब्धियाँ क्षायोपशमिकभावरूप हैं। वह क्षायोपशमिकभाव विभावभाव है, इसलिए आश्रय करनेयोग्य नहीं है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि काललब्धि भी आश्रय करनेयोग्य नहीं है, आश्रय करनेयोग्य तो सामान्य द्रव्य है।

‘**वेदक सम्यक्त्व**’ — अर्थात् क्षायोपशमिकसम्यक्त्व ‘**वेदकचारित्र**’ अर्थात् क्षायोपशमिकचारित्र ‘**और संयमासंयमपरिणति**’ अर्थात् श्रावकपना — ये सभी क्षायोपशमिक भावरूप हैं और इनको विभावभाव कहा गया है; इसलिए ये जाननेयोग्य हैं; परन्तु आदरणीय (आश्रययोग्य) नहीं हैं। आदर (आश्रय) करनेयोग्य तो एक पंचमपारिणामिक-भाव है और उसका आदर करने से ये सभी शुद्ध दशाएँ प्रगट होती हैं।

यहाँ जरा सूक्ष्म बात है; क्योंकि वह ‘शुद्धभाव अधिकार’ है न! अत: यहाँ कहते हैं कि आत्मा का पर के साथ तो कोई संबंध नहीं है; परन्तु इस आत्मा में दो चीज (भाग) हैं — १. त्रिकाली-नित्य ध्रुवभाग और २. उसकी वर्तमान अवस्था का भाग। उसमें स्वयं आत्मा जो ध्रुव, चिदानन्द, अखण्ड आनन्द का धाम है, उसको परमभाव कहो, ध्रुव कहो, सदृश कहो, कारणपरमात्मा कहो, कारणजीव कहो अथवा ज्ञायकभाव कहो — एक ही है। जो ऐसी त्रिकाल एकरूप वस्तु है, उसको यहाँ ‘शुद्धभाव’ कहते हैं। यह शुद्धभाव अधिकार चलता है न, इसलिए उसकी व्याख्या की है। उस ध्रुवभाव के अतिरिक्त उसकी पर्याय में/हालत में दूसरे चार भाव होते हैं।

१. अहा! जो यह त्रिकालीभाव है, परमस्वभावभाव है, त्रिकाल कायम चीज का-वस्तु का सत्त्व है, उसको यहाँ ‘शुद्धभाव’ अथवा ‘परमपारिणामिकभाव’ कहते हैं।

२. उसकी दशा में जो पुण्य-पाप के विकल्प हैं, वह विकार औदयिकभाव है।

www.vitragvani.com

३. जैसे पानी में मैल नीचे जम जाए और ऊपर निर्मल पानी दिखे, वैसे ही अन्दर उपशम हो-कर्म के मन्दपने का भाव हो, वह औपशमिकभाव है। आत्मा में शान्ति की दशा का प्रगट होना औपशमिकभाव है। यह भाव भी पर्याय है; क्योंकि वह दशा नई होती है।

४. क्षायोपशमिकभाव अर्थात् कुछ आवरण हो और कुछ विकास हो वैसी ज्ञानादिक की दशा। वह क्षायोपशमिकभाव भी एक अवस्था है।

५. क्षायिकभाव अर्थात् सम्पूर्ण विकार का क्षय।

केवलज्ञान, केवलदर्शनादि भी नई अवस्थाएँ हैं न! अत: वह क्षायिकभाव भी अवस्था है, पर्याय है।

इसप्रकार इन पर्यायरूप चार भावों में यह सिद्ध करना है कि ये चारों ही भाव आश्रय करनेयोग्य नहीं हैं। सूक्ष्म बात है भाई!

अहो! पूर्ण ब्रह्ममय और ध्रुव चैतन्यबिम्बमय ऐसा जो त्रिकाली आत्मस्वभावभाव है, वह हितार्थी को/आत्मार्थी को/मोक्षाभिलाषी को आदेय अर्थात् उपादेय है। आशय यह है कि वहाँ दृष्टि करनेयोग्य है। उसकी जो अवस्थाएँ हैं, वह तो नई हुई हैं अथवा अवस्थाएँ तो बदलती रहती हैं और जो त्रिकाली वस्तु है, वह तो कायम/नित्य/ध्रुवस्वरूप है; इसलिए यहाँ उस ध्रुवस्वरूप को शुद्धभाव कहकर यह कहा है कि उसका आश्रय लेना, उसकी दृष्टि करना। उसके अवलम्बन से आत्मा में जो दशा होती है, उसको यहाँ धर्मदशा, सुखरूपदशा, हितरूपदशा और मुक्ति के कारणरूपदशा कहते हैं परन्तु अरे! लोगों को इस वस्तु का अभ्यास नहीं है; इसलिए उनको ऐसा लगता है कि यह सब क्या है ? यह क्या कहते हैं ? इसमें क्या समझना ?

दिमाग में एक ऐसा विकल्प आया था कि धनार्थी सो आत्मार्थी नहीं और आत्मार्थी सो धनार्थी नहीं। धनार्थी कहने पर उसमें सब समाहित हो जाता है। लक्ष्मी, आबरू, कीर्ति, स्त्री-परिवार — यह सब धन कहलाता है। जैसे कि 'गोधन' — ऐसा कहते हैं, इसलिए यह सब धन कहलाता है। अत: जो उसका (धन का) अर्थी है, वह आत्मार्थी नहीं है और आत्मार्थी है; वह धनार्थी नहीं है। आशय यह है कि आत्मार्थी पर-वस्तु का आकांक्षी नहीं है। उसका कारण यह है कि धर्मी जीव को (आत्मार्थी को)

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

तो अपना जो ध्रुव नित्य आनन्दस्वभाव है, वह प्राप्त हुआ है। जो सच्चिदानन्द का=सत्+चित+ आनन्द का=शाश्वत ज्ञान और आनन्द का आकांक्षी है, वह तो अन्दर में एकाग्र होता है और इसकारण उसको पर का अर्थीपना तो नहीं; परन्तु जो ये चार (औदयिकादि) पर्यायें हैं; उनका भी अर्थीपना नहीं है — ऐसी बात है। अहा! वीतरागमार्ग को समझने के लिए महान प्रयत्न चाहिए।

अहा! जो पर का अर्थी है, उसका तो झुकाव ही आत्मा की ओर नहीं है; परन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि जो चारप्रकार की दशाएँ हैं, जो रागादि और केवलज्ञानादि पर्यायें हैं, ज्ञानी तो उनका भी अर्थी नहीं है; क्योंकि जो यह पर्याय/अवस्था है, उसमें से नई अवस्था प्रगट नहीं होती। जो त्रिकाल ध्रुवस्वभावी वस्तु है; उस पर दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और आनन्द की दशा प्रगट होती है; इसलिए धर्मी शुद्ध ध्रुवस्वभाव का अर्थी है। भाई! (तत्त्व की) बात तो ऐसी सूक्ष्म है। अरे! अभी तो ये क्या कहते हैं, इसे पकड़ना भी कठिन पड़ता है।

अहा! यह शरीर तो जड़-मिट्टी है; परन्तु उसको और अपने को जाननेवाला जो जाननहार तत्त्व है/ज्ञायकभाववाला तत्त्व-सत्त्व है, वह त्रिकाली ज्ञायकभाव है और वह आत्मा है। क्या वह ज्ञायकभाव नया उत्पन्न होता है ? (नहीं।) क्योंकि जो सत् है, उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? (उसका नाश कैसे हो सकता है ?) तथा ज्ञायकभाव सत् है तो उसमें अपूर्णता और विपरीतता क्या ? यह ऐसे ज्ञायकभाव का/शुद्धभाव का अधिकार है। यह अधिकार सूक्ष्म है। यद्यपि पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा प्रगट होती है, उसको भी शुद्धभाव कहते हैं; परन्तु वह पर्यायरूप शुद्धभाव है। वह कहीं यह (द्रव्यरूप) शुद्धभाव नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि —

(१) दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा और काम, क्रोधादि के भाव अशुद्ध मलिनभाव है, जिनको यहाँ औदयिकभाव कहा गया है। वे शुभाशुभ विकल्प अन्तर में (द्रव्य में) नहीं हैं; अपितु नये प्रगट होते हैं। खाने-कमाने, विषय-भोग के, परिवार और धन की रक्षा के तथा पैसा सुरक्षित रखकर उसका ब्याज कमाने के इत्यादि के सभी परिणाम अकेला पापरूप मलिनभाव है और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, कोमलता इत्यादिरूप विकल्प पुण्यभावरूपी मेल है — इस-प्रकार दोनों ही मैल/मलिनता है और यहाँ उनको औदयिकभाव कहा गया है।

www.vitragvani.com

(२) अन्तर द्रव्य के लक्ष्य से कुछ अंश में धर्म की शान्ति प्राप्त होने को औपशमिक भाव कहते हैं।

(३) क्षायोपशमिकभाव अर्थात् किंचित् विकास हो और किंचित् विघ्न हो और

(४) पूर्ण निर्मलता होने को क्षायिकभाव कहते हैं।

इसप्रकार यहाँ निर्मलता का औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — इन तीन दशाओं से वर्णन किया है; तथापि ये तीनों निर्मल दशाएँ और चौथा औदयिकभाव — ये चारों ही आश्रय करनेयोग्य नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि इनके पक्ष में खड़े रहना योग्य नहीं है, जबकि परमस्वभाव..........अहा! वह वस्तु है न! अस्ति है न! वह कल्पनामात्र नहीं है; परन्तु वस्तुतत्त्व है, अस्ति है और सत् है तथा वह अनादि-अनन्त है। सो अकेला परिपूर्ण स्वभाव का भाव वह वस्तु आश्रय करनेयोग्य है; जब उसके अतिरिक्त चार दशाएँ भी आश्रय करनेयोग्य नहीं हैं। तब फिर बाह्यवस्तुएँ आश्रय करनेयोग्य हैं — ऐसा तो है ही नहीं। भाई! यह अद्भुत बात है! अहा! कल थोड़ा कहा था कि जो केवलज्ञान की पर्याय है उसका, केवलज्ञान अर्थात् आत्मा की मुक्तदशा, उसका यहाँ बहुतप्रकार से वर्णन किया है। जैसे कि —

(१) केवलज्ञान को यहाँ विभावभाव कहा है, क्योंकि वह विशेषदशा है; किन्तु त्रिकाली सामान्यरूप नहीं है। (गाथा-४१)

(२) केवलज्ञान को स्वाभाविकपर्याय भी कहा है। (गाथा १०, ११/१२)

(३) केवलज्ञान को अन्य चार ज्ञानों की अपेक्षा से निरपेक्षपर्याय भी कहा है। (गाथा-१४)

(४) केवलज्ञान को कर्म के निमित्तपने की अपेक्षा से (कर्म अभावरूप निमित्त है — इस अपेक्षा से) कर्मकृत भी कहा गया है। ऐसी बात है भाई! (गाथा-४१)

परन्तु यह तो बहुत सूक्ष्म है ?

अरे! इसको (अज्ञानी को) आत्मा के अन्दर क्या चीज है और वह पिटारा (आत्मारूपी पिटारा) खोलने से उसमें से क्या खिलता है, इसका पता नहीं है। वह तो अनादि से पुण्य और पाप में अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति और काम, क्रोध —

ऐसे जो विकल्प हैं, उनमें अटककर और इसकारण दु:खी होकर परिभ्रमण कर रहा है। अरे! वह दु:खी है।

प्रश्न — पैसावाला भी दु:खी............ ?

उत्तर — आत्मा कहाँ पैसेवाला था ? वह तो रागवाला भी नहीं है और यह ध्रुव आत्मा तो पर्यायवाला भी नहीं है। पर्याय कहने पर इसमें सभी पर्यायें आ जाती हैं।

अहा! वीतराग तीर्थंकरदेव सर्वज्ञपरमात्मा को त्रिकालज्ञान प्रगट होकर उनकी दिव्यध्वनि में जो मार्ग आया वह अलौकिक है। ऐसा मार्ग अन्य कहीं नहीं है, ऐसी वह चीज है; परन्तु अब इस चौरासी लाख योनियों में भटकते प्राणियों को मार्ग का पता ही नहीं है; क्या हो सकता है ? अरे! कुछ दो.........कुछ दो.......यह दो — इसप्रकार गरीब-भिखारी की तरह पामर होकर परिभ्रमण कर रहा है; परन्तु 'मुझे यह आत्मा ही चाहिए' — ऐसी गरज इसने कभी नहीं की है। अहा! यह शरीर तो रोग का घर है और भगवान आत्मा आनन्द का घर है। भगवान अर्थात् यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का घर है, जिसका ताला खोलने से (अन्तर अनुभव करने से) जिसमें से मात्र अतीन्द्रिय आनन्द का ही प्रवाह प्रवाहित होता है — ऐसे इस आत्मा में — ऐसी त्रिकाली चीज में यह औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव नहीं है। हाँ, उसकी पर्याय में ये भाव हैं; परन्तु वस्तु में नहीं है।

(१३) अब औदयिकभाव का बोल है। देखो, औदयिकभाव के इक्कीस भेद हैं।

'औदयिकभाव के इक्कीस भेद इसप्रकार हैं।'

'नारकगति' — नारकगति है न! तो इस (नारकगति के योग्य पर्याय) ध्रुव आत्मा में नहीं है; क्योंकि वह तो पर्याय में है और पलट जाती है।

'तिर्यंचगति' — तिर्यंचगति अर्थात् निगोद से लेकर जो यह संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु की गति (पर्याय) है वह। इस शकरकन्द के एक कण में अनन्त जीव हैं और वे सब तिर्यंच कहलाते हैं अर्थात् वे सब तिर्यंचगति के जीव हैं। वह तिर्यंचगति की पर्याय ध्रुव में नहीं है।

'मनुष्यगति' — मनुष्यगति अर्थात् यह शरीर नहीं; क्या यह शरीर कहीं मनुष्यगति है ? नहीं; क्योंकि यह शरीर तो जड़/मिट्टी है; परन्तु अन्दर मनुष्यगति के योग्य जो

www.vitragvani.com

भाव/ पर्याय है, उसको यहाँ मनुष्यगति का औदयिकभाव कहा गया है। यह मनुष्यगति उसकी पर्याय में है; परन्तु आत्मा में नहीं तथा धर्म करनेवाले को यह मनुष्यगति मददगार भी नहीं है — ऐसा यहाँ कहते हैं।

प्रश्न — निमित्त तो होती है न ?

उत्तर — निमित्त किसको (कब) कहना ? जीव आत्मा के त्रिकालस्वभाव का आश्रय करे, तब उसको निमित्त कहा जाता है। वह निमित्त है अर्थात् एक चीज है — ऐसा ज्ञान करना चाहिए; वरना कहीं उसके आश्रय से धर्म नहीं होता। तात्पर्य यह है कि उससे धर्मरूप कार्य होता है — यह बात नहीं है; इसलिए यह मनुष्यगति कहीं आत्मा के धर्म का कारण नहीं होती, आत्मा को लाभदायक नहीं है।

प्रश्न — किसी अपेक्षा तो लाभदायक है या नहीं ?

उत्तर — नहीं, बिलकुल नहीं; इसमें अपेक्षा कैसी ?

लाभ तो अन्दर त्रिकाली ध्रुव के आश्रय से ही होता है, मनुष्यगति के आश्रय से लाभ नहीं होता। मनुष्यगति है, इसलिए सम्यग्दर्शन का लाभ होता है — ऐसा है ही नहीं। उसका कारण यह है कि मनुष्यगति स्वरूप में ही नहीं है। भाई! बात सूक्ष्म है। अहा! इसने कभी बाहर की माथापच्ची के कारण सत्य सुना ही नहीं है। एक तो संसार से/परिभ्रमण के पापभाव से फुरसत नहीं होता और उसमें कदाचित् सुनने जाए तो वहाँ भी बाह्यप्रवृत्ति की ही बातें सुनने मिलती हैं कि पुण्य करो और यह करो।

प्रश्न — यह गड़बड़ी तो पण्डितों ने की है ?

उत्तर — तुम्हारी उससमय की योग्यता (अच्छी) नहीं थी, इसलिए पण्डितों ने घोटाला किया है तथा बिचारे पण्डित करें भी क्या ? क्योंकि उन बिचारों को तो बैठा हो वही कहेंगे। अहा! कहाँ तो स्व में मोक्षपन्थ का आधार है और कहाँ पर में खोजने जाते हैं! यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन है। उसको जो जानता है, मानता है और उसमें स्थिर होता है, उस जीव को मोक्ष का पन्थ प्रगट होता है। उसमें अन्य किसी की आवश्यकता नहीं है। यहाँ कहा है कि मनुष्यगति आत्मा में नहीं है।

'देवगति' — लो, देवगति आत्मा में नहीं है।

प्रश्न — परन्तु देवगति हो तो भगवान के पास जाया जा सकता है और फिर धर्म का लाभ होता है ?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

***उत्तर* —** बिलकुल नहीं; गति से आत्मा को लाभ नहीं होता; परन्तु चैतन्य ध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से ही लाभ होता है — ऐसा यहाँ कहते हैं।

'क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय और लोभ कषाय — ऐसे भेद के कारण कषाय चार' — यह औदयिकभाव स्वभाव में नहीं है।

'स्त्रीलिंग, पुंलिंग और नपुंसकलिंग — ऐसे भेद के कारण लिंग तीन' — ये तीनों लिंग आत्मा में नहीं हैं। यह भाववेद की बात है, शरीर के लिंग की बात नहीं; क्योंकि शरीर तो जड़ है, जबकि यह (लिंगभेद) औदयिकभाव हैं। ये सब औदयिकभावरूप भावलिंग आत्मा में नहीं हैं अर्थात् ये सब पर्याय में/हालत में/दशा में/अवस्था में हैं; परन्तु त्रिकाली द्रव्य में नहीं।

'सामान्य संग्रहनय की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन एक....' पुण्य में धर्म है, पाप में मजा है तथा अनुकूलता देखकर प्रसन्नता होना, प्रतिकूलता देखकर क्षोभ इत्यादि होना — ये सब मिथ्यात्व के लक्षण हैं। वह मिथ्यात्व/विपरीत मान्यता संसार का मूल कारण है। यह विपरीत मान्यता आत्मद्रव्य में नहीं है; अपितु पर्याय में है। यहाँ सामान्य संग्रहनय की अपेक्षा मिथ्यात्व का एक भेद लिया है। यों तो मिथ्यात्व के असंख्यात भेद हैं और प्रभेद अनन्त हैं; फिर भी सामान्यरीति से वह एक है — ऐसा कहते हैं।

'अज्ञान एक..' वस्तु का अभानपना ऐसा अज्ञान एक है और वह द्रव्य में नहीं है।

'असंयमता एक......' उसप्रकार के राग-द्वेष का अभाव न हुआ हो और अविरतभाव हो, वह असंयमभाव है और वह औदयिकभावरूप है; इसलिए वह भाव स्वभाव में नहीं है।

'असिद्धत्व एक.....' सम्पूर्ण असिद्धत्वभाव अर्थात् चौदहवें गुणस्थान तक का सिद्धपने के अभावरूप का भाव और वह सब औदयिकभावरूप है; इसलिए वह भाव आत्मा में नहीं है।

'शुक्ललेश्या....' देखो, अच्छी में अच्छी (पुण्य की) लेश्या भी जीव में नहीं है — यह सिद्ध करने के लिए, कृष्ण, नील, कापोत लेश्या जीव में नहीं है — ऐसा (प्रथम) नहीं लेकर यहाँ से-शुक्ललेश्या से बात ली है। दया, दानादि पुण्य परिणाम

www.vitragvani.com

हैं न! तो वे शुभ परिणाम भी आत्मा में नहीं हैं अर्थात् द्रव्य में नहीं हैं; परन्तु उसकी पर्याय में वह मलिनता है। यह शुक्ललेश्या भी मलिन है।

'**पद्मलेश्या...**' शुक्ललेश्या से किंचित् मंद (कुछ कम शुभ) लेश्या भी आत्मा में नहीं है।

'**पीतलेश्या...**' यह भी शुभलेश्या है और यह भी आत्मा में नहीं है।

उपरोक्त तीनों लेश्याएँ शुभ हैं।

'**कापोतलेश्या, नीललेश्या और कृष्णलेश्या — ऐसे भेद के कारण लेश्या छह।**' ये अशुभ लेश्याएँ हैं और ये भी आत्मद्रव्य में नहीं हैं। 'शुद्धभाव' जो कि ध्रुव है, उसमें ये लेश्याएँ नहीं हैं, किन्तु पर्याय में हैं।

'**पारिणामिकभाव के तीन भेद इसप्रकार हैं — जीवत्वपारिणामिक...**' त्रिकाली जीव जो कि जीवरूप ही रहा है — ऐसा पारिणामिकभाव वह जीवत्वपारिणामिकभाव है।

'**भवत्वपारिणामिक**' मोक्ष जाने की योग्यतावाला जो जीव वह भव्यत्वपारिणामिक-वाला है।

'**अभव्यत्वपारिणामिक**' जो कभी मोक्ष प्राप्ति के योग्य नहीं है, वह अभव्यत्व-पारिणामिकवाला है।

'**यह जीवत्वपारिणामिकभाव भव्यों में तथा अभव्यों में समान होता है**', जीवत्व-पारिणामिकभाव दोनों को (भव्यों तथा अभव्यों को) समान होता है।

'**भव्यत्वपारिणामिकभाव भव्यों को ही होता है; अभव्यत्वपारिणामिकभाव अभव्यों को ही होता है। इसप्रकार पाँच भावों का कथन किया।**'

प्रश्न — इस भव्यत्वपारिणामिक तथा अभव्यत्वपारिणामिक का अर्थ क्या है ?

उत्तर — यह पर्याय है अर्थात् पर्याय की ऐसी योग्यता है।

अब परमात्मा को जो केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि होता है, वह '**कार्यसमयसार-स्वरूप है।**' यह नया कार्य हुआ है न! तथा यह तो पर्याय है; इसलिए केवलज्ञान, केवलदर्शन, पूर्ण वीतरागता पूर्ण आनन्द और पूर्ण वीर्य इत्यादि ऐसी जो (पूर्ण) दशाएँ

www.vitragvani.com

हैं, वे कार्यसमयसारस्वरूप हैं और यह शुद्धभाव, जो कि त्रिकाल रहता है, वह कारण-परमात्मा है, कारणसमयसार है। इसके आश्रय से कार्यसमयसार प्रगट होता है।

आशय यह है कि त्रिकाली ध्रुव कारणस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से केवलज्ञान और मुक्ति होती है अर्थात् आत्मा को पूर्णानन्द की प्राप्ति — ऐसा जो कार्यसमयसार, वह कारणसमयसार में से आता है। और '**वह (क्षायिकभाव) त्रिलोक में प्रक्षोभ के हेतुभूत तीर्थंकरपने द्वारा...**' देखो, तीर्थंकर की व्याख्या आई कि तीर्थंकर त्रिलोक में प्रक्षोभ के हेतुभूत हैं। फुटनोट में प्रक्षोभ का अर्थ इसप्रकार है — 'प्रक्षोभ=तीर्थंकर के जन्मकल्याणकादि प्रसंगों पर तीनलोक में आनन्दमय..खलबली..होती है।' आनन्दमय अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द नहीं, अपितु साता; क्योंकि यदि एकसमय भी अतीन्द्रिय आनन्द हो जाए तो भव का अभाव हो जाए; परन्तु भगवान के ऐसे जन्मकल्याणकादि अनन्तबार हुए हैं और अनन्तबार इसको ऐसी साता भी हुई है; तो भी भव का अभाव नहीं हुआ। आशय यह है कि जब भगवान का जन्म होता है, तब सम्पूर्ण लोक में किंचित् साता होती है और इसीलिए इस जीव को भी किंचित् साता/साता का सुख होता है। अरे! नारकी को भी थोड़ी साता/चैन होती है तथा भगवान गर्भ में आयें, दीक्षा लें, केवलज्ञान प्राप्त करें और मुक्ति प्राप्त करें; तब भी किंचित् साता होती है; क्योंकि जन्मकल्याणकादि ऐसा कहा है न!

यहाँ कहते हैं कि '**त्रिलोक में प्रक्षोभ के हेतुभूत तीर्थंकरपने के द्वारा...**' भगवान के जन्मकल्याणकादि होने पर तीनों लोक आनन्दमय हो जाते हैं — ऐसा ही जगत को और भगवान की तीर्थंकर प्रकृति को कोई निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। '**उस तीर्थंकरपने के द्वारा प्राप्त हुए सकल-विमल केवलज्ञान से युक्त तीर्थनाथ को (तथा उपलक्षण से सामान्य केवली को) अथवा सिद्ध भगवान को होता है।**' यह क्षायिकभाव सिद्ध भगवान को तथा तीर्थंकर को/अरहंत को/केवली को होता है।

'**औदयिक**' अर्थात् राग-द्वेषादिक, '**औपशमिक**' अर्थात् समकित आदि '**और क्षायोपशमिकभाव**' अर्थात् अपूर्ण ज्ञानादिकभाव। ये भाव '**संसारियों को ही होते हैं, मुक्त जीवों को नहीं।**' मुक्त जीवों के ये भाव नहीं होते।

देखो, अब सार आता है। '**पूर्वोक्त चार भाव...**' पूर्वोक्त=पूर्व+उक्त=पूर्वकथित और चारभाव=क्षायिकादि चारभाव। क्षायिकभाव=केवलज्ञानादिक; क्षायोपशमिकभाव=

www.vitragvani.com

मतिज्ञानादि, औपशमिकभाव=समकित और चारित्र तथा औदयिकभाव=रागादिक। इसप्रकार ये पूर्वकथित क्षायिकादिभाव '**आवरण संयुक्त होने से मुक्ति का कारण नहीं है।**'

यह किस अपेक्षा से कहा है समझे ? यहाँ कहने का आशय यह है कि क्षायिक पर्याय में कर्म के अभावरूप निमित्तपना है न; इस अपेक्षा से क्षायिकभाव को भी आवरण संयुक्त कहा है अर्थात् केवली को भी आवरण संयुक्त कहा है। यहाँ तो पंचमभावरूप ध्रुव का आश्रय लिवाने के लिए, उसको उपादेय मनवाने के लिए इन चार भावों को आवरणवाला कहा गया है तथा साधक को केवलज्ञान तो होता नहीं और यदि केवलज्ञान का लक्ष्य करने जाए तो उसको विकल्प उत्पन्न होते हैं; इसलिए केवलज्ञान को भी आवरणवाला कहा है। अहा! दया, दान का भाव-औदयिकभाव तो आवरणवाला है ही; क्योंकि वह स्वयं ही मलिन है; जबकि औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव तो निर्मल है; परन्तु उनके आश्रय से, उनके लक्ष्य से तो राग ही उत्पन्न होता है; इसलिए उनको भी आवरणवाला कहा गया है।

प्रश्न — टीका कड़क पड़ती है ?

उत्तर — परन्तु इसका अभ्यास कब किया है ? जबकि अन्दर से रुचिपूर्वक व्यापार-धंधे का अभ्यास कितना है।

अहा! शुद्धपर्याय मुक्ति-परमानन्द का कारण नहीं है; अपितु त्रिकाली ध्रुवद्रव्य मुक्ति का कारण है — ऐसा यहाँ सिद्ध करना है; इसलिए कहते हैं कि क्षयोपशम समकित और चारित्रादिरूप जीव की प्रगट हुई पर्याय भी मुक्ति का कारण नहीं है; तो फिर संस्थान, मनुष्यगति अथवा राग मुक्ति का कारण — यह बात तो कहीं रह गई अर्थात् ऐसा तो है ही नहीं तथा पैसा मुक्ति-धर्म का कारण हो — ऐसा भी नहीं हो सकता।

प्रश्न — पैसेवालों के बिना रथयात्रा कौन निकाल सकता है ? क्या गरीब मनुष्य निकाल सकता है ?

उत्तर — भाई! वह जड़ की पर्याय तो जड़ से होती है।

उसको करे कौन ? तथा वह पर्याय होनी हो, उससमय होती है; उसको दूसरा कौन कर सकता है ? ऐसी (स्वतंत्रता की) बात है। यहाँ तो ऐसा स्पष्ट है। अहा! भगवान

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

का मार्ग ऐसा है — अत्यन्त निवृत्तस्वरूप है; इसलिए पर्याय से भी निवृत्त हो जा और ध्रुव का अवलम्बन ले — ऐसा यहाँ कहते हैं।

***प्रश्न* —** पास में कुछ हो, स्त्री-पुत्रादि व्यवस्था करते हों, सेवा करते हों तो ठीक पड़ता है ?

***उत्तर* —** मूढ़ हो, उसमें किसकी व्यवस्था ? बाहर की जड़ पर्याय में व्यवस्था क्या होती है ? यहाँ तो उससे आगे कहते हैं कि मोक्षमार्ग की पर्याय भी आश्रय करनेयोग्य नहीं है।

इसलिए कहते हैं कि '**पूर्वोक्त चारों भाव....**' चारों भाव अर्थात् जो यह क्षायिकादि चारों ही पर्यायें हैं, वे '**आवरण संयुक्त होने से**' उन भावों के लक्ष्य से राग ही उत्पन्न होता है; इसकारण उनको आवरण संयुक्त कहा है; इसलिए वे '**मुक्ति का कारण नहीं हैं।**'

'**त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है**' सत्स्वरूपध्रुव नित्यानन्दप्रभु भगवान आत्मा, जो कि नित्यभाव है, वह त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप है। उसको कोई उपाधि नहीं है। '**ऐसे निरंजन**' जिसको अंजन नहीं है — ऐसा '**निज परमपंचमभाव की (पारिणामिकभाव की)**' देखो, यहाँ ऐसा कहा है कि निरंजन निज परमपंचमभाव; परन्तु भगवान का परमपंचमभाव नहीं; क्योंकि भगवान का परमपंचमभाव तो उनके पास रहा है। तो कहते हैं कि त्रिकाली ध्रुवस्वभाव की-त्रिकाली परमस्वभाव की अस्तिस्वरूप — ऐसा जो चार पर्यायों से रहित/भिन्न पंचमभाव है, उसकी '**भावना से**' देखो, पंचमभाव की भावना से अर्थात् उसकी सन्मुखता से। यह भावना है तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय; परन्तु वह पंचमभाव की सन्मुखता से प्रगट हुई है। (पर्याय की सन्मुखता से नहीं।) इसलिए कहते हैं कि पंचमभाव की भावना से मुक्ति है; परन्तु पर्याय की भावना से मुक्ति नहीं है। अहो! अद्भुत बात है।

***प्रश्न* —** बाहरवालों को तो यह बात कड़क लगती है ?

***उत्तर* —** परन्तु उन्होंने कभी यह सुना नहीं है न! तथा इस बात का उनको पता भी नहीं है; इसलिए कड़क लगती है।

***प्रश्न* —** आप उनको समझा सकते हो ?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

***उत्तर* —** यहाँ तो जिसको अपना हित करना हो उसकी बात है; बाकी दूसरों का हित हो या नहीं हो वह उनके आधीन है — यहाँ तो ऐसी बात है।

परमपंचमभाव अर्थात् द्रव्य का त्रिकाल एकरूप अस्तित्ववाला स्वभाव और ऐसा सत्‌रूप निज त्रिकाली भगवान आत्मा ही मुक्ति का कारण है अर्थात् जिसमें मुक्ति की अनन्त....अनन्त..अनन्त पर्यायें पड़ी हैं, उसमें एकाग्र होने पर मुक्ति की पर्याय प्रगट होती है; परन्तु क्षायोपशमिक आदि भाव में एकाग्र होने से क्षायिकभाव/मुक्ति की पर्याय प्रगट नहीं होती। कदाचित् नीचे के (चौथे, पाँचवें, छठवें आदि) गुणस्थानों में क्षायिक समकित हो तो भी उसमें एकाग्र होने से केवलज्ञान नहीं होता।

अहा! एकसमय में जो पूर्ण स्वरूप त्रिकालवस्तु है, उसकी सत्ता का स्वीकार करना सम्यग्दर्शन है; परन्तु वह स्वीकार कितना महान है ? क्योंकि एकसमय की केवलज्ञान की पर्याय में भी वह वस्तु नहीं आती तथा केवलज्ञान की पर्याय होने पर भी उसमें कुछ कमी नहीं हुई अर्थात् जहाँ घट-बढ़ नहीं है — ऐसा यह त्रिकाली ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा है; कारण की घट-बढ़ तो उसकी दशा में होती है और दशा में घट-बढ़ होने पर भी अन्दर द्रव्य में घट-बढ़ नहीं है। अरे! रौद्रध्यान के क्रूर परिणाम के समय भी ध्रुवस्वरूप तो ऐसा का ऐसा ही है, उसमें कुछ बिगाड़-सुधार नहीं है तथा पूर्णानन्द और केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर भी वस्तु में कुछ कमी नहीं होती। वस्तु तो वस्तुरूप ही-ध्रुवरूप और एकरूप ही पड़ी है और इसकारण उसको यहाँ निरुपाधिस्वरूप कहा है — ऐसा तत्त्व है।

ऐसा जो निरंजन निज परमपंचमभाव है, उसकी भावना से अर्थात् पंचमभाव की एकाग्रता से..यद्यपि वह एकाग्रता है तो पर्याय; परन्तु उस पर्याय की एकाग्रता नहीं, अपितु परमपंचमभाव की एकाग्रता है — ऐसा कहना है। उससे **'पंचमगति को मुमुक्षु'**-परमस्वरूप भगवान आत्मा जो कि ध्रुव है, वह मैं हूँ; परन्तु पर्याय में नहीं है — ऐसे पंचमभाव की भावना से मुमुक्षु....।

***प्रश्न* —** परन्तु ऐसा निर्णय करनेवाली तो पर्याय है न ? अर्थात् भावना तो पर्याय है न ?

***उत्तर* —** हाँ, निश्चय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्‌चारित्र भावना है और वह भावना पर्याय है; फिर भी भावना तो पंचमभाव की ही है — ऐसा कहना है।

आशय यह है कि भावना कोई पर्याय की या राग की या निमित्त की नहीं है; परन्तु त्रिकाली द्रव्य की है।

जिसका कायम एकरूपपना है (जो कायम एकरूप है) — ऐसे पंचमभाव की भावना से 'पंचमगति में' मुक्ति में-सिद्धगति में 'मुमुक्षु' मोक्ष के अभिलाषी जीव '**(वर्तमानकाल में) जाते हैं**' अभी भी महाविदेहक्षेत्र में से जाते हैं। महाविदेह में भगवान साक्षात् विराजमान हैं और वहाँ अभी भी मुक्ति पानेवाले जीव हैं। '**(भविष्यकाल में) जायेंगे**' भविष्यकाल में भी इसीप्रकार मुक्ति में जायेंगे। त्रिकाली भगवान आत्मा की पंचमभाव की भावना करते-करते भविष्य में भी इसीप्रकार मुक्ति को पायेंगे अर्थात् भविष्य में भी इसीप्रकार मुक्ति है; क्योंकि मुक्ति का पंथ एक ही है। '**और (भूतकाल में) जाते थे**' जो भूतकाल का अनन्तकाल व्यतीत हुआ, उसमें जितने जीव मुक्ति को/ सिद्धपद को प्राप्त हुए अर्थात् 'णमो सिद्धाणं — ऐसी सिद्धदशा को प्राप्त हुए, वे सब त्रिकाली ध्रुव की भावना से ही प्राप्त हुए हैं। कहा भी है न —

'**एक होय तीनकाल में परमारथ का पंथ।**' (आत्मसिद्धि गाथा-३६)

अर्थात् तीनकाल में यह एक ही मार्ग है, पंथ है — ऐसा कहते हैं।

अहा! जिसको व्यवहार की पकड़ हो, उसको ऐसा लगता है कि ऐसी टीका ? हमको मुनि की टीका नहीं, आचार्य की टीका चाहिए; परन्तु भाई! समकिती भी सिद्ध जैसा है। जैसा तिर्यंच का समकित है, सिद्ध का समकित भी वैसा ही है। क्या उन दोनों में कोई अन्तर है ? हाँ, स्थिरता में अन्तर है; परन्तु वह तो अलग बात है; यों तो तिर्यंच के सम्यग्दर्शन में और सिद्ध के सम्यग्दर्शन में कोई अन्तर नहीं है; इसलिए सम्यग्दृष्टि के कथन भी केवली जो कहते हैं, वही कहते हैं। अत: केवली कहते हैं, वही मुनिराज कहते हैं और मुनिराज कहते हैं, वही केवली कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि चार भाव पर्यायरूप हैं, इसलिए उनका आश्रय करनेयोग्य नहीं है और इसकारण उनको आवरणयुक्त कहा है। त्रिकाल निरावरण निरुपाधि जिसका स्वरूप है — ऐसा जो यह निरंजन निज परमपंचमभाव है, वही आश्रय करनेयोग्य है।

अरे! परन्तु 'अभी ऐसी चीज मैं हूँ' — ऐसा पहले विकल्प से, अनुमान से विश्वास तो करे। ऐसा स्वभाव अस्ति है अर्थात् पूर्ण भावमय स्वभाव की सत्ता, उसका होनापना

www.vitragvani.com

ऐसा है, इसप्रकार प्रथम विकल्पसहित निर्णय करने के पश्चात् निर्विकल्प भावना से उसका निर्णय करे तो उसको सच्चा निर्णय कहा जाता है। अहा! कहाँ जाना है और (जीव) कहाँ भटकता है ?

देखो, यहाँ तीनों काल एक ही मार्ग है — ऐसा कहा है अर्थात् भूतकाल में भी इस त्रिकाली ध्रुवस्वरूप आत्मा की भावना से जीव मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, वर्तमानकाल में भी इस त्रिकाली ध्रुवस्वरूप आत्मा की भावना से/जो यह शुद्धभाव है, उसकी भावना से जीव मुक्ति पाते हैं और भविष्यकाल में भी इसकी ही भावना से जीव मुक्ति प्राप्त करेंगे; परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

कलश ५८ पर प्रवचन

'**ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप पाँच आचारों से युक्त**' सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और सम्यक्वीर्य — इन पाँच आचारों से पर्याय में/अवस्था में/वर्तमान हालत में युक्त.....देखो! आचारों में पहला ज्ञान लिया है; क्योंकि जहाँ प्रवचनसार गाथा-२ में पाँच आचार आते हैं, वहाँ पहले ज्ञान आता है और फिर दर्शन आता है; इसलिए यहाँ भी वैसा ही लिया है। ये पाँच आचार निर्विकल्प हैं; परन्तु पढ़ना, विनयपूर्वक वाँचना इत्यादि ऐसे समस्त विकल्प की (विकल्परूप पंचाचारों की) बात यहाँ नहीं है।

सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप पाँच आचार, जो कि अन्दर ध्रुव के आश्रय से प्रगट हुई दशा है, उससे सहित '**और किंचित् भी परिग्रहप्रपंच से सर्वथा रहित**' किसी भी राग की तथा एकसमय की पर्याय की भी वहाँ पकड़ नहीं है अर्थात् पंचाचाररूप अंश होने पर भी उस अंश की पकड़ नहीं है, अंशबुद्धि नहीं है; परन्तु ध्रुव की पकड़ हैं — ऐसा यहाँ कहना है। अहा! मुश्किल से घंटे दो घंटे फुरसत होकर आया हो, वहाँ यह सुनने मिले कि पाँच भावों में से एक भाव त्रिकाली है और अन्य चार भाव पर्यायरूप है; तो सामान्य व्यक्ति को तो बहुत कड़क लगता है; परन्तु भाई! तीनोंकाल मार्ग का प्रवाह तो यही चला आ रहा है और इसलिए तो देखो न, (गाथा ४३ में) तीनोंकाल की बात की है।

प्रश्न — पंचमकाल में कुछ परिवर्तन नहीं होता ?

www.vitragvani.com

***उत्तर* —** कोई नहीं। तीनोंकाल कुछ भी फेरफार कहाँ है ? यह बात तो अन्दर टीका में ही है, देखो! तथा वर्तमानकाल की बात भी देखो! अहा! '**एक होय तीनकाल में परमारथ का पंथ।**'

यहाँ कहते हैं कि मुनि पंचाचारों से सहित होते हैं और किंचित् भी परिग्रह प्रपंच से सर्वथा रहित होते हैं। इसप्रकार पंचाचारों से सहित और परिग्रह से सर्वथारहित कहा है; क्योंकि यहाँ मुनि की मुख्यता से बात करते हैं न। इसीप्रकार ज्ञानी को भी परिग्रह नहीं है; पर्याय का परिग्रह-पर्याय की पकड़ नहीं है।

***प्रश्न* —** परिग्रह अर्थात्... ?

***उत्तर* —** परिग्रह=परि+ग्रह=समस्त प्रकार से पकड़ना। जब पर्याय की एकत्वबुद्धि भी परिग्रह है, तो फिर धूल-पैसे का परिग्रह तो कहाँ रह गया।

***प्रश्न* —** यहाँ इन पाँच आचारों को किसलिए याद किया ?

***उत्तर* —** क्योंकि ध्रुव वह पंचमभाव है न ? इसलिए जो पाँच-पाँच हैं, उनको याद किया है अर्थात् ध्रुव सो पंचमभाव, मोक्ष वह पंचमगति और मुनि पाँच आचारों सहित — इसप्रकार जो पाँच-पाँच हैं, उनको याद किया है तथा देखो, वहाँ १५वीं गाथा में कारणशुद्धपर्याय के लिए जो शब्द था, वैसा 'संचित' शब्द यहाँ भी आया है। आशय यह है कि कारणशुद्धपर्याय के विशेषणरूप 'संचित' शब्द था कि कारणशुद्धपर्याय पूज्य है, सो वैसा 'संचित' शब्द यहाँ पंचमभाव के लिए भी आया है; इसलिए पंचमभाव की तरह कारणशुद्धपर्याय भी 'संचित' है, पूजित है।

***प्रश्न* —** यहाँ 'सर्वथा रहित' ऐसा क्यों कहा ? कथंचित् रहित और कथंचित् सहित — ऐसा कहो; क्योंकि भगवान का मार्ग अनेकान्तरूप है ?

***उत्तर* —** भाई! मुनि को किंचित् भी परिग्रह-विकल्प का भी परिग्रह नहीं है और पर्याय की पकड़ भी नहीं है — ऐसा यहाँ कहना है। वे पाँच आचारों से सहित हैं और परिग्रह से सर्वथारहित हैं — इसका नाम ही अनेकान्त है।

'**ऐसे विद्वान..**' भाषा देखो! कहते हैं कि उसको विद्वान कहते हैं, जो सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य — ऐसे पाँच आचारोंरूप निर्विकल्पदशा-वीतरागीदशा सहित हैं और पर के परिग्रह से सर्वथारहित हैं। अहा! ऐसे को विद्वान/पण्डित कहते

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

हैं कि जो अपना कार्य पूर्ण करने में तत्पर हैं और वे '**पूजनीय पंचमगति को प्राप्त करने के लिए पंचमभाव का स्मरण करते हैं।**' देखो, पूजनीय पंचमगति ऐसा कहते हैं अर्थात् सिद्धगति पूजनीय है; क्योंकि वह पूजनीय तो है न ? इसलिए विद्वान उस 'पूजनीय पंचमगति को प्राप्त करने के लिए' सिद्धपद प्राप्त करने के लिए 'पंचमभाव का स्मरण करते हैं।' पंचमभाव को स्मरण में रखते हैं। उनके स्मरण में वह पंचमभाव आता है। पहले से अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा से ध्रुवस्वरूप पंचमभाव को पकड़ा है अर्थात् ध्रुवभाव..ध्रुवभाव..ध्रुवभाव — इसप्रकार उसका ही स्मरण रहता है — ऐसा कहते हैं।

अहा! कहते हैं कि अज्ञानी जो पहले का (भूतकालीन) याद करता है, वह तो सब पाप का स्मरण है; क्योंकि वह रागादि को याद करता है कि हमने ऐसा पुण्य किया था, हम ऐसे पैसेवाले थे और हम बड़े माता-पिता के पुत्र थे इत्यादि। भाई! यह सब तो पाप के पोटले हैं, इसलिए उनको क्या याद करता है ? तथा पर्याय को भी किसलिए याद करता है ? पंचमभाव को याद कर न! अनादि-अनन्त, नित्यानन्द, प्रभुमय, ध्रुवस्वभावरूप पंचमभाव को, जो कि चार पर्यायों (औपशमिकादि भावों) से भी भिन्न है, उसका स्मरण कर — ऐसा कहते हैं। लो, उसको विद्वान कहते हैं। अहा! विद्वान उसको कहते हैं कि जो अपने ज्ञानस्वरूप की लक्ष्मीवाला हुआ है अर्थात् ज्ञान का पिण्ड ऐसा ज्ञानस्वरूपी त्रिकाली भगवान आत्मा को याद करनेवाले को पण्डित कहते हैं। ज्ञानलक्ष्मी अर्थात् आत्मा की त्रिकाल ज्ञानलक्ष्मी; परन्तु पर्याय की ज्ञानलक्ष्मी नहीं। इसप्रकार विद्वान पूजनीय पंचमगति को प्राप्त करने के लिए पंचमभाव का स्मरण करते हैं अर्थात् पंचमभाव की भावना भाते हैं।

कलश ५९ पर प्रवचन

'**समस्त सुकृत (शुभकर्म) भोगियों के भोग का मूल है।**' सुकृत अर्थात् शुभकर्म और शुभभाव — दोनों साथ लेना। भोगियों अर्थात् राग को और दु:ख को भोगनेवाले। यह शुभभाव और शुभकर्म भोगियों के भोग का मूल है; परन्तु योगियों के योग का मूल नहीं है अर्थात् आत्मा के धर्म को भोगनेवालों को वह (सुकृत) कोई कारण (मददरूप) नहीं है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

‘**परमतत्त्व के अभ्यास में निष्णात चित्तवाले मुनीश्वर..**’ परमतत्त्व ऐसा जो त्रिकाली भगवान आत्मस्वभाव है, उसके अभ्यास में जो निष्णात-निपुण है अर्थात् जो परमपारिणामिकभाव में एकाग्र होने के लिए निपुण चित्तवाले हैं, वे मुनीश्वर....यहाँ मुनि की मुख्यता से बात की होने से ऐसा कहते हैं; तो वे ‘**मुनीश्वर भव से विमुक्त होने के लिए**’ अरे! चौरासी लाख योनियों के अवतार-जन्म छोड़ने के लिए ‘**उस समस्त शुभकर्म को छोड़ो।**’ लो, यह उपदेश है। शुभभाव आयें हों; परन्तु उनको दृष्टि में से छोड़े बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता; इसलिए उस समस्त शुभकर्म को छोड़ो।

‘**और सारतत्त्वस्वरूप ऐसे उभय समयसार को भजो।**’ फुटनोट में स्पष्टीकरण है कि ‘समयसार सारभूततत्त्व है। उभय समयसार अर्थात् त्रिकाली कारणसमयसार और कार्यसमयसार। प्रगट करनेयोग्य समयसार (शुद्धपर्याय) वह कार्यसमयसार है और कारणसमयसार तो स्वयं त्रिकाली आत्मा है। त्रिकाली भगवानस्वरूप को (भगवान आत्मा के त्रिकाली स्वरूप को) कारणसमयसार कहते हैं और उसके आश्रय से प्रगट होनेवाले केवलज्ञानादि को कार्यसमयसार कहते हैं। सो ऐसे उभयसमयसार को भजो। देखो, ‘भजो’ (भजना) यह मोक्ष का मार्ग हुआ।

आशय यह है कि ‘उभयसमयसार को भजो’ — ऐसा कहने से तीनों (१) त्रिकाली द्रव्य, (२) मोक्ष और (३) मोक्षमार्ग आ गये —

- कारणसमयसार वह त्रिकाली ध्रुव है।
- कार्यसमयसार वह केवलज्ञान और मुक्ति की पर्याय है और
- इन दोनों को भजो — यह मोक्ष का मार्ग है।

अहा! मुक्ति प्रगट करने के लिए महा अस्ति के दलरूप अपने ध्रुव चैतन्यस्वभाव को भजो अर्थात् उसमें एकाग्र होओ तथा कार्यसमयसार को भी भजो — इस कथन का अर्थ यह है कि कारणसमयसार का भजन हुआ, उसमें कार्यसमयसार का भजन भी आ गया।

‘**इसमें क्या दोष है ?**’ कहते हैं कि सब छोड़कर आत्मा में रमने में क्या बाधा है ?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

प्रश्न — परन्तु अरे! इससे तो यह सब बाहर की प्रभावना रुक जायेगी ? सभी मौन होकर आत्मा का ध्यान करेंगे तो फिर यह बाहर की/जैनशासन की प्रभावना नहीं होगी ?

उत्तर — अरे भाई सुन! यहाँ तो कहते हैं कि प्रभावना उसके अपने कारण होती है। अब यदि वह उसके स्वयं के कारण ही रुकेगी तो तुझे क्या है ? उसमें तुझे क्या दोष है ? प्रभावना तो उसके स्वयं के कारण होती है, इसलिए तुझे तो आत्मा का हित करनेयोग्य है। अहा! वह (प्रभावना) न कर तो उसमें तुझे क्या दोष है ? तू शुभ विकल्प भी न करे और उससे जैनशासन की व्यवहार प्रभावना न हो तो इसमें दोष क्या है ? 'इसमें दोष क्या है' — ऐसा कहकर यह कहते हैं कि करनेयोग्य तो आत्महित ही है।

प्रश्न — यदि आत्मा को भजेंगे तो तीर्थ की और साधु की सँभाल करना, यात्रा करना, शास्त्ररचना करना इत्यादि सब कार्य रुक जायेगा ?

उत्तर — परन्तु उसमें क्या दोष है ? क्योंकि आत्मस्थिरता ही काम है तथा पर का (शास्त्ररचनादि) कार्य कौन करता है ? (वह तो स्वयं अपनी योग्यता से हो जाता है।) ●

शत्रु हो वह भी उपकार करने से मित्र बन जाता है, इसलिए जिसे दान-सन्मान आदि दिये जायें वह शत्रु भी अपना अत्यन्त प्रिय मित्र बन जाता है तथा पुत्र भी उसकी इच्छित सामग्री रोकने तथा अपमान तिरस्कार आदि करने से क्षणमात्र में अपना शत्रु हो जाता है। इसलिए संसार में कोई किसी का मित्र या शत्रु नहीं है। कार्य अनुसार मित्रपना और शत्रुपना प्रगट होता है। स्वजनपना, परजनपना, शत्रुपना और मित्रपना स्वभाव से किसी के साथ नहीं है। उपकार-अनुपकार की अपेक्षा मित्रता-शत्रुता जानना। वस्तुतः कोई किसी का शत्रु-मित्र नहीं है। इसलिए किसी के प्रति राग-द्वेष करना उचित नहीं है।

- भगवती आराधना

नियमसार गाथा-४२

चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोगसोगा य।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति॥४२॥

चतुर्गतिभवसंभ्रमणं जातिजरामरणरोगशोकाश्च।
कुलयोनिजीवमार्गणस्थानानि जीवस्य नो सन्ति॥४२॥

(हरिगीत)

चतु-गति भ्रमण नहिं, जन्म-मृत्यु न, रोग, शोक, जरा नहीं।
कुल योनि नहिं, नहिं जीवस्थान, रु मार्गणा के स्थान नहिं॥४२॥

गाथार्थ :— जीव को चारगति के भवों में परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणस्थान नहीं है।

टीका :— शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव को समस्त संसार विकारों का समुदाय नहीं है — ऐसा यहाँ (इस गाथा में) कहा है।

द्रव्यकर्म तथा भावकर्म का स्वीकार न होने से जीव को नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व और देवत्वस्वरूप चारगतियों का परिभ्रमण नहीं है।

नित्य-शुद्ध चिदानन्दरूप कारणपरमात्मस्वरूप जीव को द्रव्यकर्म तथा भावकर्म के ग्रहण के योग्य विभावपरिणति का अभाव होने से जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक नहीं है।

चतुर्गति (चारगति के) जीवों के कुल योनि के भेद जीव में नहीं हैं — ऐसा (अब) कहा जाता है। वह इसप्रकार —

पृथ्वीकायिक जीवों में बाईस लाख करोड़ कुल हैं; अप्कायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं; तेजकायिक जीवों के तीन लाख करोड़ कुल हैं; वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं; वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं; द्वीन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं; त्रीन्द्रिय जीवों के आठ लाख करोड़ कुल हैं; चतुरिन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं; पंचेन्द्रिय जीवों में जलचर जीवों के साढ़े बारह लाख करोड़ कुल हैं; खेचर जीवों के बारह लाख करोड़ कुल हैं; चार पैर वाले जीवों के दस लाख करोड़ कुल हैं; सर्पादिक पेट से चलनेवाले जीवों के नौ लाख

www.vitragvani.com

करोड़ कुल हैं; नारकों के पच्चीस लाख करोड़ कुल हैं; मनुष्यों के बारह लाख करोड़ कुल हैं और देवों के छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं। कुल मिलाकर एक सौ साढ़े सत्तानवे लाख करोड़ (१९७५०००,०००,०००,००) कुल हैं।

पृथ्वीकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; अप्कायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; तेजकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; वायुकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; नित्य निगोदी जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; चतुर्गति (चारगति में परिभ्रमण करनेवाले अर्थात् इतर) निगोदी जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; वनस्पतिकायिक जीवों के दस लाख योनिमुख हैं; द्वीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं; त्रीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं; चतुरिन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं; देवों के चार लाख योनिमुख हैं; नारकों के चार लाख योनिमुख हैं; तिर्यंच जीवों के चार लाख योनिमुख हैं; मनुष्यों के चौदह लाख योनिमुख हैं। (कुल मिलाकर ८४००००० योनिमुख हैं।)

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, स्थूल एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त — ऐसे भेदोंवाले चौदह जीवस्थान हैं।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार — ऐसे भेदस्वरूप (चौदह) मार्गणस्थान हैं।

यह सब, उन भगवान परमात्मा को शुद्धनिश्चयनय के बल से (शुद्धनिश्चयनय से) नहीं हैं — ऐसा भगवान सूत्रकर्ता का (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव का) अभिप्राय है। इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में ३५-३६ वें श्लोकों द्वारा) कहा है कि —

(मालिनी)

''सकलमपि विहायाह्वाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवग्राह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम्॥''

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

(वीरछन्द)

चित् शक्ति से रहित सकल परभावों का तुम त्याग करो।
चित् शक्तिमय निज आतम में प्रगटरूप अवगाह करो॥
हे आत्मन् ! तुम सकल विश्व के ऊपर तिरते आत्मा को।
एकरूप अविनाशी निज को निज में ही अनुभवन करो॥

श्लोकार्थ :— चित्शक्ति से रहित अन्य सकल भावों को मूल से छोड़कर और चित्शक्तिमात्र ऐसे निज आत्मा का अति स्फुटरूप से अवगाहन करके, आत्मा समस्त विश्व के ऊपर प्रवर्तमान ऐसे इस केवल (एक) अविनाशी आत्मा को आत्मा में साक्षात् अनुभव करो।

(अनुष्टुभ्)

''चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी॥''

(वीरछन्द)

जीवमात्र इतना जिसका सर्वस्व सार चित्शक्ति स्वरूप।
चित्शक्ति से शून्य भाव जो वे सब हैं जड़ पुद्गलरूप॥

श्लोकार्थ :— चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व-सार है — ऐसा यह जीव इतना ही मात्र है; इस चित्शक्ति से शून्य जो यह भाव है, वे सब पौद्गलिक हैं।

और (४२ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं —)

(मालिनी)

अनवरतमखण्डज्ञानसद्भावनात्मा
व्रजति न च विकल्पं संसृतेर्घोररूपम्।
अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः
परपरिणतिदूरं याति चिन्मात्रमेषः॥६०॥

(वीरछन्द)

जिसे निरन्तर ज्ञान अखण्ड भावना की धारा बहती।
उसे न किञ्चित घोर विकल्पों की धारा भी छू पाती॥
अहो ! समाधि निर्विकल्प वह भव्य पुरुष है पा लेता।
पर परिणति से दूर अनघ अनुपम चिन्मात्र प्राप्त करता॥६०॥

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

श्लोकार्थ :— सततरूप से अखण्ड ज्ञान की सद्भावनावाला आत्मा (अर्थात् ''मैं अखण्ड ज्ञान हूँ'' — ऐसी सच्ची भावना जिसे निरन्तर वर्तती है, वह आत्मा) संसार के घोर विकल्प को नहीं पाता, किन्तु निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करता हुआ परपरिणति से दूर, अनुपम, अनघ[१] चिन्मात्र को (चैतन्यमात्र आत्मा को) प्राप्त होता है।।६०॥

(स्रग्धरा)

इत्थं बुद्ध्वोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं।
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्रत्नमालार्चितांघ्रेः।
वीरात्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वांतविध्वंसदक्षं
एते संतो भवाब्धेरपरतटममी यांति सच्छीलपोताः॥६१॥

(वीरछन्द)

भक्त अमर नत मुकुट रत्न से पूज्य चरण वे वीर जिनेश।
जन्म मृत्यु अरु जरा विनाशक देते अघ नाशक उपदेश॥
महावीर तीर्थाधिनाथ वच सन्त जिसे उर में धरते।
सत्यशील नौका द्वारा वे पार भवोदधि को पाते॥६१॥

श्लोकार्थ :— भक्ति से नमित देवेन्द्र मुकुट की सुन्दर रत्नमाला द्वारा जिनके चरणों को प्रगटरूप से पूजते हैं — ऐसे महावीर तीर्थाधिनाथ द्वारा यह सन्त जन्म-जरा-मृत्यु का नाशक तथा दुष्ट पापसमूहरूपी अंधकार का ध्वंस करने में चतुर ऐसा इसप्रकार का (पूर्वोक्त) उपदेश समझकर, सत्शीलरूपी नौका द्वारा भवाब्धि के सामने किनारे पहुँच जाते हैं।।६१॥

गाथा ४२ की टीका पर प्रवचन

'**शुद्ध निश्चयनय से**' स्व के स्वभाव की दृष्टि करनेवाले नय से '**शुद्धजीव को**' शुद्धभावस्वरूप जीव को '**समस्त संसार विकारों का समुदाय नहीं है — ऐसा यहाँ (इस गाथा में) कहा है।**' संसार के जितने भेद, विकार, विशेषभाव हैं, वे सब विशेषरूप हैं और वह समस्त समुदाय जीव के ध्रुवरूप शुद्धभाव में नहीं है — ऐसा शुद्धभाव ही दृष्टि करनेयोग्य है।

प्रश्न — ये समस्त भेद जीव में नहीं हैं तो क्या जड़ में होंगे ?

१. अनघ=दोषरहित; निष्पाप; मलरहित।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

उत्तर — यह शुद्धभाव अधिकार है न; इसलिए कहते हैं कि जो त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव स्वरूप शुद्धभाव है, उसमें ये समस्त भेद नहीं हैं। हाँ, पर्यायनय से वे हैं अवश्य; सत् हैं। कोई वेदान्त की तरह उनको असत् माने तो ऐसा नहीं है। पर्यायनय से ये समस्त भाव हैं; परन्तु वस्तुदृष्टि से, त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से, द्रव्य में नहीं हैं और इसकारण दृष्टि का विषय नहीं है।

(१४) '**द्रव्यकर्म**' जो ज्ञानावरणादि आठ जड़कर्म हैं, वे '**तथा भावकर्म का**' जो पुण्य और पाप के विकल्प होते हैं, उनका '**स्वीकार न होने से**' शुद्धभाव में स्वीकार नहीं है। द्रव्यकर्म और भावकर्म की सामर्थ्य नहीं है कि त्रिकाली ध्रुवस्वभाव में प्रवेश करे; इसलिए शुद्धभाव में उन दोनों का स्वीकार नहीं होने से '**जीव को नारकत्व**' जीव को नारकीपना, '**तिर्यंचत्व**' तिर्यंचपना, '**मनुष्यत्व और देवत्वस्वरूप**' मनुष्यपना और देवपना — ऐसा '**चारगतियों का परिभ्रमण नहीं है।**' अर्थात् त्रिकाली स्वभावरूप जो शुद्धभाव है, उसको इन चार गतियों का परिभ्रमण नहीं है; इसलिए जिसको चारगतियों के परिभ्रमण का अभाव करना हो, उसको शुद्धभाव का आश्रय करना चाहिए — ऐसा यहाँ कहते हैं।

देखो, '**शुद्धभाव को**' इसकारण (द्रव्यकर्म तथा भावकर्म का स्वीकार नहीं होने से यह कारण दिया) चारगतियों का परिभ्रमण नहीं है। अहा! यहाँ तो द्रव्य में मनुष्यपना ही नहीं है — ऐसा कहते हैं; तब फिर मनुष्यपने से जीव को लाभ होता है और केवलज्ञान होता है — ऐसा है ही नहीं। जीव के स्वभाव में तो पूर्ण ज्ञान और आनन्द है; इसलिए उससे जीव को ज्ञान, आनन्द और शान्ति आदि का लाभ होता है; परन्तु इन चारगतियों से जीव को लाभ नहीं होता। जब वे चारगतियाँ जीव में नहीं हैं, तो फिर जो जीव में नहीं हैं, उससे लाभ कैसे हो सकता है ?

तथा '**नित्य-शुद्ध चिदानन्दरूप कारणपरमात्मस्वरूप जीव को.....**' सहजानन्दरूप ऐसा जो पूर्णस्वरूप भगवान आत्मा है उसको अर्थात् जो त्रिकाली द्रव्यस्वभावमय है, पवित्र कारणस्वभावरूप है — ऐसे जीव को अर्थात् शुद्धभावस्वरूप जीव को '**द्रव्य-कर्म**' जड़कर्म '**तथा भावकर्म के ग्रहण को योग्य विभावपरिणति का अभाव होने से...**' भगवान आत्मा में नित्यस्वभाव में विभाव अवस्था का अभाव होने से आत्मा को —

(१५) 'जाति' नहीं है। जाति अर्थात् जन्म। आत्मा को जन्म नहीं है। भगवान आत्मा जन्म नहीं लेता।

(१६) 'जरा' नहीं है। शरीर की जीर्णता-वृद्धावस्था वस्तु में (आत्मद्रव्य में) नहीं है; क्योंकि वह तो शरीर की दशा है।

(१७) 'मरण' नहीं है। देह के छूटने को मरण कहते हैं; परन्तु वस्तु में तो वह कुछ है नहीं; इसलिए आत्मा के स्वभाव का मरण कैसा ? आशय यह है कि आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरण को प्राप्त करता है। अहा! आत्मा में जन्म, जरा और मरण नहीं है और ऐसा जो त्रिकाली नित्य शुद्ध कारणपरमात्मा है, वह आश्रय करनेयोग्य है। आशय यह है कि उसको ध्येय बनाकर ध्यान में उसको पकड़नेयोग्य है।

(१८) 'रोग' नहीं है। आनन्दकन्द और नित्यशुद्ध — ऐसे कारणप्रभु आत्मा में, जिसमें से कार्यपरमात्मदशा व्यक्त-प्रगट होती है — ऐसा जो त्रिकाली कारणस्वरूप है, उसमें रोग नहीं है अर्थात् वह रोगरहित है।

(१९) 'और शोक नहीं है' जीव में शोक नहीं है।

तथा **'चतुर्गति (चारगति के) जीवों के कुल...'** कुल अर्थात् शरीर की उत्पत्ति का भिन्न-भिन्नपना (शरीर की भिन्न-भिन्नपने उत्पत्ति) तथा जीव में उस जाति की योग्यता। **'तथा योनि के भेद...'** योनि अर्थात् शरीर को उत्पन्न करने के स्थानों का भिन्न-भिन्नपना (शरीर को उत्पन्न करने के भिन्न-भिन्न स्थान) तथा जीव में उस जाति की योग्यता, जो कि जीव की पर्याय में है। वह सब **'जीव में नहीं है।'** यद्यपि पर्यायनय से, व्यवहारनय से वे सब भेद जीव में हैं; परन्तु वस्तु की दृष्टि से जीव में नहीं हैं। **'ऐसा (अब) कहा जाता है। वह इसप्रकार —**

(२०) 'पृथ्वीकायिक जीवों के बाईस लाख करोड़ कुल हैं।' कुल अर्थात् शरीर के वर्ण, रस, स्पर्श, और गंध की भिन्न-भिन्नता तथा जीव में उस जाति की योग्यता। भिन्न-भिन्न शरीर उत्पन्न होने को कुल कहा जाता है। जैसे कि गोबर और बिगड़े हुए घी में भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवाणु होते हैं न; तो उनके आकार, लम्बाई, अवगाहना इत्यादि अलग-अलग होते हैं और उसको कुल कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि आत्मा में वे पृथ्वीकायिक जीवों के बाईस लाख करोड़ कुल नहीं हैं।

'अपकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं।' पानी के (एकेन्द्रिय) जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं। अपकायिक पानी के जीवों के कुल अर्थात् उनके शरीर के कुल। वर्ण, रस, गंध और स्पर्श के भेद से शरीर में उस जाति की जो विभिन्नता भासित होती है, भिन्न-भिन्न जाति के शरीर उत्पन्न होते हैं, उनको कुल कहा जाता है।

'तेजकायिक जीवों के तीन लाख करोड़ कुल हैं।'

'वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं।'

'वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं।'

निगोद के (साधारण वनस्पति के) और प्रत्येक वनस्पति के दोनों के मिलाकर अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं।

यहाँ तक एकेन्द्रिय की बात हुई। अब कहते हैं कि —

'द्वीन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं।'

'त्रीन्द्रिय जीवों के आठ लाख करोड़ कुल हैं।'

'चतुरिन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं।'

'पंचेन्द्रिय जीवों में जलचर जीवों के....जो पानी में उत्पन्न होते हैं, उन जीवों के **..साढे बारह लाख करोड़ कुल हैं।'**

'खेचर जीवों के......ऊपर (आकाश में उड़नेवाले) जो पक्षी हैं, उन जीवों के **बारह लाख करोड़ कुल हैं।'**

'चार पैरवाले जीवों के....चार पैरवाले पशुओं के **दस लाख करोड़ कुल हैं।'**

'सर्पादिक पेट से चलनेवाले जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं।'

'नारकों के पच्चीस लाख करोड़ कुल हैं।' नारकों के कुल कहने से नारकी के शरीर के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण की भिन्न-भिन्न जाति लेना तथा जीव की उस जाति की (प्रकार की) योग्यता भी लेना।

'मनुष्यों के बारह लाख करोड़ कुल हैं।'

'और देवों के छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं।'

www.vitragvani.com

'कुल मिलाकर एक सौ साढ़े सत्तानवें लाख करोड़ (१९७५००००००००-०००) कुल हैं।'

देखो, इसप्रकार व्यवहार की अस्ति सिद्ध करते हैं। जितने व्यवहार के प्रकार हैं अर्थात् जितना व्यवहारनय का विषय है, वह समस्त जैनदर्शन में भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित है और फिर उसका निषेध करते हैं कि वे भेद वस्तु में नहीं हैं। जगत में एक आत्मा ही है और अन्य कोई वस्तु अथवा भेद है ही नहीं — ऐसा नहीं है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि तथा उनके कुल आदि सब भ्रम हैं — ऐसा नहीं है; क्योंकि पर्यायनय से, व्यवहारनय से, व्यवहार से व्यवहार सत् है; परन्तु अन्तर्वस्तु की दृष्टि से ये व्यवहारभेद असत् अर्थात् झूठे हैं।

अहा! यह (जीव) इनके प्रत्येक कुल में अनन्तबार जन्मा है। कुल अर्थात् ये बाहर के कुल नहीं; परन्तु शरीर का उस-उसप्रकार का कुल तथा जीव की वैसी योग्यता। जैसे शरीर के ऐसे वर्ण, रस, गंध, स्पर्शरूप एक भाग हैं, वैसे ही अन्य वर्णादिरूप दूसरा भाग, अन्य वर्णादिरूप तीसरा भाग.....इसप्रकार भाग करते-करते एक सौ साढ़े सत्तानवें लाख करोड़ कुल हैं। यह जीव उस एक-एक कुल में अनन्तबार जन्मा है। जो यह बाहर के 'पारेख' आदि कुल कहलाते हैं, वे वास्तविक कुल नहीं हैं; क्योंकि वे तो उपचार से कहे जाते हैं; जबकि यह कुल तो जीव की पर्याय में वास्तविकरूप से है; तथापि जीव की चीज में (त्रिकाली द्रव्य में) नहीं है। वह तो पर्यायदृष्टि से पर्याय में है।

प्रश्न — यह कुल शरीर की पर्याय है या जीव की ?

उत्तर — जीव की; क्योंकि ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर उत्पन्न हों, वैसी योग्यता जीव की है न! तथा कुल जीवों के कहे हैं न! इसलिए कुल जीव की पर्याय है। शरीर के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और आकारादि के भिन्न-भिन्न प्रकार से जीव भी अन्य से भिन्न पड़ता है। (इसलिए कुल की व्याख्या में शरीर से वर्णन किया है।) वरना तो कुल जीव की पर्याय है। आशय यह है कि शरीर के स्पर्शादि के भिन्न-भिन्न प्रकार को तथा उसप्रकार की जीव की योग्यता को कुल कहा जाता है।

(२१) अब जीव के उत्पत्ति स्थान — शरीर की भिन्न-भिन्न जाति उत्पन्न होती है, उससमय जीव की जो योग्यता है, उसको जीव का कुल कहा जाता है और जीव के उत्पन्न होने के भेद (भिन्न-भिन्न स्थान) वे उत्पत्ति स्थान (योनि) हैं।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

'पृथ्वीकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं।' उत्पत्ति स्थान हैं।

'अपकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं।' उपजने के स्थान हैं।

'तेजकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं।'

'वायुकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं।'

'नित्य निगोदी जीवों के सात लाख योनिमुख हैं।'

'चतुर्गति (चारगति में परिभ्रमण करनेवाले अर्थात् इतर) निगोदी जीवों के सात लाख योनिमुख हैं।'

'वनस्पतिकायिक जीवों के दस लाख योनिमुख हैं।'

योनि में निगोद के तो (नित्य और इतर ऐसे) भेद हैं; तदुपरान्त प्रत्येक वनस्पति का अलग भेद भी है अर्थात् (१) नित्य निगोद (२) इतर निगोद और (३) प्रत्येक वनस्पति — ऐसे तीन भेद योनि में हैं, जबकि कुल में एक ही भेद था।

'द्वीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं।'

'त्रीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं।'

'चतुरिन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं।'

'देवों के चार लाख योनिमुख हैं।'

'नारकों के चार लाख योनिमुख हैं।'

'तिर्यंच जीवों के चार लाख योनिमुख हैं।'

'मनुष्यों के चौदह लाख योनिमुख हैं।' (कुल मिलाकर ८४००००० योनिमुख हैं।) लो, सब मिलाकर चौरासी लाख उत्पत्ति स्थान हैं। अहा! जीव हैं अनन्त; परन्तु उनके उत्पत्ति स्थान चौरासी लाख हैं। एक ही माता से उत्पन्न होनेवाले जीवों के उपजने के स्थानों में भी भेद (भिन्नता) होती है। भले ही एक ही माता से उत्पन्न होनेवाले जीव हों, फिर भी पहले जीव का उत्पत्ति स्थान जैसा हो, वैसा दूसरे जीव को नहीं होता और तीसरे जीव को भी नहीं होता; परन्तु भिन्न-भिन्न होता है। ऐसी सूक्ष्म बात है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

अहा! अन्यमती भी चौरासी लाख योनि तो कहते हैं; परन्तु चौरासी लाख योनि क्या वस्तु है और वह कैसे है-यह बात सर्वज्ञ के अलावा अन्य कहीं नहीं हो सकती। क्योंकि यदि चौरासी लाख योनि सिद्ध हो जाए तो भेद-विकार सिद्ध हो जाए, विकार का निमित्त सिद्ध हो जाए, व्यवहार सिद्ध हो जाए और निश्चय उससे अलग रहता है इत्यादि सब बातें भी सिद्ध हो जाती है। इसलिए तो नियमसार में एक-एक (समस्त) शैली से बात की है।

(२२) अब जीव स्थानों का वर्णन करते हैं और यह कहते हैं कि वे जीव के स्थान भी शुद्धभाव में नहीं है। अहा! जीव को जीवस्थान नहीं है; क्योंकि जीव में भेद नहीं है। यद्यपि पर्यायनय से भेद है; परन्तु वस्तु दृष्टि से शुद्धभाव में वे भेद नहीं है।

(१-२) 'सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।'

(३-४) 'स्थूल एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।'

(५-६) 'द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।'

(७-८) 'त्रीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।'

(९-१०) 'चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।'

(११-१२) 'असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।'

(१३-१४) 'संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।'

'ऐसे भेदोंवाले चौदह जीवस्थान हैं।' और वे आत्मा के त्रिकाली शुद्धभाव में नहीं हैं।

(२३) अब मार्गणास्थान की बात करते हैं —

(१) 'गति' मार्गणा का एक भेद गति है और वे गति के भेद आत्मा में नहीं है। मार्गणा अर्थात् शोधना। वह गति द्रव्य में नहीं है; क्योंकि गति तो पर्याय में है।

(२) 'इन्द्रिय' पाँच इन्द्रियाँ हैं वे द्रव्यस्वभाव में-शुद्ध ध्रुवस्वभाव में नहीं हैं। अर्थात् शुद्धभावरूप स्वभाव में वे नहीं हैं, परन्तु पर्याय में हैं।

(३-४) 'काय, योग' योग अर्थात् मन, वचन, काया के निमित्त से होनेवाला

www.vitragvani.com

कंपन। उसमें मन के चार, वचन के चार और काया के सात भेद हैं। इसप्रकार योग के पन्द्रह भेद हैं। वे योग के पन्द्रह भेद भी आत्मा में नहीं हैं। यद्यपि वे पन्द्रह भेद पर्याय में हैं; क्योंकि पर्याय की ऐसे योगरूप होने की योग्यता होने से योग पर्याय में है; परन्तु वस्तु में नहीं है।

(५) 'वेद' भाववेद पर्याय में है; परन्तु वस्तु में नहीं। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद के विकार का जो विकल्प है, वह त्रिकाली द्रव्य में नहीं है; अपितु पर्याय में है; इसलिए वह व्यवहारनय से है और यदि त्रिकाली द्रव्य का आश्रय ले तो उसका अभाव हो सकता है; परन्तु यदि वेद के विकल्प का ही आश्रय ले तो उसका अभाव नहीं होता। अहा! यह नियमसार है, इसलिए यहाँ मोक्षमार्ग की बात है। (नियमसार का अर्थ मोक्षमार्ग है।) इसलिए कहते हैं कि त्रिकाली द्रव्य का आश्रय लेने से मोक्षमार्ग प्रगट होता है और पर्याय का आश्रय ले तो अनादि का जो बंधमार्ग है, वह का वही चालू रहता है। अरे! जिनेन्द्रदेव के वीतरागमार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र व्यवहार की विधि की ऐसी रीत भी कहाँ है ?

अहा! यहाँ व्यवहार का वर्णन करते हैं कि व्यवहार है; परन्तु वह पर्याय में है, त्रिकाली वस्तु में नहीं। वेदान्त कहता है कि 'ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या'; परन्तु ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है; क्योंकि जगत के स्थान में जगत है तथा पर्याय के स्थान में पर्याय भी है। यहाँ तो कहते हैं कि अपने त्रिकाली ध्रुव चैतन्यघन प्रभु आत्मा में नजर करने से अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है और उस अन्तर वस्तु में ये सब भेद नहीं हैं।

(६) 'कषाय' क्रोध, मान, माया और लोभादिक के भेद अन्दर में नहीं हैं, वस्तु में नहीं हैं; अपितु पर्याय में हैं।

(७) 'ज्ञान' आत्मा में ज्ञान के भेद नहीं हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान — ये पाँच ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि — ये तीन अज्ञान — इसप्रकार आठ प्रकार आते हैं न! तो वे पर्याय में हैं; परन्तु द्रव्य में नहीं हैं। अरे! केवलज्ञान भी पर्याय में है; परन्तु द्रव्य में-त्रिकाली शुद्धभाव में नहीं है; क्योंकि द्रव्य तो पारिणामिकभाव से स्थित वस्तु है और यह केवलज्ञान तो क्षायिकभाव से स्थित पर्याय है।

(८) '**संयम**' सामायिकादि (चारित्र के पाँच प्रकार), असंयम और संयमासंयम — ये सब भेद द्रव्य में नहीं हैं; क्योंकि ये सब पर्याय के भेद हैं।

(९) '**दर्शन**' दर्शन के चार भेद हैं — चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन — ये भेद पर्याय में हैं; परन्तु शुद्धभावरूप ध्रुव में नहीं।

(१०) '**लेश्या**' छह लेश्या पर्याय में हैं, परन्तु वस्तु में नहीं।

प्रश्न — भेद पर्याय में है और वस्तु में नहीं ?

उत्तर — हाँ भाई! त्रिकाली ध्रुवतत्त्व का सम्पूर्ण सत्त्व, जो कि एकरूप चैतन्यरूप विराजमान है, उसमें ये सब भेद नहीं हैं; परन्तु पर्याय में हैं।

(११) '**भव्यत्व**' भव्यत्व और अभव्यत्व द्रव्य में नहीं हैं। आशय यह है कि द्रव्य-गुण में भव्यत्व-अभव्यत्व नहीं है; क्योंकि भव्यपना, अभव्यपना आदि समस्त भेद पर्याय के हैं।

प्रश्न — यह (भव्य-अभव्यपना) पर्याय किस गुण की है ?

उत्तर — भव्यपना और अभव्यपना पर्याय है अर्थात् पर्याय की उसप्रकार की योग्यता है। कितने ही पर्याय अन्दर गुण न होने पर भी होती हैं — यह सुना है ? यह बात 'चिद्विलास' में आती है। पण्डित दीपचन्दजी कृत चिद्विलास (निश्चय अधिकार) में आता है कि कर्मरूप पर्याय है तो उसका कौन-सा गुण है ? परमाणु में कर्मरूप विकार पर्याय होती है, उसका कौन-सा गुण है ? तथा शब्दरूप पर्याय लो तो उसमें कौन-सा गुण है ? बस, वह पर्याय की स्थिति-योग्यता ही है।

यहाँ कहते हैं कि मैं भव्य होऊँगा या अभव्य होऊँगा (ऐसी शंका करना) सो तो पर्यायबुद्धि है; इसीलिए अब भव्यत्व या अभव्यत्व शोधना छोड़कर, जो स्वयं है — ऐसे आत्मा को शोध। यहाँ कहा है कि त्रिकाली सच्चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा में ये दोनों अर्थात् भव्यपना और अभव्यपना, मोक्ष की योग्यता और मोक्ष की अयोग्यता नहीं है; क्योंकि वह तो पर्याय की बात है; इसलिए वस्तु में नहीं है।

(१२) '**सम्यक्त्व**' औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकसम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र — ये सब सम्यक्त्व (मार्गणा) के प्रकार हैं न! यह सब पर्याय में हैं; परन्तु वस्तु में नहीं। लो, क्षायिक समकित द्रव्य में नहीं है — ऐसा कहते हैं।

www.vitragvani.com

(१३) **'संज्ञित्व'** संज्ञी-असंज्ञीपना वस्तु में नहीं हैं।

(१४) **'आहार'** आहारपना और अनाहारपना दोनों आत्मा में नहीं हैं।

'ऐसे भेदस्वरूप (चौदह) मार्गणास्थान हैं।'

'यह सब उन भगवान परमात्मा को..........'

प्रश्न — 'परमात्मा को' अर्थात् कौन-सा परमात्मा ?

उत्तर — परमात्मा अर्थात् यह आत्मा। उसको-भगवान परमात्मा को — ये सब भेद **'शुद्धनिश्चयनय के बल से (शुद्ध निश्चयनय से) नहीं है।'** यथार्थ दृष्टि के विषय में ये भेद नहीं हैं।

'ऐसे भगवान सूत्रकर्त्ता का (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव का) अभिप्राय है।' देखो, श्री पद्मप्रभमलधारिदेव भी यह कहते हैं कि ऐसा भगवान सूत्रकर्त्ता का अभिप्राय है। श्री पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं मुनि हैं। उनको व्यवहार से विकल्परूप पंचममहाव्रत हैं और निश्चय में स्वरूप के आश्रय से छठवाँ तथा सातवाँ गुणस्थान भी है। वे भी ऐसा कहते हैं और ऐसा कहकर श्री कुन्दाकुन्दाचार्य की महिमा करते हैं। देखो, संस्कृत टीका में भी है कि **'भगवंत सूत्रकृतामभिप्रायः।'** स्वयं श्री पद्मप्रभमलधारि-देव मुनि कहते हैं कि अहो! भगवन्त कुन्दकुन्दाचार्य का यह अभिप्राय है कि त्रिकाली परमात्मस्वरूप शुद्धभाव जो कि आश्रय करनेयोग्य है, अवलम्बन लेनेयोग्य है और जो ध्यान करनेयोग्य है; उसमें ये भेद नहीं हैं।

अहा! 'ऐसा भगवान सूत्रकर्त्ता का अभिप्राय है' — ऐसा कहा है न! अर्थात् श्री पद्मप्रभमलधारिदेव भी 'भगवान सूत्रकर्त्ता' (भगवान कुन्दकुन्दाचार्य) ऐसा कहते हैं। अब अभी कितने ही (पण्डित) ऐसा कहते हैं कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य का कथन नहीं, दूसरों का लाओ। उनकी तुलना में अन्य आचार्य ठीक हैं। भाई! अहो! **'हुए, न हैं, न होयेंगे मुनिन्द कुन्दकुन्द से'** (ऐसा कविवर वृन्दावनदासजी ने कहा है।) ऐसी चीज है। ऐसी कोई अलौकिक रीति से चार शास्त्र तथा अष्टपाहुड़ आदि अन्य शास्त्रों की रचना की है अर्थात् उनमें ऐसी बात की है कि भरतक्षेत्र में केवलज्ञान का विरह भुला दे।

श्रोता — आपने भी भरतक्षेत्र में केवलज्ञान का विरह भुला दिया है!

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

पूज्य गुरुदेवश्री — स्वयं आत्मा स्वयं की समझ में आवे, तब वह समझे — ऐसी बात है। अब समयसार कलश ३५ का आधार देते हैं।

अहो! '**चित्शक्ति से रहित........**' जिसमें ज्ञानसत्त्व भरा है — ऐसा जो भगवान आत्मा है, उससे रहित....यद्यपि यहाँ 'चित्शक्ति' शब्द का प्रयोग किया है; तथापि उसका अर्थ आत्मा भी होता है। वह (चित्शक्ति) शक्तिरूप है, गुणरूप है, भावरूप है, सत् के सत्त्वरूप है अर्थात् सत् ऐसे भगवान आत्मा का सत्त्व चित्शक्ति है। उस 'चित्शक्ति से रहित' इस ज्ञानस्वभावमय भाव से रहित '**अन्य समस्त भावों को मूल से छोड़कर**' चित्शक्ति से रहित समस्त भावों को, पर्यायों को मूल से छोड़कर.....देखो, यहाँ ऐसा कहते हैं कि आत्मा की पर्याय में ये सब (गाथा में कथित) भाव हों-हैं; परन्तु वे सब भाव चित्शक्ति से रहित हैं और चित्शक्ति उनसे रहित है।

अहा! चित्शक्ति अर्थात् ज्ञानशक्ति; जिसमें से केवलज्ञानादि पर्यायें व्यक्त होती हैं। कारणपरमात्मस्वरूप आत्मा की ऐसी जो निज चित्शक्ति है, उससे रहित...तात्पर्य यह है कि जितने भेद हैं, वे सब चित्शक्ति से रहित हैं। यद्यपि कहना यह है कि चित्शक्ति में वे समस्त भेद नहीं हैं; परन्तु ऐसा नहीं कहकर यहाँ तो यह कहा है कि वे समस्त भाव चित्शक्ति से रहित हैं। लो, यह तो अभी आत्मा कैसा और कितना है — यह बात चलती है। अहा! चित् अर्थात् अकेला ज्ञान जिसका (आत्मा का) स्वभाव है। उसको विशाल क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है तथा उसको विशेष काल की भी आवश्यकता नहीं है कि वह तीनोंकाल रहे तब ही बड़ा हो; क्योंकि वह तो एकसमय में ही इतना बड़ा-पूर्ण है और उसका सम्पूर्णरूप चित्शक्तिमय है — ऐसा ज्ञान शक्तिस्वरूप जो भगवान आत्मा है, उससे ये सब भाव रहित हैं। तात्पर्य यह है कि ये सब भेद — कुल, योनि और मार्गणास्थान आदि के भेद अखण्ड ज्ञानस्वभाव से रहित हैं। गाथा में मार्गणास्थान आदि भेद कहे गये हैं न! अर्थात् ज्ञान के पाँच भेद, अज्ञान के तीन भेद और गति, वेद इत्यादि समस्त भेद हैं न ? वे समस्त भेद चित्शक्ति से रहित हैं। देखो, गाथा ४२ में कहा कि शुद्ध निश्चयनय के कारण (बल से) आत्मा में ये भेद नहीं हैं और यहाँ समयसार कलश में कहते हैं कि इन भेदों में चित्शक्ति नहीं है। (दोनों बात एक ही है।)

यहाँ कहते हैं कि '**चित्शक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को मूल से छोड़कर**

www.vitragvani.com

और चित्शक्तिमात्र ऐसे निज आत्मा का....' यहाँ दो भाव कहे गये हैं —

(१) पर्याय का भाव (पर्याय के भेद) चित्शक्ति से रहित हैं और

(२) आत्मा का भाव त्रिकाली चित्शक्ति से सहित है।

अहा! चित्शक्ति को ज्ञानस्वभाव कहो, ज्ञानशक्ति कहो अथवा ज्ञानगुण कहो एक ही है और ऐसे अकेले ज्ञानस्वभावमय '**निज आत्मा का अति स्फुटरूप से अवगाहन करके....**' (मार्गणास्थान आदि) समस्त भाव चित्शक्ति से रहित हैं; इसलिए उनका लक्ष्य छोड़कर, चित्शक्ति से सहित ऐसे आत्मा को प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा पकड़कर-मति, श्रुतज्ञान द्वारा अंदर प्रत्यक्ष अवगाहन करके.....अहा! स्फुटरूप से अर्थात् प्रत्यक्षरूप से और प्रत्यक्षरूप से अर्थात् जिसको निमित्त या विकल्प का आश्रय नहीं है। प्रत्यक्ष ऐसे मति और श्रुतज्ञान द्वारा अवगाहन करके................।

प्रश्न — ऊपर ऐसा कहा था कि मति और श्रुतज्ञान चित्शक्ति से रहित है तथा चित्शक्ति में मति और श्रुतज्ञान नहीं है। अब फिर कहा कि 'मति और श्रुतज्ञान द्वारा अवगाहन करके.......... ?'

उत्तर — भाई! अनेकान्त मार्ग ऐसा है। अहा! सम्यक् मति और सम्यक् श्रुतज्ञान भी त्रिकाली चित्शक्ति से रहित है और त्रिकाली चित्शक्ति भी इस मति-श्रुतज्ञान से रहित है; तथापि उस चित्शक्ति का वर्तमान प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा अवगाहन करके अर्थात् त्रिकाली चित्शक्ति में प्रवेश करके....ऐसा कहते हैं। अहा! यह मूलस्वभाव ऐसा है कि पहले तो लोगों को समझना ही कठिन पड़ता है। जिसमें ज्ञान की मति-श्रुत-केवलज्ञान आदि पाँच पर्यायें भी नहीं हैं, केवलदर्शन भी नहीं है, क्षायिक समकित भी नहीं है तथा जिसमें गति आदि कुछ भी नहीं है, जो ऐसा इतना महान तत्त्व है, वह है कहाँ ? ऐसा इसको लगता है।

यहाँ कहते हैं कि संयम के भेद-छठवें-सातवें गुणस्थान के जो चारित्र के भेद हैं, वे अथवा सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात — ऐसे जो चारित्र के पाँच भेद हैं, वे तथा असंयम और संयमासंयम — ये समस्त भेद चित्शक्ति से रहित हैं तथा चित्शक्ति में भी ये भेद नहीं हैं। इसीप्रकार भव्यत्व के भेद — भव्य और अभव्य की पर्याय चित्शक्ति से रहित है अर्थात् भव्य-अभव्य की पर्याय में चित्शक्ति नहीं है और चित्शक्ति में भव्य-अभव्य की पर्याय नहीं है। अहा! मुनिराज

www.vitragvani.com

ने अकेला भण्डार खोला है। वे कहते हैं कि तूने पर्याय में एकताबुद्धि से जो द्रव्य को ताला लगा दिया है, सो अब पर्याय में एकताबुद्धि छोड़कर (ताला खोलकर) अन्दर अवगाहन कर।

अब कहते हैं कि '**आत्मा समस्त विश्व के ऊपर प्रवर्तमान ऐसे इस केवल (एक) अविनाशी आत्मा को आत्मा में साक्षात् अनुभव करो।**' अर्थात् आत्मा समस्त विश्व के ऊपर तैरता दिखता है — ऐसा कहते हैं। यद्यपि वह दिखता तो पर्याय में है; तथापि इन भेदों से अत्यन्त पृथक् है-अत्यन्त भिन्न है — ऐसा दिखता है। देखो, 'समस्त विश्व के ऊपर' ऐसा कहने से समस्त विश्व है अर्थात् जो यह अनेकप्रकार के भेद हैं, उन्हें भी विश्व कहा जाता है। चौदह मार्गणास्थान, चौदह जीवस्थान, योनि, कुल, जाति, शोक, रोग आदि समस्त भेद कहे हैं न! तो वह सब विश्व है और वह अनेकरूप है। उस अनेकरूप विश्व के ऊपर प्रवर्तमान अर्थात् उससे भिन्न प्रवर्तमान — ऐसे इस केवल (एक) अविनाशी आत्मा को आत्मा में-निर्मल पर्याय में साक्षात् अनुभव करो, प्रत्यक्ष करो — ऐसा कहते हैं। आशय यह है कि ज्ञान में त्रिकाली स्वभाव को ध्येय बनाकर, उसको प्रत्यक्ष करो। भाई! अद्भुत बात है।

प्रश्न — विश्व के ऊपर प्रवर्तमान अर्थात् ?

उत्तर — आत्मा भेद से पृथक् रहता है। वह विश्व में अर्थात् पर्याय के भेदों में नहीं आता — ऐसा कहते हैं।

प्रश्न — जैनधर्म ऐसा है ?

उत्तर — हाँ, भगवान! सुन तो बापू! यहाँ तो कहते हैं कि तू कहाँ व्यवहार के झगड़े में पड़ा है ? क्योंकि भगवान आत्मा जो कि पूर्ण ब्रह्मस्वरूप है, वह तो इन भेदों में आता नहीं; इसलिए ये भेद चित्शक्ति से रहित हैं और इसीलिए तो यहाँ 'केवल' शब्द का प्रयोग किया है कि '**इस केवल (एक) अविनाशी आत्मा को आत्मा में**' निर्मल पर्याय द्वारा '**साक्षात् अनुभव करो**' आशय यह है कि आत्मा के आनन्द का वेदन करो, तभी पता चलेगा कि यह आत्मा पूर्ण शुद्धरूप ध्रुव है। अहा! इस तत्त्व तक नहीं पहुँचने के कारण ही अज्ञानी इसे बहुत कठिन कहता है तथा कोई तो यह भी कहता है कि आप कहते तो अवश्य हो; परन्तु वह प्राप्त कैसे हो ? उसका साधन क्या है ? आप तो सब निश्चय की ही बात करते हो; परन्तु उसका साधन क्या है ? भाई!

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

स्वभाव की दृष्टि करना ही इसका साधन है और वह साधन भी अन्दर में ही पड़ा है। जो बाहर का (शुभभाव) साधन है, उसमें तो चित्शक्ति नहीं है और बाहर के साधन के भाव चित्शक्ति में नहीं हैं तो अब तुझे कौन-सा दूसरा साधन करना है ?

अहा! यहाँ तो द्रव्य में साधन है — ऐसा कहते हैं, जबकि समयसार की १६वीं गाथा में साधक पर्याय को साधन कहा है अर्थात् अनुभव करना (आत्मानुभूति) वह मोक्ष का मार्ग है। वह मोक्ष का मार्ग किसका साधन है ? मोक्ष का। श्री समयसारजी की १६वीं गाथा में ऐसा आया है या नहीं ? मोक्ष का साधन इसकी निर्मल पर्याय है और वहाँ (गाथा १६ में) ऐसा साध्य-साधन कहा गया है। वहाँ तो दूसरी बात भी नहीं की है कि व्यवहार साधन अथवा हेतु है।

प्रश्न — व्यवहार निश्चय का हेतु है न ?

उत्तर — भाई! सत्, सत् की पर्याय का हेतु होता है अर्थात् सत् का कारण सत् ही होता है। यह राग तो असत् है; इसलिए वह सत् का कारण कैसे हो सकता है ? इसीलिए तो यहाँ कहते हैं कि अविनाशी भगवान आत्मा को आत्मा में साक्षात् अनुभव करो। समयसार में भी आता है न कि आत्मा का सेवन करना। उसका अर्थ यह हुआ कि मेचकपना-अमेचकपना — ये दोनों पर्याय के भेद हैं, उनको लक्ष्य में से छोड़ना चाहिए। पर्याय में दर्शन-ज्ञान-चारित्र — ऐसे तीन भेद पाड़ना मेचकपना है और पर्याय एकरूप को देखना अमेचकपना है। पर्याय को एकरूप देखना, पर्याय के तीनपने को नहीं; परन्तु पर्याय की एकता को-पर्यायपने को। वहाँ (पर्याय की) एकरूपता को शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का शुद्धद्रव्य कहा है और पर्याय के तीनपने को व्यवहार कहा है। इसप्रकार एक पर्याय के दो भाव — (१) शुद्ध परिणमन का एकरूप वह निश्चय और (२) उसके तीनरूप (तीन भेद) वह व्यवहार। भाई! तत्पश्चात् १९वाँ कलश आया है, मेचक-अमेचक से 'अलम्' इसका अर्थ यह है कि एकरूप आत्मा का सेवन करो, आत्मा को सेवो। यह भगवान आत्मा पूर्ण आत्मा है। बस, उस पर दृष्टि करके उसका अनुभव करो। इसीतरह यहाँ नियमसार में एकरूप आत्मा की बात है। भाई! अर्थ बहुत गम्भीर है।

(अब समयसार कलश ३६ का आधार देते हैं।)

अहो! पुद्गल के भेद अनुभूति से भिन्न हैं — ऐसा वहाँ (समयसार में) लिया है

www.vitragvani.com

न! अर्थात् आत्मा की अनुभूति हुई तो ज्ञानी अनुभूति से सहित है और इन भेदों से भिन्न है। तो कहते हैं कि **'चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व-सार है — ऐसा यह जीव इतना ही मात्र है।'** जीव अकेला चैतन्यशक्तिमात्र है। देखो, वस्तु का एकपना कहकर पर्यायमात्र को, व्यवहार जीव को निकाल दिया है। जो अकेले ज्ञायकभाव से, चैतन्यभाव से, ध्रुवभाव से, शुद्धभाव से व्याप्त है अर्थात् उससे पसरा और रहा है, वह अपना सार है, अपना सर्वस्व है।

चैतन्यशक्ति से व्याप्त=एकसमय की पर्याय रहित चैतन्यशक्तिमय ध्रुव ज्ञायकभाव। सर्वस्वसार=सर्व+स्व+सार=समस्त अपना सार अर्थात् चैतन्यशक्ति ही समस्त अपना (सर्वस्व) है, अपना सार है। तो **'चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्वसार है'** अपना सार यह चैतन्यशक्तिमात्र है और **'ऐसा यह जीव'** अर्थात् पर्याय के भेदभावरूप जीव है, वह नहीं; परन्तु चैतन्यभाव के स्वभावरूप यह जीव **'इतना ही मात्र है।'** भाषा देखो! 'इतना ही' ऐसा कहा है। 'इयान'=इतना और 'ही' तो ऊपर से लिखा है, परन्तु इसका अर्थ तो यही हुआ न! यहाँ अकेले (त्रिकाली) वस्तु की ही सिद्धि करना है न, इसलिए 'ही' शब्द सही है और यह तो 'जिसका सर्वस्वसार है — ऐसा यह जीव' — ऐसा कहने में यह बात आ गई कि वह स्वयं इतना ही है।

अहा! चित्शक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व है — ऐसा यह जीव अर्थात् चैतन्यशक्ति ही जीव है। अपना सर्वस्व चैतन्यशक्ति ही है और वह 'इतना ही मात्र है।' जीव इतना ही है, उसे ही जीव कहते हैं। गाथा ३८ में 'वास्तव में आत्मा' कहा है न! वास्तव में आत्मा तो वही है कि जो पारिणामिकभाव के स्वभावरूप है, चित्शक्तिरूप है, ध्रुवस्वरूप है और कारणपरमात्मस्वरूप है। वही वास्तव में जीव अर्थात् वास्तव में (वास्तविक) आत्मा है।

प्रश्न — आत्मा के भी फिर दो भेद ?

उत्तर — हाँ, एक वास्तविक आत्मा और दूसरा व्यवहार आत्मा।

प्रश्न — व्यवहार आत्मा अर्थात् ?

उत्तर — पर्याय। त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय अभूतार्थ है, तथापि उसकी (पर्याय की) अपेक्षा से पर्याय सत् है। यह बात तो यहाँ चलती है कि व्यवहार, व्यवहार

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

की अपेक्षा से सत् है। व्यवहार, व्यवहार की अपेक्षा से कोई वस्तु ही नहीं है — ऐसा नहीं है। अहा! जैनदर्शन का नयविचार (नयज्ञान) अत्यन्त गम्भीर है। एक जगह तो उसे इन्द्रजालवत् कहा है न कि हे भगवान! तुम्हारे नय तो इन्द्रजाल जैसे हैं। (नियमसार श्लोक ११९)

यहाँ कहते हैं कि **'इस चित्शक्ति से शून्य जो यह भाव हैं, वे सब पौद्गलिक हैं।'** दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा के जो विकल्प हैं, वे सब चैतन्यशक्ति से शून्य/ खाली हैं। बापू! सर्वज्ञ तीर्थंकर का जो वीतरागमार्ग है, उसे समझना बहुत ही दुर्लभ है। वह बहुत दुर्लभ होने पर भी अलभ्य नहीं है, अशक्य नहीं है। यहाँ कहते हैं कि यह जो व्रत और उपवासादि का विकल्प है, वह चैतन्यशक्ति से खाली है और ऐसे ये भाव हैं, वे सब पौद्गलिक हैं। जिनमें चैतन्य की ज्ञानशक्ति का सत्त्व नहीं है — ऐसे समस्त रागादि — दया, दान, व्रतादि के समस्त परिणाम-पौद्गलिक हैं।

प्रश्न — किसी ने दस लाख रुपये का मन्दिर बनाया हो और उसको अब ऐसा कहें कि यह कार्य तूने नहीं किया है तथा तेरा जो भाव था वह भी पुद्गल का है, तो जिस बिचारे ने पैसा खर्च किया हो उसका तो पानी उतर जाता है ?

उत्तर — बापा! मार्ग तो ऐसा ही है। अपने स्थान पर ये मन्दिरादि हों तथा मन्दिरादि के विकल्प का काल हो तो वह भी उसके स्थान में हो; तथापि वह विकल्प चैतन्यशक्ति से शून्य है।

प्रश्न — तो फिर किसलिए बनाना ?

उत्तर — मन्दिर बनाता कौन है ? वह तो ऐसा विकल्प आता है; तथापि यहाँ तो उस व्यवहारभाव को अचेतन कह दिया है। तो अब क्या उस अचेतन से चेतन को लाभ होगा ? नहीं और तब भगवान की मूर्ति से लाभ होगा ही कैसे ? क्योंकि जहाँ राग को भी अचेतन कहा है, वहाँ मूर्ति तो बाह्य अचेतन है ही।

प्रश्न — यदि मूर्ति से लाभ नहीं होता तो इन सब प्रतिमाओं की स्थापना क्यों की है?

उत्तर — भाई! कोई भी जीव प्रतिमा को स्थापित नहीं कर सकता। वह तो परमाणुओं का ऐसा होने का काल हो, तब परमाणु उसरूप होते हैं और तब जीव का भाव शुभ होता है। बस, इतनी-सी बात है; तथापि वह कोई धर्मरूप नहीं है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

प्रश्न — धर्म का साधन तो है न ?

उत्तर — धर्म का साधन भी नहीं है।

प्रश्न — उससे धर्म की प्रभावना तो होती है न ?

उत्तर — धर्म की प्रभावना आत्मा में होती है या बाहर होती है ?

प्रश्न — आत्मा में धर्म की प्रभावना होती है, यह तो निश्चय की बात की; परन्तु व्यवहार से तो बाहर में धर्म की प्रभावना होती है न ?

उत्तर — व्यवहार से प्रभावना कहलाती है; परन्तु वह कौन-सा व्यवहार ? (कौन-सी व्यवहार प्रभावना ?) अन्दर शुभ विकल्प आता है, वह व्यवहार प्रभावना है। बाकी बाहर में परद्रव्य में कुछ हो, उसमें जीव को क्या है ? (कुछ नहीं।) अहा! जो शुभ-विकल्प आता है, वह भी अचेतन है; क्योंकि वह चैतन्यशक्ति से शून्य है। उसे तुमको व्यवहार प्रभावना-धर्म का वैभव कहना हो तो कहो। बस, इतनी मर्यादा है। भाई! (वीतराग) मार्ग कड़क है।

प्रश्न — ऐसी पुस्तकें बनाना, ऐसा वाँचन करना इत्यादि जो यह सब भाव हैं, वे कैसे हैं ?

उत्तर — अरे प्रभु! ये सब भाव स्व-स्थान में हों; परन्तु ये सब भाव चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा से तो खाली हैं तथा भाई! ये सब भाव चैतन्यस्वभाव की शुद्धपर्याय प्रगट करने में सहायता करते हैं अर्थात् ये अचेतनभाव धर्मपर्याय प्रगट करने में सहायक हैं — ऐसा नहीं है।

प्रश्न — परन्तु बहुत जगह तो कहा है न कि शुभभाव व्यवहार है, निमित्त है, हेतु है और कारण है, क्या ऐसा नहीं कहा ? पंचास्तिकाय गाथा १७२ में भी (व्यवहार से) **शनैः-शनैः** धीरे-धीरे लाभ होता है, क्या ऐसा नहीं लिखा है ?

उत्तर — भाई! (ये तो उपचार के कथन हैं।) और कौन लिखे ? यह तो उससमय ऐसा विकल्प होता है और उसप्रकार का लिखना हो जाता है। अहा! गजब बात है! जैनदर्शन अर्थात् महापरमात्मस्वरूप (वस्तुस्वरूप! इसलिए उसको पहिचानना अर्थात् जैनदर्शन को समझना मुश्किल है।

www.vitragvani.com

यहाँ कहते हैं कि '**चित्शक्ति से शून्य जो ये भाव हैं......**' ये भाव अर्थात् समयसार की गाथा ५० से ५५ में कथित २९ बोल और उनके प्रभेद तो बहुत हैं। इसीप्रकार यहाँ नियमसार (गाथा ३९ से ४५ तक) में भी उनपचास बोल कहे गये हैं, इनमें गाथा ४६ में कथित अरस, अरूप, अगंध आदि भेदों को नहीं गिना है। (क्योंकि गाथा ४५ में वर्ण, रस, गंध आदि भेद आ गये हैं न!)

गाथा ३९ में ४ भेद — स्वभावस्थान, मानापमानभाव के स्थान, हर्षभाव के स्थान और अहर्ष के स्थान।

गाथा ४० में ५ भेद — स्थितिबंधस्थान, प्रकृतिस्थान, प्रदेशस्थान, अनुभागस्थान और उदयस्थान।

गाथा ४१ में ४ भेद — क्षायिकभाव के स्थान, क्षयोपशमस्वभाव के स्थान, औदायिकभाव के स्थान और उपशमस्वभाव के स्थान।

गाथा ४२ में १० भेद — चारगति के भवों में परिभ्रमण, जाति, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान।

गाथा ४३ में ९ भेद — निर्दण्ड, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निःशरीर, निरालम्ब, निराग, निर्दोष, निर्मूढ़ और निर्भय।

गाथा ४४ में ८ भेद — निर्ग्रन्थ, निराग, निःशल्य, सर्वदोषविमुक्त, निष्काम, निःक्रोध, निर्मान और निर्मद।

गाथा ४५ में ९ भेद — वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, स्त्रीपर्याय, पुरुषपर्याय, नपुंसकपर्याय, संस्थान और संहनन।

कहते हैं कि जो चैतन्यशक्ति से भरा हुआ प्रभु भगवान आत्मा है, जो चैतन्य के स्वभाव से छलाछल भरा पूर्णतत्त्व है, वह वास्तविक आत्मा है और उसका आश्रय करने से धर्म होता है। रागरूप-भेदरूप जो ऐसे समस्त भेद हैं, वे पौद्गलिक हैं और उनका आश्रय करने से तो राग और विकल्प उत्पन्न होता है। आशय यह है कि रागादि भेद स्वयं भी पुद्गल हैं और उनके आश्रय से भी पुद्गल ही उत्पन्न होता है — ऐसा कहते हैं। अहा! शुभादि भाव से तो-उसके फलरूप तो-परमाणु ही बँधते हैं और परमाणु

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

बँधना वह पुद्गल ही बँधना है। यद्यपि वह पुद्गल स्वयं से कारण ही बँधता है; तथापि उसमें राग निमित्त है। अब पुद्गल कर्म के बंध के कारण जो पुद्गलरूप धूलादि का संयोग प्राप्त होता है, वह सब भी पुद्गल है। इसप्रकार वह सब पुद्गल का बड़ा हार है। (राग, कर्मबंध और संयोग सब पुद्गल हैं।)

प्रश्न — दान नहीं करें तो भी और दान करें तब भी ?

उत्तर — दान कौन करता है ? (कर सकता है ?) यह तो उसको जो भाव होता है, उसके स्वरूप की बात चलती है; इसलिए कहते हैं कि पैसा आदि रखने का भाव पापरूप अचेतन-जड़ है और धर्म में पैसा खर्च करने के भाव में राग की मन्दता है, वह पुण्यरूप अचेतन-जड़ है; क्योंकि यहाँ उनको पौद्गलिक कहा है न!

देखो, समयसार के ये दो कलश तो आधाररूप आये हैं। अब टीकाकार मुनिराज स्वयं दो श्लोक कहते हैं।

कलश ६० पर प्रवचन

'सततरूप से अखण्डज्ञान की सद्भावनावाला आत्मा......' जिसको निरन्तर शुद्ध अखण्ड ध्रुव ज्ञानस्वभाव की सच्ची भावना वर्तती है...।

भावना से क्या आशय है ?

एकाग्रता।

वह द्रव्य है या गुण ?

वह पर्याय है और अखण्डज्ञान, वह त्रिकाली द्रव्य/वस्तु है तथा कहते हैं कि 'सततरूप से' जिसकी दृष्टि में निरन्तर अखण्डज्ञान वर्तता है, वह 'सद्भावनावाला'- सच्ची भावनावाला अर्थात् स्वरूप में एकाग्र होनेवाला 'आत्मा...' लो, भावना का अर्थ क्या हुआ ? पर्याय या द्रव्य ? पर्याय। अहा! कार्य तो पर्याय में होता है न! द्रव्य में कोई कार्य/पर्याय नहीं है; क्योंकि द्रव्य तो है वह है। यद्यपि दृष्टि तो द्रव्य की होती है; परन्तु कार्य किसमें होता है ? पर्याय में। द्रव्य का आश्रय लेकर पर्याय कार्य करती है। अखण्डज्ञान एकरूप है — ऐसी जो भावना अर्थात् एकाग्रता है, उसमें 'यह अखण्डज्ञान एकरूप है' — ऐसा भान होता है; परन्तु क्या अखण्डज्ञान में अखण्डज्ञान का भान या ज्ञान होता है ? (नहीं होता।)

www.vitragvani.com

यहाँ कहते हैं कि अखण्डज्ञान=खण्डरहित/भेदरहित/पर्यायरहित — ऐसा त्रिकाल एकरूप ज्ञान=त्रिकाली ज्ञानस्वभाव और उसकी सद्भावनावाला आत्मा=सच्ची भावनावाला आत्मा=ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होनेवाला आत्मा। तात्पर्य यह है कि 'मैं अखण्डज्ञान हूँ' — ऐसी सच्ची भावना.........' अहो! यह वस्तु है अर्थात् जीव को करनेयोग्य हो तो यह है। **'मैं अखण्डज्ञान हूँ' — ऐसी सच्ची भावना जिसको निरन्तर वर्तती है, वह आत्मा...'** वस्तु का जो त्रिकाली स्वभाव है, जो ध्रुवस्वभाव है, जो अखण्ड-अभेद-एकरूप स्वभाव है, उसकी निरन्तर भावनावाला आत्मा अर्थात् ध्रुव की निरन्तर एकाग्रतावाला आत्मा........देखो! यह भावना निरन्तर वर्तती है — ऐसा कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि द्रव्यस्वभाव/ज्ञायकभाव निरन्तर दृष्टि में वर्तता है।

अहा! वह आत्मा **संसार के घोर विकल्प को नहीं पाता।** शुभ-अशुभभाव का विकल्प है, वह घोर संसार का मूल है और जो ऐसे विकल्प में एकपने को (घोर संसार का मूल — ऐसा जो शुभ-अशुभभाव का विकल्प है, उसमें एकपने को/एकत्वपने को) आत्मा के त्रिकाली अखण्डभाव की भावनावाला नहीं पाता।

प्रश्न — इस कलश में 'विकल्प में एकपने को नहीं पाता — यह नहीं कहा है; परन्तु विकल्प को नहीं पाता' — यह कहा है ?

उत्तर — 'विकल्प को नहीं पाता' — इसका अर्थ ही यह है कि 'विकल्प में एकपने को नहीं पाता।' क्योंकि सम्पूर्णरूप से विकल्प को नहीं पाता — ऐसी दशा तो पूर्ण वीतराग होने पर ही होती है; जबकि यहाँ तो सच्ची भावनावाला विकल्प होने पर भी उसमें एकत्व को नहीं पाता — यह कहना है। आशय यह है कि जिस जीव का एकत्व अखण्ड ज्ञान में है तो वह जीव विकल्प में एकत्व को नहीं पाता। कारण कि यहाँ तो चौथे गुणस्थानवाले की बात है। अहा! सर्वथा विकल्प न हो ऐसी दशा तो आगे (११-१२वें गुणस्थान में जाने पर) होती है; परन्तु यहाँ तो निचलीदशा में (चतुर्थादि गुणस्थानों में) भी निरन्तर द्रव्यस्वभाव की एकाग्रता वर्तती है — ऐसा कहते हैं। ऐसी अन्तर की एकाग्रता वर्तती है — ऐसा कहते हैं। ऐसी अन्तर की एकाग्रतावाले/भावनावाले आत्मा को अर्थात् त्रिकालीभाव की एकाग्रतावाले आत्मा को विकल्प की एकाग्रता नहीं होती; क्योंकि यह राग (विकल्प) घोर संसार का मूल है।

यहाँ कहते हैं कि सच्ची भावनावाला 'संसार के घोर विकल्प को नहीं पाता।' घोर

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

विकल्प अर्थात् महामिथ्यात्वभाव अथवा राग की एकता की सच्ची भावनावाला नहीं पाता। अहा! अज्ञानी शोर मचाता है कि यह विकल्प है, यह पुण्य का परिणाम है, वह भी घोर संसार का मूल ? भाई! सुकृत अथवा दुष्कृत — दोनों दृष्कृत हैं, यह बात तो पूर्व में आ गई है न! (कि 'समस्त दुष्कृत भोगियों को भोग का मूल है-कलश ५९') अहा! प्रत्येक गाथा की शैली तो देखो! अहा! शुभ और अशुभ — दोनों विकल्प राग की वृत्ति का उत्थान है और स्वभाव की दृष्टिवन्त को वृत्ति का उत्थान नहीं होता — ऐसा कहते हैं; क्योंकि स्वभाव दृष्टिवन्त को अन्तर एकाग्रता में वे विकल्प नहीं होते; इसलिए उसको विकल्प नहीं है, उसमें विकल्प नहीं है और इसकारण वह घोर संसार को नहीं पाता।

ऐसा सीधा मार्ग ? (प्रथम से ही ऐसा मार्ग) ? हाँ! शुरुआत से यही सीधा मार्ग है। अहा...! अभेद एकरूप और सच्चिदानन्दस्वरूप वस्तु अखण्ड पदार्थ है। उसकी जहाँ सतत्-निरन्तर अन्तर्मुख एकाग्रता है, वहाँ उस जीव को घोर संसार का मूलरूप विकल्प नहीं होता अर्थात् वह जीव विकल्प को नहीं पाता। '**किन्तु निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करता हुआ......**' आत्मा में रागरहित वीतरागी शान्ति और स्वभाव की एकाग्रता को प्राप्त करता हुआ आत्मा को पाता है। भाई! मार्ग ऐसा है! बहुत कठोर है।

अहा! निर्विकल्प समाधि अर्थात् शान्ति; जबकि राग तो अशान्ति है। भले ही शुभ-राग हो या अशुभराग हो, वह अशान्ति है। यहाँ कहते हैं कि यह निर्विकल्पस्वभाव आनन्दस्वरूप है और जो उसमें एकाग्रता करता है, वह तो समाधि को प्राप्त होता है अर्थात् वीतरागभाव को, शान्ति को और समाधान को प्राप्त होता है। वीतरागभाव को प्राप्त करता हुआ वह '**............परपरिणति से दूर...........**' देखो! यह आया कि ज्ञानी रागादि परिणति से तो दूर वर्तता है। शुभराग का विकल्प भी परपरिणति-विकारभाव है। अहा! जिसकी दृष्टि में निरन्तर अखण्डज्ञान वर्तता है — ऐसा स्वभाव की भावनावाला परपरिणति से दूर है; परन्तु अपने स्वभाव की एकाग्रतारूप शुद्धपरिणति से सहित है, आशय यह है कि शुद्धपरिणति को प्राप्त है और परपरिणति से दूर है। भाई! वीतरागी मार्ग ऐसा महान् है; परन्तु साधारण समाज को वह नहीं जँचता; इसलिए अन्यप्रकार से मानते हैं; परन्तु मार्ग तो यह है और वह ऐसा ही होगा न!

अहा....! परिपूर्ण-महावस्तु विद्यमान है। निजस्वरूप ऐसा चैतन्य भगवान परमात्मा

www.vitragvani.com

महास्वरूपपने विराजमान है। अतः उसकी सम्यग्दर्शन सहित अन्तर में एकाग्रता जिसको निरन्तर होती है, वह घोर संसार के मूल विकल्प को नहीं पाता, अपितु निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करता है — ऐसा यहाँ कहते हैं। अब विशेष स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वह '**परपरिणति से दूर है।**' परपरिणति अर्थात् रागादिभाव। जिसको स्वभाव की एकाग्रता हुई है, वह परपरिणति से दूर वर्तता है। आशय यह है कि उसको स्वभाव में एकाग्रता है; इसलिए राग की परिणति से दूर वर्तता है और वह '**अनुपम**' जिसको किसी की उपमा नहीं दी जा सकती — ऐसे '**अनघ चिन्मात्र को (चैतन्यमात्र आत्मा को) प्राप्त होता है।** राग की परिणति से, पर्याय से दूर वर्तता हुआ और स्वभाव के समीप रहता हुआ, स्वभाव की एकाग्रतावाला अर्थात् भावनावाला जीव अकेले ज्ञानमात्रभाव को प्राप्त करता है। फुटनोट में है कि 'अनघ=दोषरहित; निष्पाप; मलरहित।' ये दोनों-पुण्य-पाप के भाव मल हैं और ज्ञानी उनसे रहित चिन्मात्र को प्राप्त करता है।

अहा...! अनघ अर्थात् पुण्य-पाप के अघ से रहित; पुण्य-पापरूपी पापसमूह से रहित और चिन्मात्र अर्थात् अकेला ज्ञानभाव; अर्थात् ज्ञानस्वभाव; अकेला ज्ञायकभाव आत्मा। तो कहते हैं कि पुण्य-पापरूपी पाप के समूह से रहित अकेले ज्ञायकमात्र आत्मा को अर्थात् उसकी परिणति को (ज्ञानी) प्राप्त करता है। भाई! ऐसी अद्भुत बात है। लो, यह मार्ग है। अहा! संक्षेप में बहुत कह दिया है। देखो, एक कलश में तो कितना समा दिया है। ओहो! मुनियों की कथनी अलौकिक है!

लो, अनेकान्त इसको कहते हैं कि जो परपरिणति से दूर है और स्वभाव की एकाग्रता के समीप में है, वह विकल्प को प्राप्त नहीं होता; अपितु निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करता है; और फिर वह एक चिन्मात्र आत्मा को प्राप्त करेगा; परन्तु राग को प्राप्त करेगा या स्वर्ग को प्राप्त करेगा — ऐसा नहीं है। अहा! यह उसका आचरण है अर्थात् त्रिकालीस्वभाव में अन्तर्मुख एकाग्रता करना आत्मा का आचरण है तथा वह आचरण समाधिस्वरूप है। इस आचरण से उसको अकेला ज्ञान प्राप्त हो जायेगा और इसकारण राग का विकल्प भी नहीं रहेगा। अहा! प्रभु आत्मा अकेले अनाकुल शान्ति की मूर्ति है। अतः उसमें एकाग्र और राग की परिणति से दूर, व्यवहार के विकल्प से भी दूर ऐसा जीव (ज्ञानी) शान्ति और समाधि को प्राप्त होता हुआ, अकेला ज्ञानमात्र रह जायेगा अर्थात् ज्ञानमात्र चैतन्य को प्राप्त करेगा — ऐसा यहाँ कहते हैं।

www.vitragvani.com

कलश ६१ पर प्रवचन

देखो, **'इत्थं बुद्धोपदेश'** अर्थात् ज्ञानियों का यह उपदेश है — ऐसा कहते हैं।

'भक्ति से नमित देवेन्द्र मुकुट की सुन्दर रत्नमाला द्वारा.........' यहाँ ऐसा कहकर क्या कहना चाहते हैं ? यही कि ऐसा उपदेश करनेवाले भगवान हैं और उनका उपदेश यह है अर्थात् सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकर परमात्मा ने यह उपदेश दिया है — ऐसा कहते हैं। वे भगवान कैसे हैं ? कि 'भक्ति से नमित देवेन्द्र' देवों के इन्द्र कि जिनके मुकुट में रत्न की मालाएँ और रत्न के हार होते हैं — ऐसे वे **'मुकुट की सुन्दर रत्नमाला द्वारा जिनके चरणों को प्रगटरूप से पूजते हैं।'** देखो, साक्षात् अरिहन्त पद को स्मरण किया है; क्योंकि सिद्ध हुए परमात्मा तो यहाँ हैं नहीं; इसलिए उनकी तो परोक्षभक्ति है; जबकि यहाँ तो अरिहन्त की प्रत्यक्षभक्ति की बात करते हैं।

कहते हैं कि अहो! अर्धलोक के स्वामी — ऐसे महाइन्द्रों के मुकुट की सुन्दर रत्नमाला नम्रीभूत हो गई है। कारण कि भगवान की भक्ति से शरीर नम गया है, इसलिए शरीर पर रहा हुआ अन्य सब भी नम गया है। ऐसे देवेन्द्र अपने मुकुट की सुन्दर रत्नमाला द्वारा जिनके चरणों को प्रगटरूप से पूजते हैं **'ऐसे महावीर तीर्थाधिनाथ द्वारा....'** कहने का आशय यह है कि यह उपदेश महावीर भगवान द्वारा कथित है। सतत् निरन्तर द्रव्यस्वभाव की एकाग्रता करना और परपरिणति से दूर रहना। ऐसा करनेवाला समाधिरूपदशा को तथा ज्ञान की पूर्णदशा को प्राप्त होता है — यह उपदेश जिनको इन्द्र भी नमस्कार करते थे, उन भगवान महावीर ने किया है और ऐसा उपदेश हो वही भगवान का उपदेश है; परन्तु राग की क्रिया से लाभ होता है और राग से लाभ होता है — यह भगवान का उपदेश ही नहीं है। अहा! भाई! इस बात को झेलना समाज को बहुत कठिन है।

प्रश्न — इस उपदेश में प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण आदि सब कहाँ गये ? क्योंकि प्रत्याख्यानादि में तो पता भी चलता है कि हम प्रत्याख्यान करते हैं, उपवास करते हैं, सामायिक करते हैं।

उत्तर — भाई! सुन, यह सब तो विकल्प हैं। यहाँ तो यह कहते हैं कि धर्मी इस विकल्प को प्राप्त ही नहीं होता। अरे! समाज को ऐसा मार्ग बहुत कठिन लगता है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

श्रोता — भगवान ने यह मार्ग समाज के लिए ही कहा है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री — हाँ, समाज के लिए ही भगवान ने यह सब कहा है; परन्तु अभी समाज में ऐसी शैली हो गई है, सत्य का उपदेश अर्थात् मानो कि निश्चयाभास। सत्य का उपदेश करनेवाला निश्चयाभासी हो गया; परन्तु व्यवहार करो तो निश्चय होता है — ऐसा माननेवाला व्यवहाराभासी नहीं है। क्या हो ? अज्ञानी के श्रद्धा-ज्ञान में जो बात बैठी हो, वही कहता है तथा अज्ञानी ऐसा कहता है कि तुम्हारा तो अकेला निश्चय है और वह भी सोनगढ़ का निश्चय है। अरे भगवान! यहाँ (शास्त्र में) क्या कहते हैं, वह देख न! (कि धर्मी विकल्प को भी प्राप्त नहीं करता।)

***प्रश्न* —** परन्तु यह सब व्यवहार, जो कि जैन की संस्कृति है — दया, दान, व्रत, भक्ति, उपवास, पूजा, मुनिभक्ति आदि समस्त भाव यह जैन संस्कृति है, वह डूब जाती है ?

***उत्तर* —** यहाँ तो कहते हैं कि यह जैन संस्कृति नहीं है।

***प्रश्न* —** परन्तु सब जगह तो ऐसा उपदेश नहीं मिलता ?

***उत्तर* —** अपने को तो यह उपदेश मिलता है या नहीं ? (इसलिए उसे सुनकर अपना काम कर लेना चाहिए।) यहाँ कहा है कि स्वतंत्र भगवान आत्मा चैतन्य की मूर्ति है और उसका ही आश्रय, उसकी ही एकाग्रता वह मोक्ष का मार्ग है। अन्य कोई त्रिकाल में भी मोक्ष का मार्ग नहीं है — ऐसा भगवान ने कहा है।

अब कहते हैं कि '**ऐसे महावीर तीर्थाधिनाथ द्वारा........**' देखो, चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा में अभी महावीर भगवान तीर्थ के नाथ हैं। आशय यह है कि अभी भगवान महावीर का शासन है। अतः मुनिराज ऐसा कहते हैं कि जिनका शासन वर्तता है, उन महावीर भगवान ने ऐसा कहा है अर्थात् महावीर भगवान का यह शासन वर्तता है तो भगवान की यह शिक्षा और उपदेश है — ऐसे भगवान द्वारा '**यह संत जन्म-जरा-मृत्यु का नाशक........**' जन्म=जनम, जरा=वृद्धावस्था और मृत्यु=मरण — इन सबका नाशक '**और दुष्ट पापसमूहरूपी अंधकार का ध्वंस करने में चतुर.......**' लो, भगवान का ऐसा उपदेश है — यह कहते हैं। अहा! यह उपदेश जन्म, जरा और मरण का नाशक है। तात्पर्य यह है कि जिससे जन्म-जरा-मरण हो और गतियाँ मिले, वह वीतराग का उपदेश ही नहीं है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अहा...! यहाँ तो पुण्य और पाप के दोनों विकल्प अंधकारमय हैं, अचेतन हैं और अंधे हैं — ऐसा कहते हैं। जागती ज्योत ऐसे चैतन्य भगवान आत्मा की एकाग्रता — यह एक ही प्रकाशमय है। इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप के परिणाम भी अंधे, अंधकारमय और अचेतन हैं; क्योंकि वे चैतन्यप्रकाश से रहित हैं; इसीलिए कहते हैं कि '**दुष्ट पापसमूहरूपी अंधकार का**' अचेतन ऐसे विकल्प का '**ध्वंस करने में चतुर ऐसा इसप्रकार का (पूर्वोक्त) उपदेश.....**' देखो, कहते हैं कि यह चतुर उपदेश है अर्थात् यह चतुरपनेवाला-ज्ञानवाला और यथार्थ उपदेश है। जिसको ऐसा उपदेश नहीं रुचता, उसको भगवान का मार्ग भी नहीं रुचता।

अहा! व्यवहार का समस्त उपदेश तो जानने के लिए है। वह बताता है कि वहाँ विकल्प में और संयोग में क्या होता है। बाकी करनेयोग्य तो यह निश्चय का उपदेश है और इस निश्चय के उपदेश को ही चतुराईवाला और तीक्ष्ण उपदेश कहा जाता है। आशय यह है कि निश्चय के आश्रय से ही/आत्मा के आश्रय से ही लाभ होता है और आत्मा में एकाग्र होने से ही आत्मा को शान्ति, समाधि प्राप्त होती है। ऐसे उपदेश को चतुर उपदेश कहते हैं। भाई! अज्ञानी लोग तो इस उपदेश को 'यह एकान्त है' — ऐसा कहकर एकान्तिक उपदेश कहते हैं। उनके समक्ष यह बात की है कि यह तो चतुर उपदेश है। अरे भगवान! सुन तो सही भाई! कि स्वभाव में, सम्यक् एकान्त में ढलना वह एकान्त ही है और राग में न आना ही अनेकान्त है।

देखो, अब कहते हैं कि '**ऐसा इसप्रकार का (पूर्वोक्त) उपदेश समझकर**' अर्थात् ऐसे चतुर उपदेश को 'यह तो निश्चय का उपदेश है, निश्चय का उपदेश है' — ऐसा कहकर उड़ा मत देना; परन्तु उसकी समझ करना — ऐसा कहते हैं। अरे! अभी तो लोगों को ऐसा लगता है कि मानों गृहस्थों के लिए निश्चय के उपदेश की आवश्यकता ही नहीं है, मानों कि श्रावक को कोई निश्चयनय ही नहीं होता; परन्तु व्यवहार ही होता है और निश्चयनय तो आगे (मुनियों को) होता है; इसलिए गृहस्थावस्था में निश्चय के उपदेश की आवश्यकता नहीं है, अभी ऐसी प्रथा हो गई है; परन्तु भाई! चौथे गुणस्थान से भी यही मार्ग है। अहो! देखो न, मुनिराज ने किस रीति से बात की है।

कहते हैं कि चतुर ऐसे इसप्रकार के उपदेश को समझकर....अहा! उपदेश तो सच्चा है; परन्तु वह उपदेश उपदेश न रहकर, उसे समझ — ऐसा कहना है; इसलिए कहते

www.vitragvani.com

हैं कि ऐसे उपदेश को सुनकर समझ। यह उपदेश तो उपदेश में है; परन्तु जो उपदेश है, वह सत्य ही है — ऐसा अन्तर्मुख होकर भलीभांति समझ। तीर्थाधिनाथ का उपदेश ऐसा होता है और उसको सुनकर जीव समझता है; क्योंकि उपदेश समझने के लिए ही है न!

अहा...! 'पूर्वोक्त उपदेश को समझकर........' ऐसे उपदेश को समझकर.........इसका अर्थ यह है कि निश्चयनय के विषयरूप अखण्डधारा में निरन्तर एकाग्र रहना और राग से दूर रहना — ऐसा जो पूर्वोक्त भगवान का (निश्चयनय का) उपदेश है, उसको समझ और व्यवहारनय का उपदेश है, वह जानने के लिए है। देखो, इसप्रकार भगवान का निश्चय का उपदेश सिद्ध किया और उस निश्चय के उपदेश की समझ तू इसप्रकार करना अर्थात् जैसा निश्चय का उपदेश है, वैसी ही समझ तू पहले करना - ऐसा भी कहा। अद्‌भुत बात है! सो उस उपदेश को जीव समझकर-उपदेश का ज्ञान करके **'सत्शीलरूपी नौका द्वारा.........'** सत्+शील=सच्चा आचरण, अन्दर में एकाग्रता। स्वभाव सन्मुखता की एकाग्रतारूपी नौका द्वारा **'भवाब्धि के सामने किनारे पहुँच जाते हैं।'** देखो, ऐसा करके मोक्ष के मार्ग की (सत्शील) और मोक्ष की (भवाब्धि के सामने किनारे) - दोनों की बात की है। अहा.....! बहुत संक्षेप से संक्षेप कलश में भर दिया है।

अहा....! कहते हैं भाई! तुझे धर्म करना हो और मोक्ष प्रगट करना हो तो उसकी रीति यह है। इसके अलावा अन्य सब तो बातें हैं। यह बात लोगों को कठोर लगती है; क्योंकि जिसमें हाथी-घोड़ा आदि हो — ऐसी रथयात्रा निकालना, मन्दिर बनाना — ऐसी समस्त धमाधम की बातें इसमें नहीं आतीं। भाई! शुभ विकल्प हो, तब वे मन्दिरादि बनना हों तो बनते हैं; तथापि वह शुभ विकल्प वस्तुस्थिति अर्थात् धर्म नहीं है — ऐसा यहाँ कहते हैं; क्योंकि सत्शीलरूपी नौका द्वारा भवाब्धि के पार को पाया जाता है और ये रागादि तो सत्शील नहीं हैं। भाई! काम बहुत कठिन है। अहा! यहाँ से (सोनगढ़ से) जब यह सत्य बात बाहर आई, वहाँ कितने ही अज्ञानियों ने इसे उड़ा दिया कि यह एकान्त है। अरे भगवान! मार्ग तो यह है और अब तो यह बात बहुतों के अन्दर में बैठ गई है; इसलिए यह बात कोई आसानी से निकल जाए — ऐसा नहीं है।

यहाँ कहा है कि पूर्व में कहा वह सब भगवान का उपदेश है; तो वह उपदेश कैसा

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

है ? कि जन्म-जरा-मरण का नाशक है और दुष्ट पापसमूहरूपी अंधकार का ध्वंस करने में चतुर है — ऐसा जो उपदेश है, वही वीतराग का उपदेश है।

श्रोता — यह तरने का उपदेश है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री — नहीं तो क्या भगवान का उपदेश डूबने के लिए होता है ? यह तो तरने के लिए ही होता है न ? कारण कि अज्ञानी डूबा हुआ तो है ही। देखो, यहाँ ऐसा भी कहा है कि **'(पूर्वोक्त) उपदेश को समझकर'** सम्यग्ज्ञान करके, **'सत्शीलरूपी नौका द्वारा'** अर्थात् अन्दर के सत् आचरणरूपी स्वरूप में लीनतारूपी नौका द्वारा **'भवाब्धि के'** भवरूपी-संसाररूपी महासमुद्र के (भवाब्धि=भव+अब्धि= संसाररूपी-महासमुद्र) **'सामने किनारे पहुँच जाता है।'** वह भव-संसार से पार हो गया और अब मोक्ष में जायेगा — ऐसा कहते हैं।

अहा....! कितने ही तो ऐसा कहते हैं कि तुम इतनी बड़ी-बड़ी बातें करते हो; परन्तु पहले करना क्या है, वह बात तो करते ही नहीं ? भाई! भगवान का ऐसा उपदेश है, पहले उसको समझना और फिर समझकर अन्दर में एकाग्रता करना, क्या यह करना नहीं है ? वस्तु (मोक्ष) के लिए धर्म तो यह है; परन्तु जब अज्ञानी समझे ही नहीं तो वहाँ क्या हो सकता है ? अहा! भवाब्धि के सामने किनारे पहुँचने पर अर्थात् भवरूपी महासमुद्र है, उसको पार करके, सामने किनारे पहुँचने पर अर्थात् चौरासी लाख योनि के अवतार की खान है, उसका अन्त आने पर मोक्ष होता है। इसप्रकार भवाब्धि के सामने किनारा और मोक्ष की शुरूआत ऐसा जीव प्राप्त करता है। देखो न, यह अर्थ शास्त्र में है या नहीं ?

श्रोता — ऐसा अर्थ सब कहाँ निकालते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री - यह तो जिसको आत्मा की गरज हो, वह ऐसा अर्थ निकालेगा। भाई! यह तो जिसको आत्मा की जरूरत हो उसकी बात है। ●

जो विषयजन्य दोष देवों को दुःख देते हैं, उनके रहने पर भला साधारण मनुष्य कैसे सुख प्राप्त कर सकते हैं ? नहीं प्राप्त कर सकते। ठीक है - जिस सिंह के द्वारा झरते हुए मद से मलिन गंडस्थलवाला अर्थात् मदोन्मत्त हाथी भी कष्ट को प्राप्त होता है, वह पैरों के नीचे पड़े मृग को छोड़ेगा क्या ? अर्थात् नहीं छोड़ेगा। **- श्री सुभाषितरत्नसंदोह**

नियमसार गाथा–४३

णिद्दंडो णिद्दंद्दो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा॥४३॥

निर्दण्डः निर्द्वन्दः निर्ममः निःकलः निरालंबः।
नीरागः निर्दोषः निर्मूढः निर्भयः आत्मा॥४३॥

(हरिगीत)

निर्दंड अरु निर्द्वंद्व निर्मम निःशरीर निराग है।
निर्मूढ़ निर्भय, निरवलंबन आत्मा निर्दोष है॥४३॥

गाथार्थ :— आत्मा निर्दण्ड[१] निर्द्वन्द्व, निर्मम, निःशरीर, निरालंब, निराग, निर्दोष, निर्मूढ़ और निर्भय है।

टीका :— यहाँ (इस गाथा में) वास्तव में शुद्ध आत्मा को समस्त विभाव का अभाव है — ऐसा कहा है।

मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड के योग्य द्रव्यकर्मों तथा भावकर्मों का अभाव होने से आत्मा निर्दण्ड है। निश्चय से परमपदार्थ के अतिरिक्त समस्त पदार्थ समूह का (आत्मा में) अभाव होने से आत्मा निर्द्वन्द्व (द्वैतरहित) है। प्रशस्त–अप्रशस्त समस्त मोह, राग, द्वेष का अभाव होने से आत्मा निर्मम (ममतारहित) है। निश्चय से औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण नामक पाँच शरीरों के समूह का अभाव होने से आत्मा निःशरीर है। निश्चय से परमात्मा को परद्रव्य का अवलम्बन न होने से आत्मा निरालम्ब है। मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ नामक चौदह अभ्यन्तर परिग्रहों का अभाव होने से आत्मा निराग है। निश्चय से समस्त पापमलकलंकरूपी कीचड़ को धो डालने में समर्थ, सहज–परमवीतराग–सुखसमुद्र में मग्न (डूबी हुई लीन) प्रगट सहजावस्थास्वरूप जो सहजज्ञान–शरीर उसके द्वारा पवित्र होने के कारण आत्मा निर्दोष है। सहज निश्चयनय से सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज चारित्र, सहज परमवीतराग सुख आदि अनेक परमधर्मों के आधारभूत निज परमतत्त्व को जानने में समर्थ होने से आत्मा निर्मूढ़ (मूढ़तारहित) है;

१. निर्दण्ड=दण्डरहित। (जिस मनवचनकायाश्रित प्रवर्तन से आत्मा दण्डित होता है, उस प्रवर्तन को दण्ड कहा जाता है।)

अथवा, सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्धसद्भूत व्यवहारनय से तीनकाल और तीनलोक के स्थावर-जंगमस्वरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एकसमय में जानने में समर्थ सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञानरूप से अवस्थित होने से आत्मा निर्मूढ़ है। समस्त पापरूपी शूरवीर शत्रुओं की सेना जिसमें प्रवेश नहीं कर सकती — ऐसे निज शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप महादुर्ग में (किले में) निवास करने से आत्मा निर्भय है। ऐसा यह आत्मा वास्तव में उपादेय है।

इसीप्रकार (श्री योगीन्द्रदेवकृत) अमृताशीति में (५७ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि—

(मालिनी)

''स्वर-निकर-विसर्ग-व्यंजनाद्यक्षरैर्यद्
रहितमहितहीनं शाश्वतं मुक्तसंख्यम्।
अरसतिमिररूपस्पर्शगंधाम्बुवायु-
क्षितिपवनसखाणुस्थूल दिक्चक्रवालम्॥''

(वीरछन्द)

स्वर समूह व्यञ्जन विसर्ग से आत्मतत्त्व है शून्य सदा।
संख्या से भी मुक्त और जो शाश्वत अहित-विहीन सदा॥
अन्धकार, रस, गंध तथा ही स्पर्श रूप से भिन्न सदा।
भू, जल, अग्नि पवन अणुओं से दिशा चक्र से भिन्न सदा॥

श्लोकार्थ :— आत्मतत्त्व स्वरसमूह, विसर्ग और व्यंजनादि अक्षरों रहित तथा संख्या रहित है (अर्थात् अक्षर और अंक का आत्मतत्त्व में प्रवेश नहीं है), अहित रहित है, शाश्वत है, अंधकार तथा स्पर्श, रस, गंध और रूपरहित है, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के अणुओं रहित है तथा स्थूल दिक्चक्र (दिशाओं के समूह) रहित है।

और (४३वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज सात श्लोक कहते हैं) —

(मालिनी)

दुरघवनकुठारः प्राप्तदुःकर्मपारः
परपरिणतिदूरः प्रास्तरागाब्धिपूरः।
हतविविधविकारः सत्यशर्माब्धिनीरः
सपदि समयसारः पातु मामस्तमारः॥६२॥

www.vitragvani.com

(वीरछन्द)

दुष्ट पाप वन को कुठार अरु दुष्कर्मों को नष्ट किया।
पर-परिणति से दूर सदा रागोदधिपूर विनष्ट किया॥
विविध विकार हनन कर्ता जो सुखसागर का नीर अहो!
काम कलंक विनाशक सार-समय मम रक्षा शीघ्र करो॥६२॥

श्लोकार्थ :— जो (समयसार) दुष्ट पापों के वन को छेदने का कुठार है, जो दुष्ट कर्मों के पार को प्राप्त हुआ है (अर्थात् जिसने कर्मों का अन्त किया है), जो परपरिणति से दूर है, जिसने रागरूपी समुद्र के पूर को नष्ट किया है, जिसने विविध विकारों का हनन कर दिया है, जो सच्चे सुखसागर का नीर है और जिसने काम को अस्त किया है, वह समयसार मेरी शीघ्र रक्षा करो।।६२॥

(मालिनी)

जयति परमतत्त्वं तत्त्वनिष्णातपद्म-
प्रभमुनिहृदयाब्जे संस्थितं निर्विकारम्।
हतविविधविकल्पं कल्पनामात्ररम्याद्
भवभवसुखदुःखान्मुक्तमुक्तं बुधर्यत्॥६३॥

(वीरछन्द)

तत्त्व निपुण पद्मप्रभ मुनि के हृदय कमल में सुस्थित है।
निर्विकार वह परमतत्त्व जो विविध विकल्प विनाशक है॥
भव-भव के सुख-दुःख कल्पना मात्र रम्य जो लगें अहो।
उन सुख-दुःख से रहित कहें बुध परमतत्त्व जयवंत रहो॥६३॥

श्लोकार्थ :— जो तत्त्वनिष्णात (वस्तुस्वरूप में निपुण) पद्मप्रभमुनि के हृदयकमल में सुस्थित है, जो निर्विकार है, जिसने विविध विकल्पों का हनन कर दिया है और जिसे बुधपुरुषों ने कल्पनामात्र-रम्य — ऐसे भव-भव के सुखों से तथा दुःखों से मुक्त (रहित) कहा है, वह परमतत्त्व जयवन्त है।।६३।।

(मालिनी)

अनिशमतुलबोधाधीनमात्मानमात्मा
सहजगुणमणीनामाकरं तत्त्वसारम्।
निजपरिणतिशर्माम्भोधिमज्जन्तमेनं
भजतु भवविमुक्त्यै भव्यताप्रेरितो यः॥६४॥

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

(वीरछन्द)

अहो भव्यता द्वारा प्रेरित होने वाले आत्मन्! जो।
भव विमुक्त होना चाहो तो निज आतम को शीघ्र भजो॥
अनुपम ज्ञानाधीन सदा जो सहज शक्ति मणियों की खान।
सर्व तत्त्व में सारभूत जो निज परिणति सुखसागर मग्न॥६४॥

श्लोकार्थ :— जो आत्मा भव्यता द्वारा प्रेरित हो, यह आत्मा भव से विमुक्त होने के हेतु निरन्तर इस आत्मा को भजो कि जो (आत्मा) अनुपम ज्ञान के आधीन है, जो सहजगुणमणि की खान है, जो (सर्व) तत्त्वों में सार है और जो निजपरिणति के सुखसागर में मग्न होता है।।६४।।

(द्रुतविलंबित)

भवभोगपराङ्गमुख हे यते
पदमिदं भवहेतुविनाशनम्।
भज निजात्मनिमग्नमते पुन-
स्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया॥६५॥

(वीरछन्द)

भव भोगों से विमुख यति हे लीन बुद्धि निज आतम में।
भवक्षयकारकपद भज! अध्रुव चिन्ता से क्या लाभ तुम्हें॥६५॥

श्लोकार्थ :— निज आत्मा में लीन बुद्धिवाले तथा भव से और भोग से पराङ्गमुख हुए हे यति! तू भवहेतु का विनाश करनेवाले ऐसे इस (ध्रुव) पद को भज; अध्रुव वस्तु की चिन्ता से तुझे क्या प्रयोजन है ?।।६५।।

(द्रुतविलंबित)

समयसारमनाकुलमच्युतं
जननमृत्युरुजादिविवर्जितम्।
सहजनिर्मलशर्मसुधामयं
समरसेन सदा परिपूजये॥६६॥

(वीरछन्द)

अच्युत और अनाकुल जन्म मृत्यु रोगादिक रहित सदा।
निर्मल सहज सुखामृत सार समय समरस से भजूँ सदा॥६६॥

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

श्लोकार्थ :— जो अनाकुल है, अच्युत* है, जन्म-मृत्यु-रोगादिरहित है, सहज निर्मल सुखामृतमय है, उस समयसार को मैं समरस (समताभाव) द्वारा सदा पूजता हूँ।।६६।।

(इंद्रवज्रा)

इत्थं निजज्ञेन निजात्मतत्त्व-
मुक्तं पुरा सूत्रकृता विशुद्धम्।
बुद्ध्वा च यन्मुक्तिमुपैति भव्य-
स्तद्भाव-याम्युत्त-शर्मणेऽहम्॥६७॥

(वीरछन्द)

आत्मज्ञानयुत सूत्रकार ने जिस निजात्म का किया कथन।
जिसे जान भवि मुक्ति लहें उत्तम सुख पाने करूँ भजन॥६७॥

श्लोकार्थ :— इसप्रकार पहले निजज्ञ सूत्रकार ने (आत्मज्ञानी सूत्रकर्ता श्रीमद्-भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने) जिस निजात्मतत्त्व का वर्णन किया और जिसे जानकर भव्य जीव मुक्ति को प्राप्त करते हैं, उस निजात्मतत्त्व को उत्तम सुख की प्राप्ति के हेतु मैं भाता हूँ।।६७॥

(वसंततिलका)

आद्यन्तमुक्तमनघं परमात्मतत्त्वं
निर्द्वन्द्वमक्षयविशालवरप्रबोधम्।
तद्भावनापरिणतो भुवि भव्यलोकः
सिद्धिं प्रयाति भवसंभवदुःखदूराम्॥६८॥

(वीरछन्द)

आदि-अन्त से रहित अनघ निर्द्वन्द्व महा अक्षय बुधरूप।
जो भवि उसकी करें भावना सिद्धि लहें भव दुःख से दूर॥६८॥

श्लोकार्थ :— परमात्मतत्त्व आदि-अन्तरहित है, दोषरहित है, निर्द्वन्द्व है और अक्षय विशाल उत्तम ज्ञानस्वरूप है। जगत में जो भव्यजन उसकी भावनारूप परिणमित होते हैं, वे भवजनित दुःखों से दूर ऐसी सिद्धि को प्राप्त करते हैं।।६८।।

* अच्युत=अस्खलित; निजस्वरूप से न हटा हुआ।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

गाथा ४३ की टीका प्रवचन

पूर्व ३९वीं गाथा में '**णो खलु सहावठाणा**' — ऐसा कहकर, वहाँ से बात शुरू की है न! तो उसको १ नंबर देकर, एकबार संख्या भी गिनी थी। गाथा ४२ तक २३ नंबर आये हैं और अब यह २४वाँ बोल निर्दण्ड का आयेगा।

यह आत्मा कैसा है सो कहते हैं। देखो —

'**यहाँ (इस गाथा में) वास्तव में शुद्ध आत्मा को समस्त विभाव का अभाव है — ऐसा कहा है।**' आत्मा को समस्त विभाव नहीं है; क्योंकि आत्मा तो अकेला स्वभाव का/ज्ञान और आनन्द का पिण्ड है।

(२४) (निर्दण्ड की व्याख्या) देखो, पहले ही यह शुरूआत की है कि आत्मा निर्दण्ड है। मन, वचन और काया का दण्ड, जो कि पर्याय में है, वह आत्मा में नहीं है, वस्तु में नहीं है। '**मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड के योग्य.......**' मनदण्ड=मन संबंधी शुभाशुभ विकल्प भी एक दण्ड है अर्थात् मन के संबंध से पुण्य का विकल्प उत्पन्न होना भी दण्ड है; क्योंकि उससे आत्मा दण्डित होता है। वचनदण्ड=वचन संबंधी विकल्प भी एक दण्ड है; क्योंकि वह भी नुकसानकारक है। कायदण्ड=काया संबंधी विकल्प भी दण्ड है। इन तीनों के योग्य अर्थात् मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड के भाव के योग्य '**द्रव्यकर्मों तथा भावकर्मों का अभाव होने से...**' इन दण्ड के भाव के योग्य द्रव्यकर्म आते हैं, उनका और भावकर्म कहने से इन दण्ड के योग्य ऐसा जो भाव, जो विकारी परिणाम है, उसका अभाव होने से...अर्थात् भगवान आत्मा में इन दोनों का (द्रव्य-भावकर्मों का) अभाव है।

अहा! अज्ञानी कहता है कि मन-वचन-काय से कुछ करो, उससे कुछ करो तो धर्म होगा; जबकि यहाँ कहते हैं कि उनसे करें क्या ? क्योंकि वह सब तो विकल्प है। मन-वचन-काय के विकल्परूप जो परिणाम है, वह राग है और उससे आत्मा दण्डित होता है। तो ऐसा भाव आत्मा में नहीं है। द्रव्यकर्म का संबंध करने पर भावकर्मरूप जो ऐसे तीन योग से दण्डरूप भाव होते हैं, उनका त्रिकाल शुद्ध भगवान आत्मा में अभाव है।

अहा! यह वीतरागमार्ग लोगों को लूखा (रुखा) लगता है; इसलिए किंचित् शुभभाव करके हमने सामायिक की और प्रतिक्रमण किया - ऐसा वे मानते हैं; परन्तु भाई! वह

www.vitragvani.com

(शुभभाव) धूल भी सामायिक नहीं है; क्योंकि उस सामायिक के समय मन का विकल्प उत्पन्न होता है, वह दण्ड है और फिर भी उसको सामायिक माना है; इसलिए मिथ्यात्व है।

श्रोता — इस बात का पता ही नहीं था न ?

पूज्य गुरुदेवश्री — तुम्हारे जैसे होशियार कहलानेवालों को भी पता नहीं था ? परन्तु समझ में न आवे, वहाँ तक क्या हो सकता है ? अहा! ऐसा निर्दोष शुद्ध मार्ग है।

कहते हैं कि मन, वचन और काय का भाव दण्ड है और उसके योग्य जो द्रव्यकर्म और भावकर्म हैं (यह दण्ड का भाव ही भावकर्म है।) उनका — उन दोनों का भगवान आत्मा में अभाव है। अहा! यह 'शुद्धभाव अधिकार' है न! शुद्धभाव अर्थात् त्रिकाली भाव, जो कि आश्रय करनेयोग्य है, जिसके समीप में जाकर एकाग्र होनेयोग्य है — ऐसा जो त्रिकाली भाव है, उसमें ये तीन दण्ड नहीं हैं, तो फिर जो आत्मा में नहीं है — ऐसे मन-वचन-काय से कुछ करने से क्या आत्मा का कल्याण होगा ? अर्थात् क्या आत्मा दण्डित हो तो आत्मा का कल्याण हो - ऐसा होगा ? (नहीं) भाई! इन दण्ड से तो आत्मा के सिर पर भार पड़ा है।

अहा! अज्ञानी एक तो अज्ञान करता है और फिर कहता है कि हमने खोटा क्या किया है ? हम तो अच्छा करते हैं न ? भाई! तुम मिथ्यात्व की खोटी भूल करते हो। यहाँ कहते हैं कि मनदण्ड-वचनदण्ड और कायदण्ड के योग्य, उसके प्रमाण में, जो द्रव्यकर्म हैं और दण्ड के योग्य वर्तमान में जो भावकर्म हैं, उनका '**अभाव होने से आत्मा निर्दण्ड है।**' आत्मा दण्डरहित है। वेदान्त ऐसा कहता है न कि 'यह भेद नहीं है, यह नहीं है।' परन्तु 'यह नहीं है' — ऐसा कहते ही वह वस्तु (भेद) 'है' — (ऐसा सिद्ध होता है।) उसीप्रकार आत्मा में दण्ड नहीं है — ऐसा यहाँ कहना है; परन्तु वह दण्ड पर्याय में है या नहीं ? (है।) तो यहाँ पर पर्याय में ये दण्ड होने पर भी वस्तु में नहीं है — ऐसा सिद्ध किया है। अहा! श्री कुन्दकुन्दाचार्य की कोई ऐसी शैली है कि जिनशासन का जितना व्यवहार है तथा जितना व्यवहार का विषय-निमित्त है, उन सबका पहले वर्णन करके फिर उसका निषेध कर देते हैं; क्योंकि व्यवहार, व्यवहार से अर्थात् व्यवहार की अपेक्षा से भी असत्य है — ऐसा नहीं है। व्यवहारनय का विषय

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

है अवश्य, (इसलिए उसका वर्णन करते हैं।) परन्तु त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से वह असत्य है (इसलिए उसका निषेध करते हैं)।

(२५) (निर्द्वन्द्व की व्याख्या) 'निश्चय से परमपदार्थ....' परमपदार्थ=शुद्धभाव; प्रभु आत्मा। निश्चय से परमपदार्थ ऐसा प्रभु भगवान आत्मा अर्थात् शुद्धभाव ऐसे परमपदार्थ **'के अतिरिक्त समस्त पदार्थसमूह का आत्मा में अभाव होने से आत्मा निर्द्वन्द्व (द्वैत रहित) है।'** द्वन्द्व (द्वैत) रहित है। विकल्पादि द्वैत स्वरूप में नहीं हैं। एक शुद्धभाव स्वरूप भगवान आत्मा में परमपदार्थ के अतिरिक्त समस्त पदार्थ समूह का/विकल्प से लेकर सम्पूर्ण दुनिया का अभाव होने से आत्मा निर्द्वन्द्व है; उसमें द्वन्द्व नहीं है। वह निर्द्वन्द्व-अकेला है, द्वैतरहित है।

द्वैतरहित अर्थात् ? जैसे वेदान्त अद्वैत कहता है, वैसा नहीं; परन्तु पर्याय में द्वैतपना और विकल्पादि सब हैं और उसीतरह अन्य पदार्थ भी हैं; तथापि वे सब वस्तु में नहीं हैं। त्रिकाली शुद्धभाव, जो कि दृष्टि का विषय है, आश्रय करनेयोग्य है, अवलम्बन करनेयोग्य है तथा जो पहले (प्रथम से ही) स्वीकार करनेयोग्य है, उसमें द्वैतपना नहीं है। तात्पर्य यह है कि ऐसा जो शुद्धभाव है, उसमें एक परमपदार्थ के अतिरिक्त अन्य कोई चीज है ही नहीं। हाँ, दूसरी चीज दूसरे में है, राग, राग में है; अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य में है; अन्य क्षेत्र, अन्य क्षेत्र में हैं और अन्य भाव भी अन्य भाव में हैं; परन्तु एकरूप आत्मा में वह द्वन्द्व नहीं है, दोपना नहीं है और ऐसे निर्द्वन्द्व भगवान आत्मा की दृष्टि करने पर वह व्यवहार उसमें-उसकी पर्याय में भी नहीं रहता — ऐसा कहते हैं। आशय यह है कि व्यवहार के विकल्प का द्वन्द्व भी आत्मा में नहीं है और आत्मा में द्वन्द्व न होने से उसकी दृष्टि करनेवाले को भी द्वन्द्व नहीं रहता।

आशय यह है कि वस्तु में तो दण्ड नहीं है; परन्तु धर्मी को, जिसने आत्मा का आश्रय लिया है — ऐसे समकिती को भी दण्ड नहीं है। वस्तु (आत्मा) निर्द्वन्द्व है। सो वह तो वस्तु ऐसी (निर्द्वन्द्व) सिद्ध हुई। अब ऐसी वस्तु की दृष्टि जिसको हुई है, वह ज्ञानी भी निर्द्वन्द्व है — ऐसा यहाँ कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी को व्यवहार का द्वन्द्व नहीं है। ज्ञानी द्वन्द्व को नहीं साधता, द्वन्द्व में एकरूप नहीं; अपितु द्वन्द्व से भिन्नरूप है अर्थात् ज्ञानी में द्वन्द्व का अभाव है।

प्रश्न — ज्ञानी को मूर्ति का तो आधार है न ?

www.vitragvani.com

उत्तर — धर्मी को तीनकाल में कभी उसका आधार नहीं है।

प्रश्न — दस लाख रुपये के विशाल-विशाल मन्दिर बनवावे तो उनका तो आधार होगा या नहीं ?

उत्तर — (मन्दिर कौन बना सकता है ?) वह तो शुभभाव हो, तब वहाँ लक्ष्य जाता है; तथापि वह शुभभाव और मन्दिर — दोनों चीजों का वस्तु में अभाव है; इसलिए उनका भी आधार नहीं है।

प्रश्न — परन्तु अज्ञानी को तो उनका आधार है या नहीं ?

उत्तर — वह स्वयं अज्ञानी है, इसलिए उनको (मन्दिर और शुभराग को) आधार मानता है। सो भले ही अज्ञानी उनको आधार माने; तथापि अज्ञानी को भी उनका आधार नहीं है। क्या आत्मा को पर का आधार हो सकता है ? नहीं। तथा अज्ञानी आत्मा अर्थात् मूढ़ आत्मा; वह कोई आत्मा नहीं, अपितु अनात्मा है; इसलिए वह तो कुछ भी माने। अरे! अज्ञानी जीव आत्मा ही कहाँ है ? अर्थात् वह आत्मा ही नहीं है; परन्तु मूढ़ हुआ अनात्मा है। राग से लाभ माननेवाला और मैं पर के आधार से हूँ — ऐसा माननेवाला मूढ़ है; क्योंकि वास्तव में वस्तु आधार है और वस्तु के अनन्तगुण आधेय हैं; यह भी भेद से विचारे तो है, नहीं तो यह (गुण-गुणी) एक ही वस्तु है। तो त्रिकाली आनन्दादि गुण, जो कि स्वभाव है, वे आधेय हैं और द्रव्य आधार है; परन्तु उसको किसी निमित्त का अथवा राग का आधार है ही नहीं — ऐसी बात है।

प्रश्न — एक ओर तो आप कहते हो कि निमित्त आधार नहीं है, तथापि मन्दिर तो बनवाते हो और विशाल पंचकल्याणक भी कराते हो ?

उत्तर — भाई! यह सब तो होने का काल हो, तब बाहर में (मन्दिरादि) होते हैं अर्थात् बाहर में उसप्रकार का होना हो तो होता है। (बाकी उसको करे कौन ?)

प्रश्न — (जिनमन्दिर बने तो) हमको उसका आधार रहता है न ?

उत्तर — यहाँ उससे ही इन्कार करते हैं। अहा! आत्मा को मन्दिर का तो आधार नहीं है; परन्तु उसके प्रति लक्ष्य जाने पर होनेवाले भक्ति के भाव का/विकल्प का भी आधार नहीं है। आत्मा तो उस विकल्प से रहित निर्द्वन्द्व है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अहा....! एक व्यक्ति ने किसी दूसरे से कहलवाया था कि महाराज (पूज्य गुरुदेव) कहें तो मैं यहाँ पाँच लाख का मन्दिर बनवाऊँ। भाई! मैं तो किसी से कहता नहीं, हम तो उपदेश देते हैं। उस उपदेश में जो आता है वह समझो। बाकी व्यक्तिगत चर्चा यहाँ नहीं करते। किसी को मन्दिर बनवाना हो और फिर मैं कहूँ तो वह मन्दिर बनवावे — इसका अर्थ क्या ? मन्दिर नहीं बनाने के लक्षण। क्या कोई व्यक्ति यह कहलाता है कि तू यह कर ? क्या ऐसा होता है ? (नहीं।) क्योंकि उसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव कैसे हों और वह कैसे परिणमें (इसका क्या पता चलता है ?) इसप्रकार यहाँ निर्द्वन्द्व की व्याख्या हुई।

(२६) (निर्मम की व्याख्या) भगवान आत्मा निर्मम है। 'मम' अर्थात् रागादि मेरे हैं — ऐसा आत्मा में नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प मेरा है — ऐसा भी वस्तु में नहीं है; क्योंकि वस्तु में विकल्प ही कहाँ है ? अहा! शुद्धभाव अधिकार में रेलमपेल कर दी है। कहते हैं कि '**प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से....**' देखो, प्रशस्त राग/शुभराग भी लिया है और वह भी 'समस्त मोह-राग-द्वेष' — ऐसा कहना है न! इसलिए प्रशस्त मोह-राग-द्वेष पहले लिया है। भगवान का प्रेम आदि जो समस्त प्रशस्तराग है, वह सब ही स्वरूप में नहीं है और अप्रशस्त राग स्वरूप में नहीं है, यह तो ठीक (साधारण) बात है, क्योंकि वह तो लौकिक है। प्रशस्त-अप्रशस्त मोह तथा प्रशस्त-अप्रशस्त राग-द्वेष का-समस्त का अभाव होने से अर्थात् एक भी विकल्प का-शुभ विकल्प का भी अन्दर में अभाव होने से '**आत्मा निर्मम है।**' विकल्प की भी ममता-विकल्प मेरा है — ऐसी ममता आत्मा में नहीं है; तो फिर यह मकान, मन्दिर और पुस्तकों के ठाठ — ये कोई भी आत्मा के नहीं हैं; इसलिए आत्मा मम (ममता) रहित है। लो, आत्मा निर्मम है अर्थात् ममत्वरहित है। जैसे छोटे बालक को 'मम ले, मम ले' — ऐसा करे तो वह खाता है न! इसीतरह आत्मा को राग की खुराक (मम) ही नहीं है। पाप और पुण्य के परिणामरूप 'मम' आत्मा में नहीं है; इसलिए वह निर्मम है।

(२७) (निःशरीर की व्याख्या) तथा '**निश्चय से**' वास्तव में '**औदारिक**' — यह औदारिक शरीर भगवान आत्मा में नहीं है तो फिर इस शरीर से धर्म हो — यह बात ही कहाँ रही ?

www.vitragvani.com

प्रश्न — परन्तु 'जीवित शरीर' से तो धर्म होता है न ?

उत्तर — यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा में शरीर ही नहीं है तो फिर 'जीवित शरीर' कहाँ से आया ? परन्तु बात यह है कि अज्ञानी मूलवस्तु ही समझा नहीं है और फिर भी महान/पण्डित नाम धराना है; इसलिए फिर 'संस्कृत, व्याकरण और अन्य में ऐसा है' — ऐसा वह कहता है; परन्तु भाई! तेरी दृष्टि में ही अन्तर है; इसलिए जितना पड़ेगा, उतना सब तुझे तो उलटा ही पड़ेगा।

यहाँ कहते हैं कि निश्चय से औदारिक शरीर आत्मा में नहीं है। '**वैक्रियक**' नारकी को और देव को वैक्रियक शरीर होता है न! वह भी आत्मा में नहीं है। '**आहारक**' आहारक ऋद्धिधारी मुनिराज को आहारक शरीर होता है न! वह आहारक शरीर भी आत्मा में नहीं है। '**तैजस**' शरीर में गरमी (तेज) लगती है न! वह अन्दर तैजस शरीर के कारण से है और वह तैजस शरीर भी आत्मा में नहीं है। '**कार्मण**' कार्मण शरीर भी आत्मा में नहीं है। आठों ही कर्मों का समूह सो कार्मण शरीर है और वह भी आत्मा में नहीं है। आत्मा में कार्मण शरीर ही नहीं है — ऐसा कहते हैं।

प्रश्न — तब कार्मण शरीर जड़ को होगा ?

उत्तर — भाई! यह कार्मण शरीर स्वयं जड़ है; इसलिए वह चैतन्य में नहीं है।

प्रश्न — परन्तु ऐसा भी कहा जाता है न कि आत्मा आठ कर्मों सहित है ? आत्मा आठ कर्मों से बँधा हुआ है ?

उत्तर — भाई! यह सब तो व्यवहार है, निमित्त-नैमित्तिक संबंध का कथन है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध से कर्म है; तथापि वस्तु में नहीं है। कहते हैं कि '**.......नामक पाँच शरीरों के समूह का अभाव होने से आत्मा निःशरीर है।**'

प्रश्न — कब ? शरीर अलग पड़े तब न ? अभी तो नहीं न ?

उत्तर — तीनों काल। आत्मा तीनों काल निःशरीर है।

(२८) (निरालम्ब की व्याख्या) 'निश्चय से परमात्मा को परद्रव्य का अवलम्बन न होने से आत्मा निरालम्ब है।' यहाँ परमात्मा अर्थात् यह आत्मा; परन्तु अन्य भगवान या अन्य कोई नहीं। परमात्मा परम+आत्मा=उत्कृष्ट आत्मा; सम्पूर्ण स्वरूप; परम

www.vitragvani.com

स्वरूप। सो अपना त्रिकाली शुद्धस्वभाव जो कि परमस्वरूप है, उसको यहाँ परमात्मा कहते हैं। आशय यह है कि त्रिकाली शुद्धभाव को परमस्वरूपपरमात्मा कहा जाता है।

निश्चय से ऐसे परमात्मा को परद्रव्य का अवलम्बन नहीं होने से आत्मा निरालम्ब है। आत्मा को परद्रव्य का आधार और अवलम्बन नहीं है। लो, आत्मा को देव-शास्त्र-गुरु का अवलम्बन-आलम्बन भी अभी नहीं है — ऐसा कहते हैं। वस्तु को पर का अवलम्बन कैसा ? वस्तु में जहाँ विकल्प भी नहीं है, वहाँ विकल्प के निमित्तों का अवलम्बन कहाँ से आया ? अहा! मन्दिरादि तो उनके बनने के काल में बनते हैं। बाकी उनको बनावे कौन ? हाँ, उसके साथ उससमय जो राग होता है, उसको शुभ विकल्प कहा जाता है; तो भी वह विकल्प कोई स्वरूप में नहीं है।

प्रश्न — तब ऐसा विकल्प किसलिए करना ?

उत्तर — विकल्प को करे कौन ? वह तो आता है और जब विकल्प आता है तो ज्ञानी उसको जानता है। यहाँ कहते हैं कि परमात्मा को अर्थात् परमस्वरूप — ऐसे इस पर्यायरहित भगवान आत्मा को, जो कि ध्रुव, नित्य और त्रिकाली शुद्धभाव है, उसको परद्रव्य का अवलम्बन नहीं होने से वह निरालम्ब है। देखो, इस बोल में तो यह कहते हैं कि आत्मा को देव-शास्त्र-गुरु का अवलम्बन भी नहीं है।

प्रश्न — द्रव्य को देव-शास्त्र-गुरु का अवलम्बन नहीं है; परन्तु पर्याय को तो उनका आलम्बन है न ?

उत्तर - भाई! पर्याय को भी देव-शास्त्र-गुरु का आलम्बन नहीं है। जिसने निरालम्बन द्रव्य की दृष्टि की है, उसकी पर्याय को भी देव-शास्त्र-गुरु का आलम्बन नहीं है — ऐसी बात है। यद्यपि यहाँ तो वस्तु की बात करते हैं, तथापि वस्तु की दृष्टिवन्त को भी सब ऐसा ही है। (अर्थात् ज्ञानी भी निर्दण्ड, निर्द्वन्द्व आदि है।)

श्रोता — भूल निकल जाए तो कल्याण हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री — क्या भूल अपने-आप निकलेगी ? वह तो पुरुषार्थ करने से ही निकलेगी न ?

यहाँ कहा है कि भगवान आत्मा निरालम्ब है। उसको किसी परवस्तु का अथवा विकल्प का आलम्बन नहीं है — ऐसी वह चीज है। अहा! ध्रुवस्वभावी शुद्धभावमय वस्तु को किसी का अवलम्बन नहीं है; इसलिए वह निरालम्ब वस्तु है तथा ऐसी दृष्टि करनेवाली पर्याय को भी किसी का आलम्बन नहीं है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

प्रश्न — इन मूर्ति, मन्दिर आदि सबका आलम्बन तो है न ?

उत्तर — भाई! शुभभाव होता है तो वहाँ लक्ष जाता है। वरना वस्तु में तो वह विकल्प या मूर्ति इत्यादि नहीं है तथा वस्तु को उनका आलम्बन भी नहीं है; क्योंकि वस्तु निरालम्ब है।

इसप्रकार यह २८वाँ निरालम्ब का बोल हुआ।

(२९) (निराग की व्याख्या) 'मिथ्यात्व' — विपरीत मान्यता पर्याय में है; परन्तु वस्तु में नहीं है। **'वेद'** — स्त्री-पुरुष-नपुंसक की वासना पर्याय में है; परन्तु वस्तु में नहीं है; क्योंकि वस्तु तो वासनारहित, निर्मल, अखण्ड और परमब्रह्मस्वरूप है और उसको दृष्टि में लेने से सम्यग्दर्शन होता है। अब कहते हैं कि **'राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ'** — ये सब वस्तु में नहीं हैं। **'...नामक चौदह अभ्यंतर परिग्रहों का अभाव होने से आत्मा निराग है।'** राग संबंधी समस्त प्रकार (भेद) वस्तु में नहीं हैं और ऐसा त्रिकाली शुद्धभाव तीनोंकाल अत्यन्त निरागी-वीतरागी है।

अहा! आत्मा निराग है अर्थात् वह तो वीतरागता की मूर्ति है और ऐसे अरूपी, निरागी, चैतन्यघन आत्मा को 'वास्तविक आत्मा' अर्थात् शुद्धभाव कहा जाता है। उसकी शरण लेने पर, उसका आश्रय लेने पर प्रगट होनेवाली दशा को धर्म कहते हैं। अहा! आत्मा निराग-वीतराग है; क्योंकि यदि वह वीतराग न हो तो वीतराग पर्याय आयेगी कहाँ से ?

प्रश्न — द्रव्य में तो पर्याय नहीं है न ?

उत्तर — द्रव्य में (वर्तमान) पर्याय नहीं है, तो भी दूसरी सब (भूत और भविष्य की) पर्यायें द्रव्य में शक्तिरूप से हैं। शक्तिरूप से (भूत और भविष्य की) समस्त पर्यायें द्रव्य में हैं। निश्चय से द्रव्य, जो कि निराग है, वह निराग ही है और पर्याय में वीतरागता होती है, वह दूसरी अपेक्षा है; क्योंकि वह तो पर्याय अपेक्षा से वीतरागता होती है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा अत्यन्त वीतरागमूर्ति ही है। आत्मा अकषायस्वरूप ही है। भले ही क्षेत्र छोटा हो; तथापि उसके स्वभाव की अपरिमितता-बेहदता है, उसके स्वभाव की हद नहीं है — ऐसा वीतरागस्वभाव जिसमें परिपूर्ण पड़ा है, उस आत्मा के आश्रय

www.vitragvani.com

से वीतरागता होती है; परन्तु व्यवहार क्रियाकाण्ड के आश्रय से वीतरागता नहीं होती; क्योंकि वह तो राग है; इसलिए व्यवहार क्रियाकाण्ड के आश्रय से वीतरागता नहीं होती।

प्रश्न — व्यवहार क्रियाकाण्ड वीतरागता प्रगट करने में मदद तो करता है न ?

उत्तर — (यदि तुझे वीतरागता प्रगट करनी हो तो) वीतरागी आत्मा की मदद ले न! आत्मा जो कि वीतरागस्वभावी है, उसकी मदद ले न। बाकी जो यह अन्य वीतरागी भगवान हैं, वे भी तुझे कहाँ कुछ दे सकें — ऐसा है; क्योंकि उनके पास कहाँ तेरी वीतरागता है कि तुझे दे। वास्तव में तो आत्मा ही वीतरागदेव है। इसलिए अपना वीतरागस्वरूप है, उसकी सहायता (आश्रय) से ही वीतरागता प्रगट होती है; किन्तु अन्य वीतरागदेव की सहायता से वीतरागता प्रगट नहीं होती। अरे! वस्तु वह वस्तु है न! श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस शुद्धभाव अधिकार में अन्य सब निकालकर अकेला वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा ही बताया है।

अहा! जो अकषायस्वरूप-अकषायस्वभावमय भाव है, वही निश्चय से जीव है; वास्तव में आत्मा है।

प्रश्न — वीतराग प्रतिमा के दर्शन करने का हेतु क्या है ?

उत्तर — शुभभाव; परन्तु धर्म नहीं तथा वीतराग प्रतिमा के दर्शन करना भी शुभभाव है; परन्तु वह धर्म नहीं है। अहा! यह बात अलग है।

प्रश्न — तो फिर दर्शन करना या नहीं करना ?

उत्तर — कौन कहता है कि दर्शन करना या नहीं करना ? वह तो वैसा शुभभाव होता है और तब वैसी क्रिया भी होती है; तथापि वह है हेय। वह पर-चीज (देव-शास्त्र-गुरु) आत्मा को धर्म का/सम्यग्दर्शन का कारण बिलकुल नहीं है; क्योंकि देखो न! यहाँ आत्मा को निरालम्ब कहा है न! यह ऐसा अद्भुत मार्ग है। अरे! देव-शास्त्र-गुरु तो धर्म का कारण नहीं; परन्तु उनकी श्रद्धा का राग भी आत्मा को सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। भाई! ऐसी बहुत अद्भुत बात है।

श्रोता — दूसरा कोई ऐसा नहीं कह सकता ?

पूज्य गुरुदेवश्री — परन्तु शास्त्र में यह बात है या नहीं ?

www.vitragvani.com

देखो, शास्त्र में यह लिखा है या नहीं ? और जब शास्त्र में ही ऐसा लिखा है, वहाँ उसका अर्थ करनेवाला दूसरा (अन्य) क्या कहेगा ? अहा! अनन्त तीर्थंकरों-अनन्त संतों-मुनियों और अनन्त समकिती यही बात कहते आये हैं कि सिद्ध और पंचपरमेष्ठी के आश्रय से भी तुझको समकित नहीं होगा; क्योंकि वे परद्रव्य हैं और परद्रव्य के आश्रय से तो विकल्प ही होता है। हाँ, वे निमित्तरूप होते हैं — यह अलग बात है; परन्तु उनसे धर्म होता है — ऐसा बिलकुल/किंचित्मात्र नहीं है।

***प्रश्न* —** तो फिर ऐसी (मन्दिर बनाना, प्रतिमा स्थापित करना इत्यादि) सब धमाल किसकी है ?

***उत्तर* —** अरे! साक्षात् तीनलोक के नाथ वीतरागदेव भी जहाँ समकित का कारण नहीं है, वहाँ मूर्ति और मन्दिर की तो बात ही क्या करना; तथापि व्यवहार-शुभभाव होता है तथा उस व्यवहार का आलम्बन वह पर-चीज है — ऐसा भी कहा जाता है। आशय यह है कि जब शुभभाव आता है, तब ये देव-शास्त्र-गुरु आदि निमित्तरूप से होते हैं — यह बात सत्य है; परन्तु उनसे आत्मा को सम्यग्दर्शन होता है, यह बात मिथ्या है। संत ऐसा कहते हैं कि गिरनार पर्वत पर भगवान, आचार्य आदि पधारे थे; इसलिए गिरनार पर्वत मुनियों को भी पूज्य है - ऐसा स्तुति में आता है या नहीं ? इसका अर्थ यह है कि उससमय वैसा शुभभाव होता है; इसलिए गिरनार पर्वत पूज्य है — ऐसा कहा जाता है। वरना निश्चय से तो भगवान आत्मा स्वयं ही गिरनार और शत्रुंजय है तथा पूज्य है। ऐसा है भाई! भारी काम बापा! अहा! ऐसा मार्ग है।

अहा! अन्दर की नजर द्वारा नजर में आवे — ऐसा यह भगवान आत्मा ही शरण है। बाकी बाहर की नजर से नजर आनेवाले पर भगवान भी शरण नहीं हैं।

(३०) (निर्दोष की व्याख्या) अब निर्दोष की व्याख्या करते हैं। कहते हैं कि आत्मा कैसा है ? निर्दोष है। भगवान आत्मा जो कि शुद्ध चैतन्यघन और शुद्धभावरूप ध्रुव है, वह **'निश्चय से समस्त पापमलकलंकरूपी कीचड़ को धो डालने में समर्थ'** — यहाँ पाप शब्द से पुण्य और पाप दोनों की बात है। पुण्य और पाप दोनों भाव पाप हैं। उस पापमलकलंकरूपी कीचड़ को धो डालने में समर्थ, **'सहज परमवीतराग सुखसमुद्र में मगन'** यह वस्तु की बात है। (अर्थात् वस्तु त्रिकाली आत्मा सुखसमुद्र में मगन है — ऐसा कहते हैं; इसलिए यह पर्याय की बात नहीं है, अपितु त्रिकाली

द्रव्य की बात है।) आत्मतत्त्व तो स्वाभाविक-परमवीतराग-सुखसमुद्र में डूबा हुआ है। '**प्रगट सहजावस्थास्वरूप.......**' यह त्रिकाली द्रव्य की बात है, अवस्था की बात नहीं है। प्रगट=ध्रुव; सहज=स्वाभाविक; अवस्था=अव+स्था=निश्चय स्थान। तो ध्रुव, स्वाभाविक और निश्चय स्थानस्वरूप '**जो सहजज्ञान शरीर....**' — ऐसा जो सहजज्ञानस्वरूप है अर्थात् त्रिकाल ज्ञानमूर्ति और अरूपीघन — ऐसा जो सहजज्ञानस्वरूप है, '**उसके द्वारा पवित्र होने से आत्मा निर्दोष है।**' ऐसी पवित्रता के कारण आत्मा निर्दोष है।

अहा! आत्मा तीनों काल निर्दोष वस्तु है; क्योंकि दोषादि तो पर्याय में हैं। यद्यपि पर्याय में दोष है; पर्याय दोषवाली है, यह व्यवहार से सत्य है; परन्तु त्रिकाली आत्मा की अपेक्षा से यह असत्य-झूठ है; इसलिए भगवान आत्मा त्रिकाल निर्दोष है; क्योंकि यदि भगवान आत्मा त्रिकाल निर्दोष न हो तो निर्दोषता आएगी कहाँ से ? क्या राग में से निर्दोषता आती है ? (नहीं, क्योंकि दोष में से निर्दोषता कैसे आएगी ?) तथा क्या राग का अभाव होता है, उसमें से निर्दोषता आती है ? नहीं, क्योंकि जो अभावरूप होता है, उसमें से निर्दोषता कैसे आएगी ? इसलिए आत्मा निर्दोषस्वरूप है (और उसमें से निर्दोषता आती है)। त्रिकाल पवित्रता का पिण्ड होने के कारण आत्मा निर्दोष है, आत्मस्वरूप निर्दोष है। अरे! इसने अपनी महिमा को कभी सुना नहीं है अर्थात् क्या ? कि मेरी महत्ता मेरे से प्रगट होती है — ऐसा न मानकर, कुछ दूसरा चाहिए (किसी दूसरे की मदद चाहिए) — ऐसा इसने माना है; इसलिए इसका अर्थ यह हुआ कि इसने अपनी महत्ता की बात सुनी नहीं है। परन्तु भाई! अपनी महत्ता प्रगटाने में परद्रव्य की मदद हो तो प्रगटे — ऐसा वस्तु का स्वभाव ही नहीं है। तो भी अरे! यह बात इसको नहीं रुचती और यह परद्रव्य हो, यह हो तो मेरी महत्ता प्रगट होती है — ऐसा यह मानता है। ऐसी चीज है। अहा! वस्तु तो यह है।

यहाँ कहा है कि भगवान आत्मा निर्दोष है।

भगवान आत्मा माने कौन ?

एकसमय की पर्यायरहित तत्त्व अर्थात् अपना आत्मा। ध्रुव...ध्रुव नित्य और शुद्धभाव ऐसा यह आत्मा भगवान है और वह निर्दोष है।

(३१) (निर्मूढ़ की व्याख्या) अब आत्मा निर्मूढ़ है, यह बात करते हैं। '**सहज निश्चयनय से**' स्वाभाविक निश्चयनय के विषय को देखें तो '**सहजज्ञान**' स्वाभाविक

www.vitragvani.com

ज्ञान अर्थात् प्रगट पर्याय नहीं, किन्तु त्रिकाल ज्ञानस्वभाव, '**सहजदर्शन**' त्रिकाल दर्शन स्वभाव, '**सहजचारित्र**' सहज वीतरागस्वभाव अर्थात् आत्मा का त्रिकाली चारित्रस्वभाव, जो कि आत्मा में त्रिकाल विद्यमान है वह, '**सहजपरमवीतराग सुख**' आत्मा में जो स्वाभाविक परमवीतराग आनन्द है वह, मतलब कि अमृतसागर भगवान आत्मा तो वीतरागसुख की मूर्ति है; जबकि यह रागवाला सुख/सुख की कल्पना तो जहर है।

अहा! दो-पाँच करोड़ रुपयों की पूँजी हो, उसमें इकलौता लड़का हो, उसका विवाह होता हो, उसमें फिर पाँच-पच्चीस लाख रुपये खर्च होना हो और विवाह में एक-दो हाथी लाये गये हों तो वह (अज्ञानी) मानता है कि अहाहा.....! मुझे सुख है। उसको ऐसा लगता है कि अहो! अहा!! परन्तु भाई! यह सुख की कल्पना तो जहर है। पर में सुख की जो यह कल्पना है, वह वीतरागपर्याय को उत्पन्न नहीं होने देती, क्योंकि किसी भी पर-चीज में कुछ भी सुख की कल्पना हो, वह सब मिथ्यात्वरूपी भ्रमभाव है।

देखो, यहाँ कैसी भाषा प्रयोग में ली है कि '**सहजपरमवीतराग सुख**' आत्मा वीतराग सुख का सागर है; क्योंकि आत्मा वस्तु है न! और सुख, वह तो आत्मा का स्वभाव है न! तथा वह सुख त्रिकाल है अर्थात् वह अन-उत्पन्न और अविनाशी है। इसप्रकार आत्मा वीतराग आनन्दमय है। तो '**सहज परमवीतराग सुख आदि अनेक परमधर्मों का आधारभूत**' अनेक परमस्वभावों का आधारभूत '**निजपरमतत्त्व को जानने में समर्थ होने से**' अपना त्रिकाली परमतत्त्व है, उसको जानने में समर्थ होने से '**आत्मा निर्मूढ़ है।**' त्रिकाली आत्मा निर्मूढ़ है। त्रिकाली आत्मा को जानने के लिए समर्थ होने से त्रिकाली आत्मा निर्मूढ़ ही है।

'**अथवा.....**' त्रिकाली आत्मा तो निर्मूढ़ है ही; क्योंकि त्रिकाली वस्तु को जानने में आत्मा शक्तिवंत है; परन्तु अब वर्तमान पर्याय की/केवलज्ञान की बात करते हैं। '**अथवा सादि-अनन्त.....**' जब से केवलज्ञान प्रगट होता है, तब से उसकी आदि है। पूर्णानन्द के साथ प्रगट हुए केवलज्ञान की आदि है, शुरूआत है; क्योंकि वह पर्याय है न! पर्याय की आदि होती है, जबकि त्रिकाली द्रव्य-गुण का आदि-अन्त नहीं होता। सो केवलज्ञान पर्याय सादि है, उसकी शुरूआत हुई है, तो भी वह अनन्त है, अब उसका कभी नाश नहीं होगा। '**अमूर्त**' आत्मा की प्रगटदशा जो केवलज्ञान पर्याय है, वह अमूर्त है। यह प्रगटदशा की बात चलती है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

'**अतीन्द्रियस्वभाववाले....**' केवलज्ञान अतीन्द्रियस्वभाववाला है, उसका अतीन्द्रिय स्वभाव है। केवलज्ञान को किसी इन्द्रिय का निमित्त अथवा अवलम्बन नहीं है; इसलिए उसका अतीन्द्रियस्वभाव है। यह केवलज्ञान अतीन्द्रियस्वभावी है — ऐसा कहते हैं। अहा! वस्तु/आत्मा तो अतीन्द्रियस्वभावी है ही; परन्तु यह केवलज्ञान की पर्याय भी अतीन्द्रियस्वभावी है — ऐसा कहते हैं। अब कहते हैं कि '**शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से.....**' शुद्ध=केवलज्ञान पर्याय शुद्ध है; इसलिए शुद्ध; सद्भूत=केवलज्ञान आत्मा की पर्याय है तथा आत्मा में है; इसलिए सद्भूत और व्यवहार=केवलज्ञान की पर्याय भेद है, इसलिए व्यवहार; तो शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से '**तीनकाल और तीनलोक के स्थावर-जंगमस्वरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एकसमय में जानने में समर्थ सकल-विमल (सर्वथा-निर्मल) केवलज्ञानरूप से अवस्थित होने से आत्मा निर्मूढ़ है।**' स्थावर=स्थिर और जंगम=गति करनेवाले। अपनी दशा ऐसे केवलज्ञानरूप से अवस्थित होने से आत्मा निर्मूढ़ है। इसप्रकार त्रिकाली (द्रव्य की अपेक्षा से भी) आत्मा निर्मूढ़ है और केवलज्ञान पर्याय की अपेक्षा से भी निर्मूढ़ है।

अहा! केवलज्ञान तीनकाल-तीनलोक के स्थावर-जंगमस्वरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एकसमय में जानता है। 'क' बोलने में असंख्य समय होते हैं। उसके एक समय में तीनकाल और तीनलोक को जाने — ऐसी आत्मा की पर्याय की ताकत है और उससे (तीनकाल-तीनलोक से भी) अनन्तगुना जानने का हो तो भी जान सकता है — ऐसी केवलज्ञान की ताकत है। (आत्मा ऐसे केवलज्ञानस्वरूप है।) सो ऐसा आत्मा जिसकी दृष्टि में बैठता है और जिसे आत्मा की ऐसी दौलत नजर में दिखती है, वह तो निहाल हो गया। बाकी इस धूल की दौलत के दिखने में तो कुछ भी नहीं है। इससे तो वह हैरान-हैरान होगा; तथापि अज्ञानी मरते-मरते भी 'इसका ऐसा करना और उसका वैसा करना' इत्यादि कहता जाता है; परन्तु भाई! अब तो यह सब रहने दे न! अब तेरा काम कर न! तुझे कहीं अन्यत्र जाना है, वहाँ यह क्या लगा रखा है!

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा निर्मूढ़ है। इसके दो अर्थ किये — (१) अपने त्रिकाली स्वरूप को जो कि अनन्त (सहज) ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि धर्मों का आधारभूत वस्तु है, उसको जानने में त्रिकाली आत्मा समर्थ है; इसलिए त्रिकाली आत्मा निर्मूढ़ है, और

www.vitragvani.com

(२) जो प्रगट अवस्थारूप (केवलज्ञान की) पर्याय है, वह तीनकाल और तीनलोक के समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय को एकसमय में जानने में समर्थ है (और उसरूप आत्मा अवस्थित है।) इसलिए आत्मा निर्मूढ़ है। आशय यह है कि आत्मा को कुछ जानना बाकी नहीं है, इसलिए निर्मूढ़ है।

कितने ही (अज्ञानी) कहते हैं कि केवलज्ञान ने आत्मा को अनादि जाना है; परन्तु उसकी आदि क्यों नहीं जानी ? तथा केवलज्ञान ने/भगवान ने मेरी अन्तिम पर्याय कौन-सी है, वह जानी है ? भाई! यदि तेरी अन्तिम पर्याय है, तो क्या उसके बाद तू/द्रव्य नहीं रहेगा ? अहा! अज्ञानी को तत्त्व की, अरे! एक भी तत्त्व की खबर नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि केवलज्ञान तीनकाल के और तीनलोक के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एकसमय में जानता है।

प्रश्न — परन्तु एकसमय में सब जाना, इसलिए (पर्याय का) अन्त तो आ गया या नहीं ? समस्त जाना तो अन्तिम पर्याय को भी जाना या नहीं ? समस्त पर्यायें जानने में आईं, इसलिए तो पहली पर्याय भी जानने में आ गई न ? और अन्तिम पर्याय भी जानने में आ गई ?

उत्तर - भाई! अन्तिम पर्याय कैसी और पहली पर्याय कैसी ? वह तो जो है, वह है, ऐसे की ऐसे है.......है...और है। बस, उसकी आदि और अन्त नहीं है। अहा..! जैनदर्शन का कोई भी भाव पकड़ना सूक्ष्म है। यहाँ भी यही कहा है न कि 'समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एकसमय में जानने में समर्थ' अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य की समस्त पर्यायों को केवलज्ञान एकसमय में जानता है।

तो ज्ञान में समस्त पर्यायें आ गयीं न ? क्या ज्ञान में समस्त पर्यायें नहीं आईं ?

(हाँ,) समस्त पर्यायें ज्ञान में आई हैं; परन्तु वे पर्यायें किसप्रकार जानने में आई हैं ? कि पर्यायें अनादिकाल से होती आती हैं और अनन्त.....अनन्त....अनन्तकाल तक होती रहेंगी। इसप्रकार ज्ञान में आया है। अहा! अभी तो ज्ञान की पर्याय इतनी (सामर्थ्यवान) है, इसका भी जिसको पता नहीं हो, उसको आत्मा की श्रद्धा और आत्मा का ज्ञान तो होगा ही कहाँ से ?

अरे! अभी तो इस केवलज्ञान के संबंध में बहुत गड़बड़ चलती है। कोई तो कहता है कि केवलज्ञान, भविष्य को तो वह हो, तब जानता है और कोई कहता है कि

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

केवलज्ञान भविष्य को वर्तमान पर्यायपूर्वक जानता है और कोई ऐसा कहता है कि केवलज्ञान जो जानता है, वह तो ठीक जानता है; परन्तु श्रुतज्ञानी केवलज्ञानी की तरह नहीं जानता। इसप्रकार यहाँ से केवलज्ञान की व्याख्या परिस्पष्ट होने के बाद ऐसे कितने ही तर्क निकले हैं। बापू! केवलज्ञान तो तेरा स्वरूप है। भाई! तेरा अकेला ज्ञानस्वभाव है, तो जहाँ ऐसी पूर्णदशा प्रगट हुई, वहाँ अब केवली को क्या जानना बाकी रहा ?

अहा! जो ज्ञान सामर्थ्य है, वह तो द्रव्य में है, यह उसकी बात नहीं है; अपितु यह तो केवलज्ञान की प्रगट पर्याय की बात है, जो पर्याय प्रगट होती है, उसकी बात है अर्थात् यह केवलज्ञान की बात है, शुद्धभाव (त्रिकालीद्रव्य) की नहीं; क्योंकि शुद्धभाव की बात तो पहले हो गई है, जबकि यहाँ तो प्रगट पर्याय ऐसी है — यह कहते हैं; इसलिए यह प्रगट पर्याय की बात है। देखो, यहाँ यही कहा है न कि 'शुद्धसद्भूत व्यवहारनय से........' अर्थात् यह शुद्धसद्भूत व्यवहारनय की बात है; तो व्यवहारनय से किसकी बात कही जाती है ? वर्तमान पर्याय की बात कही जाती है। क्या त्रिकाली द्रव्य की बात व्यवहारनय से कही जाती है ? उसकी बात व्यवहारनय से होती ही नहीं; परन्तु व्यवहारनय से प्रगट पर्याय को कहा जाता है; इसीलिए तो पहले शुद्धसद्भूत व्यवहारनय का अर्थ कहा है कि शुद्ध=केवलज्ञान पवित्र है; सद्भूत=केवलज्ञान अपने में है और व्यवहार=केवलज्ञान भेदरूप है — ऐसे केवलज्ञान ने तीनकाल-तीनलोक को जाना है — ऐसा यहाँ कहा है। इसकारण यह शक्तिमय द्रव्य की बात नहीं है। उसकी बात तो पहले आ गई है।

अहा! केवलज्ञान कि जिसके (ज्ञानरूपी) लोचन खिल गये हैं, जिसकी आँखें खिल गई हैं, वह एकसमय में सब जानता है; तो जहाँ आत्मा की पर्याय भी इतनी शक्तिवाली है, वहाँ उसके द्रव्य और गुण की तो क्या बात करना ? और जो ऐसे आत्मा को आत्मारूप से जाने और माने, तब उसने आत्मा जाना और माना कहलाता है, वरना तो उसने आत्मा ही जाना और माना नहीं है।

(३२) (निर्भय की व्याख्या) 'समस्त पापरूपी शत्रुओं की सेना जिसमें प्रवेश नहीं कर सकती........' लो, भगवान आत्मा ध्रुव किला है — ऐसा कहते हैं। अहा...! एकसमय की पर्यायरहित जो नित्य आनन्दरसकन्दमय सम्पूर्ण तत्त्व है-निज आनन्दरस-कन्दमय जो ध्रुवतत्त्व-सत्त्व है, उसमें 'समस्त पापरूपी' अर्थात् मिथ्यात्व-राग-द्वेषादिरूपी

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

शूरवीर शत्रुओं की सेना प्रवेश नहीं कर सकती। इस ध्रुवरूपी किला में उसका प्रवेश नहीं है और '**ऐसे निज शुद्ध अन्तःतत्त्वरूपी महादुर्ग में (किले में)...**' निज=अपने; शुद्ध=पवित्र; अन्तःतत्त्वरूप=त्रिकाली सत्‌रूप; महादुर्ग=विशाल किला में '**वसता होने से आत्मा निर्भय है।**' आत्मा त्रिकाल निर्भय है। देखा, आत्मा मजबूत किले में रहता है, इसकारण उसको किसी का उपद्रव नहीं है — ऐसा कहते हैं।

अहा....! भगवान आत्मा तो ऐसे ध्रुव किले में रहता है कि जिसमें शत्रु का प्रवेश नहीं है; इसलिए यह कहते हैं कि यह भगवान आत्मा ध्रुव किला है और वह ऐसा किला है कि जिसमें मिथ्यात्वादि का प्रवेश नहीं हो सकता।

***प्रश्न* —** आत्मा किले में वसता है, इसलिए तो उसकी प्राप्ति शीघ्र नहीं होती ?

***उत्तर* —** यह बात कहाँ की ? यहाँ तो यह कहना है कि उस ध्रुव किले में अन्य का प्रवेश नहीं है अर्थात् ध्रुव आत्मा में अन्य कोई चीज नहीं है; क्योंकि वह महा किले में पड़ा है न! और वह प्राप्त हो सकता है। यहाँ (मूल) तो यह कहना है कि नित्य प्रभु आत्मा राग-द्वेषरहित चीज है। यह तो ठीक; परन्तु उसमें एकसमय की जो प्रगट पर्याय है, वह भी नहीं है। अरे! ऐसी की ऐसी रहनेवाली चीज में जहाँ पर्याय का प्रवेश भी नहीं है तो फिर ऐसे (मिथ्यात्वादि) शत्रुओं का प्रवेश तो होगा ही कैसे ? अहा! आत्मा का एक वर्णन तो देखो! (देखो न! आत्मा का कैसा वर्णन किया है।) अरे! इसने अपनी जाति को (स्वरूप की बात को) भी सुना नहीं है।

जैसे अच्छे घर की कन्या को ससुराल भेजना हो तो पहरावणी (वस्त्र व उपहारादि) बिछाकर......सबको दिखाते हैं न! इसीप्रकार यहाँ आत्मा को मोक्ष में पधराने के लिए भगवान तेरी कीमत (महिमा) ऐसी है — यह बतलाते हैं। इस शास्त्र में (आत्मा की बात करके) हेतु तो मोक्षप्राप्ति का है न ? या मात्र बात करने का ही हेतु है ? (मोक्षप्राप्ति का हेतु है।) इसलिए कहते हैं कि भगवान! तुझमें इतनी-इतनी कीमत भरी है-तेरी इतनी अधिक कीमत/महिमा है कि तेरा मूल्यांकन ही नहीं हो सकता है। श्रीमद्‌राजचन्द्रजी की 'मोक्षमाला' में वाणी की बात आती है न कि —

'अनन्त अनन्त भाव भेद से भरेली वाणी,
अनन्त अनन्त नय निक्षेपे व्याख्यानी है;

www.vitragvani.com

सकल जगत हितकारिणी हारिणी मोह,
तारिणी भवाब्धि, मोक्षचारिणी प्रमाणी है;
उपमा आप्यानी जेने तमा राखवी ते व्यर्थ,
आपवाथी निज मति मपाई में मानी छे;
अहो! 'राजचन्द्र,' 'बाल ख्याल नहीं पामता जो,
जिनेश्वर तणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे।'

(शिक्षापाठ १०७, जिनेश्वर की वाणी)

वीतराग की वाणी का माप करने जाए तो उसकी स्वयं की बुद्धि मप जाती है; क्योंकि वह वस्तु (वाणी) अमाप है; तो फिर आत्मा के स्वभाव की तो बात ही क्या करना ?

यहाँ यह कहना है कि आत्मा महादुर्ग में-किले में वसता होने से उसको कोई विघ्न नहीं है; परन्तु वह किले में वसता होने से ज्ञान अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता — ऐसा नहीं कहना है। बस, मात्र तेरे नजर करने की देर है। बाकी अन्दर तो शुद्धात्मा ऐसा का ऐसा रहा हुआ है। 'मेरी नजर के आड़ से रे मैं निरख्या न नयने हरि' — 'हरि' अर्थात् स्वयं भगवान आत्मा। आत्मा तो हरि ही है। 'पापम् ओघम् हरति इति हरि' पुण्य-पापरूपी संसार के झंझट का नाश करनेवाला ऐसा यह भगवान आत्मा स्वयं 'हरि' है। पापम् ओघम्=पुण्य-पाप का ढेर और उसका नाश करने के लिए भगवान आत्मा 'हरि' है। पंचाध्यायी (गाथा ६१०) में भी आत्मा को हरि कहा है न! महा हरि तो स्वयं आत्मा है। बाकी दूसरा कौन-सा हरि है ? दूसरा हरि हो तो वह उसके पास रहा। इसप्रकार आत्मा निर्भय है — ऐसा कहते हैं।

'ऐसा यह आत्मा वास्तव में उपादेय है।' देखो, यह आया की आत्मा आदरणीय है अर्थात् यह कहते हैं कि उसके अन्दर जाने में कोई विघ्न नहीं है। अहा! 'ऐसा यह आत्मा', जो सर्वप्रकार से ऊपर कहा वैसा यह आत्मा 'वास्तव में उपादेय है। यदि कोई आदरणीय हो तो वह आत्मा है; परन्तु अरे! इसने ऐसे आत्मा की बात भी नहीं सुनी है। यदि नया गहना आया हो तो उसको देखने के लिए समस्त परिजन एकत्रित होते हैं; परन्तु अरे! इस चैतन्य हीरा को देखने के लिए तू निवृत्त नहीं हुआ! तुझको फुरसत भी नहीं मिली!

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

यहाँ यह कहा है कि ऐसी निर्भय वस्तु पड़ी है, वह तेरे देखने के लिए (आश्रय के लिए) उपादेय है अर्थात् वह जाननेयोग्य है, नजर करनेयोग्य है; आदरणीय है और वास्तव में उपादेय है।

(इसीप्रकार योगीन्दुदेव कृत अमृताशीति में कहा है कि –) अन्दर ध्रुव भगवान आत्मा कैसा है ? कि '**आत्मतत्त्व स्वरसमूह**' रहित है। स्वर=अ, आ, इ....इत्यादि। यह स्वरसमूह आत्मा में नहीं है। अ, आ इत्यादि जो आवाज उठती है, वह आत्मा में कहाँ है ? क्या वह आत्मा में है ? (नहीं।) वह तो जड़ में है, जड़ की पर्याय है, इसलिए आत्मा में अ, आ आदि स्वरसमूह नहीं है। '**विसर्ग**' – दो बिन्दु (:) होते हैं, वे भी आत्मा में नहीं हैं। '**और व्यंजनादि अक्षरों रहित.....**' व्यंजन=क, ख, ग इत्यादि। वे भी आत्मा में नहीं हैं। आत्मा तो आनन्दघन चैतन्यमूर्ति है; जबकि यह अक्षरावली तो जड़ की है; इसलिए आत्मा में क, ख, ग आदि व्यंजन नहीं है। आत्मा व्यंजनादि अक्षरों से रहित है। यद्यपि आत्मा है तो अक्षर (नाश न हो ऐसा) तथापि इन (जड़) अक्षरों रहित है।

'**तथा संख्यारहित है।**' एक, दो, तीन, चार ऐसी संख्या आत्मा में नहीं है। कारण कि संख्या तो जड़ की पर्याय है। भगवान! ये सब (स्वर, व्यंजन, विसर्ग और संख्या) तो जड़ की पर्यायें हैं; इसलिए चैतन्यामृत के सागर ऐसे अरूपी प्रभु आत्मा में ये सब नही हैं। अरे! अज्ञानी तो जहाँ स्पष्ट बोलना आवे, वहाँ अहो...हो....ऐसा आश्चर्य हो जाता है; परन्तु भाई! यह तो जड़ की पर्याय है। वह आत्मा में कहाँ है ? **(अर्थात् अक्षर और अंक का आत्मतत्त्व में प्रवेश नहीं है।)** स्वरसमूह, विसर्ग और व्यंजनादि — इन सबको इकट्ठे करके अक्षर कहा और संख्या को अंक कहा; तो अक्षर और अंक का आत्मतत्त्व में प्रवेश नहीं है।

आत्मतत्त्व '**अहित रहित है।**' राग, द्वेष और अज्ञान, जो कि अहित है, जो होते तो उसकी पर्याय में हैं; परन्तु वस्तु में (त्रिकाली द्रव्य में) अहित कैसा ? और वस्तु हितस्वरूप है, तो हितपना पर्याय में प्रगट होता है।

'**शाश्वत है।**' भगवान आत्मा ऐसा का ऐसा रहता होने से शाश्वत है। वह अनादि का है और अनन्तकाल तक ऐसा का ऐसा रहेगा।

यह आत्मतत्त्व '**अंधकार तथा स्पर्श, रस, गंध और रूपरहित है।**' आत्मतत्त्व में

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अंधकार नहीं है। कारण कि आत्मतत्त्व तो चैतन्यप्रकाश के नूर का पूर है। अरे! देखनेयोग्य को देखा नहीं है और जो देखनेयोग्य नहीं है, उसको (अनादि से) देखा है।

'पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के अणुओं रहित है।' आत्मतत्त्व पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के परमाणुरहित है। आत्मतत्त्व तो अरूपीघन है; इसलिए उसमें ऐसे (पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के) रजकण नहीं हैं।

'तथा स्थूल, दिक्‌चक (दिशाओं के समूह) रहित है।' पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण — ऐसी दिशाएँ होती हैं न ? तो वे आत्मा में नहीं हैं। भाई! इसमें व्यवहार के बहुत अधिक प्रकार खताये (दर्शाये) हैं अर्थात् कहना यह है कि ऐसा व्यवहार होता है तथा बहुत प्रकार कहकर, भिन्न-भिन्न रीति के व्यवहार का स्वरूप भी बतलाया है; तथापि जितने व्यवहार के प्रकार वर्णित हैं, वे सब आत्मतत्त्व में नहीं हैं।

कलश ६२ पर प्रवचन

अहा...! ऐसा भगवान आत्मा.....ऐसा भगवान आत्मा.....ऐसा भगवान आत्मा — ऐसा कहकर यह भगवान आत्मा की भागवत कथा बंच रही है। बापू! तू कैसा, कहाँ, कैसे और किसप्रकार है ? उसकी तुझे-तेरी तुझे खबर नहीं है; तथापि तूने अन्य की (दूसरों के विषय में) चतुराई की है।

'जो (समयसार)' प्रभु भगवान आत्मा **'दुष्ट पापों के वन को छेदने का कुठार है।'** दुष्ट ऐसे पुण्य और पाप का विशाल वन उगा है। आत्मा उसको छेदने का कुठार है अर्थात् आत्मा में पुण्य और पाप नहीं है और इसीलिए आत्मा का आश्रय लेने पर इन पुण्य और पाप का नाश हुए बिना नहीं रहता — ऐसा कहते हैं। यह बात ३८वीं गाथा में ५४ वें कलश में भी आई थी कि 'जो पापरूपी वृक्ष को छेदनेवाला कुठार है।'

'जो दुष्ट कर्मों के पार को प्राप्त हुआ है (अर्थात् जिसने कर्मों का अन्त किया है।' यानी कि आत्मा में कर्म नहीं है। वस्तु में कर्म कैसे ? क्योंकि आत्मा तो सत्....सत्....सत्स्वभावी भगवानस्वरूप है और इसलिए जो आत्मा का आश्रय लेता है, उसको भी (संयोगरूप) कर्म नहीं रहते। अहा....! आत्मा में तो कर्म नहीं; परन्तु जो उसका आश्रय लेता है, उसके भी अब कर्म नहीं रहते-कर्मों का अन्त आ जाता है। वस्तु में कर्म नहीं है; इसलिए उसका आश्रय लेनेवाले के भी कर्मों का अन्त हो जाता है — ऐसा कहते हैं।

www.vitragvani.com

'जो परपरिणति से दूर है।' राग-द्वेष की परिणति से तथा पर्यायरूप परिणति से भी यह वस्तु तो दूर है। पहले भी ३८वीं गाथा के ५४वें कलश में समयसार नाश होनेयोग्य भावों से दूर है — ऐसा आ गया है न! देखो, वहाँ भी यह कहा था कि 'जो समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है।' भावों=पर्यायों। कहते हैं कि यह चीज नष्ट होने योग्य समस्त पर्यायों से दूर है और इसलिए पर्याय बदलती है तो भी यह चीज (त्रिकाली द्रव्य) नहीं बदलती; अपितु यह तो तीनों काल ऐसी की ऐसी रहती है। अरे! इसकी नजर तो करे! इसको ध्येय तो बनावे! कारण कि इस जीव को दृष्टि में लेनेयोग्य तो यही चीज है।

'जिसने रागरूपी समुद्र के पूर को नष्ट किया है।' रागरूपी समुद्र का पूर=राग के अनेकप्रकार; रागरूप अनेकप्रकार के विकल्प। जो रागरूपी समुद्र का पूर है, उसको आत्मा ने नष्ट किया है अर्थात् भगवान आत्मा के स्वभाव में रागरूपी समुद्र का पूर नहीं है और इसलिए जो उसका आश्रय लेता है, उसको भी रागरूपी समुद्र का पूर नष्ट हुए बिना नहीं रहता।

अहा...! अज्ञानी तो कहता है कि यह व्याख्यान तो बहुत भारी/कठिन है! हमने तो एकेन्द्रियादिक की दया पालना और भगवान के दर्शन करना इत्यादि सुना था तथा नवदेव नहीं कहे ? जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा, जिनवाणी, जिनधर्म और पंचपरमेष्ठी — ये सब नवदेव हैं। भाई! यह सब तो व्यवहारदेव हैं। अहा! सामान्य लोगों के लिए बहुत कठिन काम है।

एक पण्डित ने मुमुक्षु श्रेष्ठी से कहा कि अहा! सेठ! तुमने ऐसा मन्दिर बनाया है, तो तुम्हारा आठ भव में मोक्ष हो जाएगा। उस श्रेष्ठी ने कहा कि हमारे महाराज (पूज्य गुरुदेवश्री) ऐसा नहीं कहते कि तुमने मन्दिर बनाया है, इसलिए आठ भव में मोक्ष जाओगे और हम भी ऐसा नहीं मानते। भाई! मन्दिर बनाने का भाव शुभभाव है, राग की मन्दता है। बस, इतनी बात है तथा एक व्यक्ति कहता है कि जो सम्मेदशिखर की वंदना करता है, वह अधिक से अधिक उनपचास भव में मोक्ष जाता है — ऐसा 'सम्मेदशिखर माहात्म्य' पुस्तक मेरे पास है। हमने उससे कहा कि यह वीतराग की वाणी नहीं है। पर के दर्शन से भव का अभाव कहनेवाली वाणी वीतराग की नहीं है। कारण कि आत्मा के आश्रय बिना तीनकाल और तीनलोक में भी कभी भव का नाश नहीं होता।

www.vitragvani.com

'एक बार वंदे जो कोई, ताको नरक-पशुगति नहीं होई' — ऐसा आता है न ?

भले ही वह अभी मनुष्य या देवगति में जाए, नरक-पशुगति में फिर जाएगा। 'नरक-पशुगति न होई' — ऐसा है न ? यानी कि वह मनुष्य और देव तो होगा न ? तो फिर वहाँ से मरकर फिर से नरक-पशुगति में जाएगा।

वह मनुष्य या देवगति में से मोक्ष में नहीं जाएगा ? धूल भी नहीं जाएगा। यह तो जिसने आत्मा का दर्शन किया है-आत्मा का आश्रय लिया है, उसका ही मोक्ष होता है। वरना तो सम्मेदशिखर का अथवा समवशरण में साक्षात् विराजमान भगवान का आश्रय लें तो भी मोक्ष नहीं होता। समवशरण में साक्षात् विराजमान भगवान की मणि-रत्न के दीपक और कल्पवृक्षों के पुष्पों से अनन्तबार पूजा की है। 'परमात्मप्रकाश' में तो कहा है कि 'भव-भव में जिनवर पूजियो' अर्थात् भव-भव में अनन्तबार जिनवर की पूजा की है; परन्तु वह तो शुभभाव है; वह कहीं अधर्म के नाश का कारण नहीं है तथा धर्म की उत्पत्ति का कारण भी नहीं है।

श्रोता — बहुत जोरदार कहा!

पूज्य गुरुदेवश्री — यह अज्ञानी शुभभाव ही शुभभाव में आसक्त है न! इसलिए जोरदार कहे बिना शुभभाव में से हट नहीं सकता। बापू! मार्ग ऐसा है। इसमें किसी की कुछ भी सिफारिश नहीं चलती। देखो न! मार्ग तो यह है!

यहाँ कहते हैं कि रागरूपी समुद्र के पूर को नष्ट करनेवाला कोई हो तो यह तत्त्व है; परन्तु भगवान के दर्शन का भाव रागरूपी समुद्र के पूर को नष्ट करनेवाला नहीं है; क्योंकि वह भाव तो पुण्यबंध का कारण है। ऐसी बात कठोर लगती है और बाड़ा में (सम्प्रदाय में) ऐसी बात करें तो रहने ही नहीं देते।

'जिसने विविध विकारों का हनन कर दिया है।' आत्मा ने विविधप्रकार के पुण्य और पाप के विकल्पों का हनन कर दिया है अर्थात् आत्मा में विविधप्रकार के विकार नहीं हैं और इसकारण जिसको सच्चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा का आश्रय है, उसको भी विविधप्रकार के विकार नहीं हैं।

'जो सच्चे सुखसागर का नीर है।' सच्चासुख=सत् सुख=अतीन्द्रियसुख। सच्चे सुखसागर का नीर तो अन्दर भगवान आत्मा है। यह आत्मा ही सच्चा सुखसागर है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

जबकि यह सब (रागादि) तो खोटा सागर है। अहा! अन्दर भगवान आत्मा तो सुखसागर का पानी/जल है, इसलिए उसके निर्विकल्प रस को पिया ही करो — ऐसा कहते हैं। 'निर्विकल्प रस पीजिए' — ऐसा भक्ति में आता है न ? अर्थात् निर्विकल्प आनन्द का रस पीओ, क्योंकि रागरूपी जहर के प्याले तो अनन्तबार पिये हैं। देखो, फिर ऐसा कहा है कि 'सच्चे सुखसागर का नीर' — आत्मा तो सत्य आनन्द के सागर का नीर-जल है; इसलिए उसमें डुबकी लगा, तुझको आनन्द आएगा; अन्य कहीं आनन्द नहीं है। अरे! इसने सब खोटी-खोटी बातें सुनी हैं; परन्तु ऐसा आत्मा इसको सुनने को भी नहीं मिला। सर्वत्र विपरीत निरूपण होता है; फिर भी वह लोगों को सत्य लगता है। यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा सच्चे आनन्द के सागर का पानी/जल है।

आत्मा आनन्द से चमकता नीर है। जैसे मोती में पानी भरा होता है, तो वहाँ पानी शब्द से तेज (कहना/बतलाना) है; उसीप्रकार आत्मा तो सुखसागर की शक्ति है। आत्मा में अकेला 'पानी भरा है अर्थात् उसमें अकेली शक्तियाँ भरी हैं' — ऐसा कहते हैं।

'और जिसने काम को अस्त किया है।' — ऐसे आनन्द के सागर के आश्रय से काम का नाश होता है अथवा (दूसरे प्रकार से कहें तो) उस आनन्दसागर में काम की वासना ही नहीं है। विषय की वासना नष्ट हो गई है अर्थात् वस्तु में विषय-वासना ही नहीं है; इसलिए उस वस्तु का आश्रय करनेवाले को भी कामवासना उत्पन्न नहीं होती; अपितु उसका नाश हो जाता है — ऐसा कहते हैं।

'वह समयसार......' — ऐसा जो समयसार है, ऐसा जो यह त्रिकाली आत्मा है, वह **'मेरी शीघ्र रक्षा करो।'** ऐसा जो मेरा तत्त्व है, वह मेरी शीघ्र रक्षा करो अर्थात् मैं उसमें जाता हूँ, इसलिए मेरी रक्षा होती है। सुनने से ही जोश चढ़ जाए ऐसा है! तो कहते हैं कि चैतन्यरत्न-हीरा समान, जो समयसार भगवान आत्मा है, वह मेरी शीघ्र रक्षा करो। 'शीघ्र' कहकर यह कहते हैं कि एकदम अल्पकाल में मुझे पूर्ण प्राप्ति हो जाओ। यह वस्तु मेरी नजर में आई है तो अब अल्पकाल में मुझे पूर्ण प्राप्ति हो जाओ — ऐसी यहाँ प्रार्थना की है तथा भावना की उग्रता भी बताई है।

कलश ६३ पर प्रवचन

यह नियमसार के शुद्धभाव अधिकार का ६३वाँ श्लोक है। अरे! अनादि से यह दुःख में पड़ा है, दुःखी प्राणी है; क्योंकि इसकी दशा में राग-द्वेष और भ्रम, जो कि दुःखरूप

www.vitragvani.com

है, वह पड़े हैं तो अब इसकी ज्ञानदशा में आत्मा को लाना, स्थापित करना और स्थित करना ही मुक्ति का उपाय है, दुःख से छूटने का मार्ग है। यही बात अब कहते हैं।

'जो तत्त्वनिष्णात (वस्तुस्वरूप में निपुण) पद्मप्रभमुनि के हृदयकमल में सुस्थित है।' हृदय=ज्ञान। यद्यपि मुनिराज ने इसमें अपना नाम दिया है, तथापि वास्तव में तो धर्मी के और सुखी होनेवाले के ज्ञानरूपी खिले हुए कमल में भी आत्मा सुस्थित है; जबकि अज्ञानी को अनादि से ज्ञानपर्याय खिली नहीं है। कारण कि उसकी अवस्था में अनादि से मिथ्यात्व और राग-द्वेष स्थित है और वे मिथ्यात्वादि ही संसार परिभ्रमण के कारण हैं। तो कहते हैं कि जिसके ज्ञान में वस्तु (आत्मा) सुस्थित है अर्थात् जिसने अपनी ज्ञानरूपी कमल की खिली दशा में वस्तु को स्थापित किया है, वह धर्मी है। भाई! मार्ग सूक्ष्म है! वीतराग का मार्ग अपूर्व है। अभी तो सुनने मिलना भी कठिन है — ऐसा यह मार्ग है।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी उसको कहते हैं-मोक्षमार्गी उसको कहते हैं कि जिसको वर्तमान ज्ञानरूपी कमल की खिली हुई दशा में आत्मा सुस्थित है। देखा ? आत्मा सुस्थित है — ऐसा कहते हैं। अहा! वस्तु स्वयं चैतन्य भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप और सिद्धस्वरूप है। भगवान आत्मा ज्ञानानन्द का भण्डार है। उस वस्तु को जिसने अपनी वर्तमान ज्ञानदशा में सुस्थित की है, वह धर्मी है। सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ ने तो आत्मा अकेला ज्ञान का पिण्ड है, ज्ञानस्वरूप ही है — ऐसा उसको देखा है और प्रगट किया है। उन परमात्मा का यह फरमान है कि भाई! जिसको आत्मा का (अपना) कल्याण करना हो अर्थात् आत्मा का धर्म करना हो-संसार का अभाव करके मुक्ति प्राप्त करना हो, उसको तो अपनी वर्तमान ज्ञानदशा में सम्पूर्ण आत्मा को स्थापित करना पड़ेगा।

अहा! यह शरीर, वाणी, मन आदि तो पर-चीज है; इसलिए आत्मा में वह है ही नहीं। अरे! आत्मा की पर्याय में स्थित हो सके — ऐसी चीज भी वह नहीं है। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा की वर्तमान ज्ञानदशा में शरीर, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार आदि ये पर-चीजें तो एकसमय भी रह सकें — ऐसा है ही नहीं। तो दशा में मात्र एकसमय के लिए क्या रहता है ? कि 'पर में सुख है, पर में मैं हूँ, पर में मेरा स्वरूप है, पाप के भाव में मुझे आनन्द आता है और पुण्य के भाव से मुझको धर्म होता है'

www.vitragvani.com

— ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है, अज्ञानी ने उसको अपनी पर्याय में स्थापित किया है; इसलिए वह है। अज्ञानी की अवस्था में वह मिथ्यात्वभाव है, बाकी दूसरी कोई चीज उसकी अवस्था में नहीं है, क्योंकि दूसरी चीज तो पर है।

अहा! तत्त्व अर्थात् भगवान आत्मा, जो कि ज्ञान की मूर्ति है और जिसका अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव है, वह भगवान आत्मतत्त्व राग, द्वेष और पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है तथा एकसमय की पर्याय को भी नहीं स्पर्शता है — ऐसा वह तत्त्व है। ऐसे तत्त्व में जो निपुण-निष्णात-प्रवीण है अर्थात् जिसने इस तत्त्व को जाना है, वह ज्ञानी है। जबकि जगत के चतुर तो पागल हैं। जगत के समस्त प्रकार के ज्ञान की पर्याय भी भ्रमवाली है।

अहा! जीव की वर्तमानदशा में परवस्तु नहीं आती तथा जीव परवस्तु में नहीं जाता। मात्र अज्ञानी ने अपनी पर्याय में यह माना है कि मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, विकारी हूँ और दुःखी हूँ। उसने इस मान्यता को भ्रम से अपनी दशा में स्थापित किया है। तो अब जिसको सुखी होना हो, जन्म-मरण के भय से/दुःख से छूटकर स्वभावसन्मुख झुकना हो, उस जीव को तो तत्त्व का निष्णातपना करना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि ज्ञान और आनन्द- स्वरूप निज आत्मा को अपने ज्ञानकमल की खिली हुई दशा में सुस्थित करना पड़ेगा।

अहा....! जो ज्ञान संकोचपने राग, पुण्य और मिथ्यात्व में अटका पड़ा है, उसको छोड़कर.....यह तो नास्ति से बात है। वरना (वास्तव में तो) स्वभावसन्मुख होकर वर्तमान ज्ञान की खिली हुई दशा में जिसने आत्मा को स्थापित किया, उसका आत्मा सुस्थित है और वह आत्मा में निष्णात है। यद्यपि यहाँ मुनिराज ने स्वयं की बात की है, तथापि इसका अर्थ ऐसा है कि जिस किसी धर्मी की ज्ञानदशा में-वर्तमान हालत में परिपूर्ण प्रभु आत्मा है, वह धर्मी तत्त्व में निष्णात है और उसकी दशा में सम्पूर्ण आत्मा सुस्थित है। लो, धर्म का स्वरूप ऐसा बहुत कड़क है। अरे! इसने (अज्ञानी ने) धर्म का स्वरूप सुना भी नहीं है। अहा! अज्ञानी की दशा में क्या है और स्वभावसन्मुख होने पर ज्ञानी की दशा में कौन रहता है, इसकी गजब बात की है। प्रभु! अल्प शब्दों में भी बहुत-बहुत गम्भीर अर्थ भर दिया है! क्या मुनि की दशा!!

कहते हैं कि भगवान! तेरी चीज तो पुण्य और पाप के राग से भी रहित है और

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

तब फिर शरीर, वाणी, मन और इन कुटुम्ब-कबीला-पैसा आदि की तो बात ही क्या करना ? फिर भी थोड़ा पैसा हो, अच्छी स्त्री हो और आज्ञाकारी पुत्र हो तो वहाँ आँधलीदशा है अर्थात् अज्ञानी ऐसा मानता है कि ये सब मेरे में हैं, मेरे हैं; परन्तु भगवान! क्या ये परद्रव्य तुझमें आ जाते हैं ? क्या ये परद्रव्य तेरे हो जाते हैं ? यदि ऐसा हो जाए तो तेरा द्रव्य ही नष्ट हो जाए; (परन्तु ऐसा तो होता नहीं।) हाँ, मात्र इतना होता है कि तू अपने त्रिकाली द्रव्यस्वभाव को पर्याय में न रखकर (न स्वीकार कर), 'ये परद्रव्य मेरे हैं' — ऐसी ममता में और 'पुण्य-पाप के विकल्प मेरे हैं' — ऐसे भ्रम में अज्ञानी रहता है। बाकी अन्यत्र-परद्रव्य में तू नहीं रहता।

'**जो निर्विकार है।**' धर्मी उसको कहते हैं कि जिसने अपनी ज्ञान की वर्तमानदशा में धर्मी जो त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु आत्मा है उसको अर्थात् आदि और अन्तरहित, अनन्तगुण के पिण्ड प्रभु आत्मा को स्थापित किया है। यहाँ कहते हैं कि वह आत्मा निर्विकार है, यह त्रिकाली वस्तु (आत्मा) निर्विकार है।

प्रश्न — ऐसा कैसा धर्म ? हम तो दया पालना, व्रत पालना, तप करना इत्यादि ऐसी बातें सुनते आए हैं, जैन में तो ऐसा होता है ?

उत्तर — अरे बापू! तुझको पता नहीं है भाई! जैन तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा ने जो जैनधर्म कहा है, वह अलौकिक चीज है; परन्तु पामर को वह चीज (जैनधर्म) परखना नहीं आती। अरे! अभी तो समझने में भी कठिन पड़े — ऐसा जैनधर्म है।

'**जिसने विविध विकल्पों का हनन कर दिया है।**' जिसने=वस्तुस्वभाव; भगवान आत्मा। वस्तु भगवान आत्मा जो कि पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु है, उसने विविध विकल्पों का हनन कर दिया है। ये विविधप्रकार की शुभ-अशुभ वृत्तियाँ दया, दान, व्रत, भक्ति और काम, क्रोधादि के समस्त विकल्प-राग हैं और उनका वस्तु ने तो (आत्मा ने तो) हनन कर दिया है अर्थात् वस्तु में राग है ही नहीं तथा जिसने भगवान आत्मा जो कि पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु है, उसको ज्ञान की पर्याय में स्थापित किया है-रखा है, उस दृष्टिवंत ने भी विविध विकल्पों का हनन कर दिया है अर्थात् जिसने आत्मवस्तु को ज्ञान में बसाया, उसकी ज्ञानपर्याय में भी विकल्प नहीं है — ऐसा मार्ग है भाई! नित्यानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का स्वरूप कैसा है ?

www.vitragvani.com

कि '**जिसे बुधपुरुषों ने कल्पनामात्र-रम्य ऐसे भव-भव के सुखों से तथा दुःखों से मुक्त (रहित) कहा है।**' अहा.... ! कल्पनामात्र-रम्य ऐसे भव-भव के सुख अर्थात् यह दुनिया की कल्पना का सुख। स्वर्ग का देव, चक्रवर्ती, अरबपति आदि को सुख है, वह मात्र मानी हुई कल्पना है, बाकी वहाँ सुख है नहीं। ऐसा होने पर भी अज्ञानी कल्पना से रम्य मानता है, यह इन्द्रियों का सुख, पैसे का सुख, भोग का सुख, खाने-पीने का सुख और स्त्री के शरीर का सुख तो कल्पनामात्र-रम्य है अर्थात् मात्र कल्पना से रमनेयोग्य है, तो भी अज्ञानी कल्पना करता है कि इनसे हम सुखी हैं। पाँच-पच्चीस लाख की आमदनी हो और पाँच-दश करोड़ की पूँजी हो तो अज्ञानी मानता है कि हम सुखी हैं।

प्रश्न — परन्तु बाहर में तो सुखी दिखता है न ?

उत्तर — सुखी कहाँ दिखता है ? बाहर में अज्ञानी सुखी हो — ऐसा तो कुछ नहीं दिखता। यह तो मात्र अज्ञानी अपने को सुखी मानता है तथा कल्पना से परचीज को रम्य माना है; परन्तु वह पर-चीज रम्य नहीं है। अहा..! पाँच-दश करोड़वाले गृहस्थ का लड़का हो, विवाह में पाँच-पच्चीस लाख रुपये खर्च करना हो और उसने वरराजा का श्रृंगार किया हो तथा कन्या भी दो-पाँच करोड़ रुपयेवाले पिता की इकलौती संतान हो तो उससमय अज्ञानी मानता है कि अहाहा..! हम सुखी हैं। यहाँ कहते हैं कि मूढ़ हो। कारण कि पर-चीज तो कल्पनामात्र-रम्य है और उसमें तो अज्ञानी ने सुख माना है। मूढ़ जीवों ने उस पर में सुख की कल्पना की है; परन्तु वह कल्पना तो आकुलता है, उसमें धूल भी सुख नहीं है।

कहते हैं कि 'भव-भव के सुखों से.....' देखो! बहुत-बहुत भवों में कल्पनामात्र-रम्य — ऐसा सुख माना है न ? इसलिए कहा है कि 'भव-भव के सुखों से....' तथा दुःखों से' नरकादि में कल्पना के दुःखों से 'मुक्त (रहित) कहा है।' भगवान आत्मा का तत्त्व तो उन सुखों से तथा दुःखों से रहित है और जिसने उस आत्मा को अपनी दशा में बसाया है, वह (ज्ञानी) भी उन भव-भव के सुखों तथा दुःखों की कल्पना से रहित है। जिसने पूर्णानन्द के घनस्वरूप भगवान आत्मा को वर्तमानदशा में बसाया है — ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव तो भवभव के कल्पनामात्र-रम्य ऐसे सुख-दुःख से मुक्त है। तात्पर्य यह है कि वस्तु मुक्त है और जिसने वस्तु को अपनी पर्याय में बसाया है, वह (ज्ञानी) भी मुक्त है। भाई! ऐसा भारी कड़क काम है।

प्रश्न — यह करने की अपेक्षा तो सामायिकादि करना सरल पड़ते हैं ?

उत्तर — अरे बापू! इस सामायिक का मुँह बड़ा है.....परन्तु भाई! तुझको पता नहीं है तथा तेरी मानी हुई सामायिक, सामायिक ही नहीं है; परन्तु यह सब तो राग का रोना है। अहा..! सामायिक तो उसको कहते हैं कि जिस ज्ञानदशा में प्रभु आत्मा आकर बसा है और जिसमें से पुण्य-पाप का राग खिसक गया है अर्थात् जिसमें दया, दान का विकल्प भी नहीं है — ऐसी दशा में समता और वीतरागता बसी होती है और उस वीतराग पर्याय में आत्मा बसता है। भगवान ऐसी दशा के भाव को सामायिक कहते हैं। अरे! तो फिर पूर्णानन्द के नाथ भगवान आत्मा को तेरी दशा में लाये बिना तू किसको सामायिक कहेगा ? तथा तुझको धर्म भी कहाँ से होगा ? अरे रे! बिचारे लोग ठगा गये हैं, ठगा रहे हैं।

देखो! यहाँ 'भव-भव के सुखों से तथा दुःखों से मुक्त (रहित) कहा है' — ऐसा कलश में है '**भव-भव सुख-दुःखान्मुक्तम् उक्तम्**' अर्थात् ऐसा आत्मतत्त्व मुक्त है — ऐसा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी परमात्मा परमेश्वर ने कहा है। भाई! केवली ने ऐसा कहा है कि आत्मा दृष्टि में आने पर अर्थात् जिसकी दृष्टि में भगवान आत्मा बसा है, उसकी दृष्टि में से विकल्प हट गये हैं, मुक्त हो गये हैं; क्योंकि वह तत्त्व राग से मुक्त है। इसप्रकार आत्मा के दृष्टिवंत की मुक्ति ही है। लो, मांगलिक में '**केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं**' आता है न ? तो वह यह है; परन्तु अज्ञानी को शब्द और उसके अर्थ का कुछ भी पता नहीं होता और रटा करता है।

अहा! यह सत्य बात बाहर आई, तो दूसरे लोगों ने यह कहना शुरू किया कि 'यह तो बहुत ऊँची बात है; इसलिए हमारी जो कि नीचे की बात है, वह पहले करनी। भगवान! तेरी बात नीचे की नहीं, किन्तु विपरीत है। वीतरागमार्ग में पहली-शुरूआत की बात ही यह है। इसके अतिरिक्त अन्य कहीं सत्य बात है ही नहीं।

'**वह परमतत्त्व जयवंत है।**' मुनिराज कहते हैं कि आनन्दकन्द ऐसा भगवान आत्मा जो कि मेरी पर्याय में विराजमान है, वह जयवंत वर्तता है। मेरा आत्मा भी जयवंत वर्तता है और मेरी पर्याय भी जयवंत वर्तती है अर्थात् जिसमें भान हुआ है, वह पर्याय भी जयवंत वर्तती है। देखो न! कैसे कलश बनाये हैं! तो भी अब यह टीका अज्ञानी को पसन्द नहीं है। बापा! सत्य ही यह है भाई! और यह तुझे लक्ष्य में लेनेयोग्य है। इसे

www.vitragvani.com

लक्षगत किये बिना तेरे (परिभ्रमण का) अन्त नहीं आएगा। भाई! कदाचित् दुनिया तुझको धर्मी मानेगी और तुझे भी मनवा देगी; परन्तु इससे कहीं तेरे (भव का) अन्त नहीं आयेगा।

अहा! '**वह परमतत्त्व जयवंत है**' — ऐसा कौन पर्याय कहती है ? कि जिस दशा में आत्मा आया, वह दशा कहती है कि यह तत्त्व जयवंत वर्तता है तथा मेरी पर्याय भी ऐसी की ऐसी जयवंत वर्तती है। यानी कि अब मेरी पर्याय की ही जय हो; परन्तु रागादि की जय नहीं; क्योंकि मेरी पर्याय में प्रभु को पधराया है न! अहा! (मुनिराज ने) कलश भी सुन्दर बनाए हैं, गजब कलश लिखे हैं।

अहा! वस्तु तो वस्तु ही है। उसमें-उसके अन्दर तो कोई चीज आती ही नहीं। इसीप्रकार पर्याय में भी परचीज नहीं आती। मात्र पर्याय में अज्ञानी कल्पना से मानता है कि मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ और ऐसा हूँ। तो वह कल्पना अज्ञानी की पर्याय में-वर्तमानदशा में आती है; परन्तु अब उस दशा में गुलाँट खाकर ऐसा मान कि इन रागादि का बसना मेरे में नहीं है। मेरे में तो सम्पूर्ण आत्मा बसता है। सो अब ऐसा मानने से आत्मा और उसकी पर्याय जयवंत वर्तते हैं और उससे ही उसकी क्रमशः मुक्ति होती है।

कलश ६४ पर प्रवचन

'**जो आत्मा भव्यता द्वारा प्रेरित हो।**' भाषा देखो! कहते हैं कि जो धर्मरूप होने की योग्यता से प्रेरित हुआ है। भले ही वह जीव गृहस्थाश्रम में दिखे तो भी वह तो दृष्टि में धर्मरूप होने के लिए प्रेरणामय हो गया है। अहा! उसको भव्यता तो है; परन्तु अब तदुपरान्त भव्यता द्वारा निर्मलपने परिणमने की अन्दर से प्रेरणा हुई है — ऐसा कहते हैं।

'**जो आत्मा भव से विमुक्त होने के हेतु....**' यहाँ तो दो ही बाते हैं या तो भव से मुक्त होना या भव में भटकना — ऐसी दो बातें हैं। बाकी दूसरा हो भी क्या सकता है ? बापू! या तो मुक्ति या संसार, इसके अलावा तीसरा क्या होगा ?

श्रोता — यह अनादि से संसार में तो भटक ही रहा है ?

पूज्य गुरुदेवश्री — इसीलिए यहाँ यह कहते हैं कि जिसको भव से विमुक्त होना हो....इसका अर्थ यह है कि भव और भव के कारण का भाव जो पुण्य-पाप के भाव हैं, उनसे मुक्त होना हो वह '**निरन्तर इस आत्मा को भजो।**' यह पर भगवान को भजना

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

सो तो राग है; इसलिए तेरा नाथ कि जो अन्दर विराजमान है, उसको भज! अरे! किन्तु पामर को यह बात कैसे बैठे ? क्योंकि एक तो उसका छोटा हृदय (अल्पज्ञान) है और उसमें भी आत्मा कितना है, उसके माप का उसे पता नहीं है। अहा! गज छोटा, गिनती आती नहीं और फिर भी अज्ञानी आत्मा का माप करने जाता है; इसलिए उसको आत्मा का माप नहीं आता।

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा है, वह सच्चिदानन्द और सिद्धस्वरूपी प्रभु है। सच्चिदानन्द अर्थात् सत्+चिद्+आनन्द=शाश्वत् ज्ञान और आनन्द के स्वभाववाला तत्त्व। ऐसा यह भगवान आत्मतत्त्व है-महिमावाला तेरा आत्मा है, उसको भज अर्थात् उसमें एकाग्रता कर। यह भगवान की माला जपता है न कि णमो अरिहंताणं..णमो अरिहंताणं..परन्तु यह तो राग है, विकल्प है। यद्यपि पाप से बचने के लिए ऐसा एक शुभभाव होता है, तथापि वह धर्म नहीं है। कदाचित् लाख माला जपे तो भी यदि शुभभाव हो तो पुण्य का विकल्प है; वह कोई धर्म नहीं है। धर्म तो सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा को भजने से होता है अर्थात् आत्मा में एकाग्रता धर्म है।

अहा! आत्मा का भजन कर अर्थात् उसकी पर्यायरूपी मोतियों को आत्मा की ओर फेर; अन्दर पर्यायरूपी मोतियों को फेरकर द्रव्य की ओर ढाल — ऐसा कहते हैं। देखो, यहाँ ऐसा कहा है कि 'निरन्तर इस आत्मा को भजो।' कलश में है न कि '**अनिशम्**' - निरन्तर। अरे भगवान! करनेयोग्य तो यह है। शेष अन्य सब तो थोथा-थोथा (व्यर्थ) है। अहा! यह सब पैसा, पुत्र, स्त्री आदि मोटी सोजिश चढ़ी है अर्थात् ये सब मेरे हैं — ऐसी मान्यता की सोजिश चढ़ी है और वह जैसे शरीर सोजिश होने पर मोटा दिखता है, वैसे हैं।

प्रश्न — सोजिशवाला मोटा दिखता है; इसलिए वह निरोगता है या नहीं ? शरीर इतना निरोग तो हुआ या नहीं ?

उत्तर — भाई! सोजिश होगी, तब तू चिल्लाएगा, सुन न! अरे! अपना भगवान तो रह गया अन्दर और जो अपना नहीं है, उसको अज्ञानी ने अपना माना है। अहा! भगवान, आचार्यदेव अथवा यहाँ मुनिराज कहते हैं कि तेरा प्रभु पूर्णानन्द आत्मा अन्दर विराजमान है। उसका भजन कर, उसमें एकाग्र हो, इसका नाम धर्म है। लो, इसको वीतराग का धर्म कहा जाता है। यह 'केवलिपण्णत्तो धम्मो' है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

***प्रश्न* —** लोग तो कहते हैं कि दया पालन करो; क्योंकि दया के समान कोई धर्म नहीं है!

***उत्तर* —** भाई! दया जैसा कोई धर्म नहीं है, यह बात तो सत्य है; परन्तु किसकी दया ? तेरी या पर की ? क्योंकि पर की दया तो कोई पाल ही नहीं सकता। जैसे कि अपनी उम्र ४५ वर्ष हो और प्रिय में प्रिय ४० वर्ष की स्त्री मर रही हो तो उसको बचाने का भाव बहुत हो कि यह नहीं मरे तो ठीक; क्योंकि मेरी आयु ४५ वर्ष की है; इसलिए कोई दूसरी स्त्री देगा नहीं! क्या होगा ? इसप्रकार बहुत चिन्ता होती है, तो उसको जिलाने का भाव है या नहीं ? फिर भी उसको बचा सकता है ? क्या तेरा भाव वहाँ कार्यकारी होता है ? तू प्रिय में प्रिय स्त्री को बचा नहीं सकता और दुनिया को बचाने गया है ? भाई! मैं दूसरे को बचाता हूँ अथवा दूसरे को रखता हूँ — यह मानना ही भ्रम है। अब इस भ्रम को त्याग कर आत्मा को देख न! अन्दर आत्मा प्रकाशमान चिदानन्द का पुंज है, उसको निरन्तर भज न! और देखो यहाँ 'इस' कहकर, आत्मा को भजनेवाले को आत्मा 'प्रत्यक्ष' है — ऐसा कहते हैं। अहा! मुनिराज ने श्लोक भी अद्भुत बनाये हैं।

अब कहते हैं कि **'.....कि जो (आत्मा) अनुपम ज्ञान के आधीन है'**, जो सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु भगवान आत्मा है, वह ज्ञान के आधीन है; परन्तु राग अथवा पुण्य के आधीन नहीं है। आत्मा अनुपम ज्ञान के-सम्यक् स्वसंवेदन ज्ञान के-आधीन है; परन्तु वह कोई दया, दान के विकल्प से पकड़ में आवे — ऐसा नहीं है। अहा! लोगों को ऐसा लगता है कि यह सब तो ऊँची बात होगी। नहीं; भाई! यह तो अभी सम्यग्दर्शन की बात है।

'जो सहज गुणमणि की खान है...' भगवान आत्मा तो स्वाभाविक ज्ञानादि अनन्त गुणमणि रत्नों की खान है। गुणमणि=अनन्त गुणरूपी मणिरत्न। एकसमय की प्रगट अवस्था के पीछे अन्दर में जो भगवान आत्मा है, वह तो अनन्त स्वाभाविक गुणमणि की खान है। तेरी इन बाहर की मणियों की कीमत क्या है ? कदाचित् एक-एक मणिरत्न लाख-लाख रुपये का हो तो भी वे करोड़-पाँच करोड़ अथवा अरब के होंगे। वे कितने होंगे ? जबकि यह आत्मा तो अनन्त सहज गुणमणि की खान है।

जैसे बाहर में पन्ना के खान का कोन्ट्राक्ट लेते हैं न ? तो साधारण व्यक्ति भी

अरबपति हो जाता है और फिर उसको अहाहा! हो जाता है कि मानों अपन तो कितने बढ़ गये हैं। वह किसमें बढ़ा है ? परिभ्रमण में। इसीतरह यहाँ कहते हैं कि यह आत्मा अनन्त सहज गुणमणि की महाखान है। उसका यथार्थरूप से कोन्ट्राक्ट ले....और फिर अन्दर से गुणमणियाँ निकाला ही कर तो भी कम नहीं होगी। यदि द्रव्य खूटे तो निकालने योग्य पर्याय खूटे। एक ज्ञानगुणमणि, एक दर्शनगुणमणि और ऐसे-ऐसे अनन्त सहजगुणमणि की खान आत्मा है। ऐसा तेरा प्रभु आत्मा सत्तास्वरूप विराजमान है। अरे! आत्मा ऐसा है, तो भी उसको छोड़कर, बापू! तेरी रुचि कहाँ जाती है ? तुझे कहाँ प्रेम हुआ है ? ऐसे भगवान आत्मा को छोड़कर तेरा प्रेम कहाँ गया है ? भाई! तू लुटता ही है — ऐसा कहते हैं।

'जो (सर्व) तत्त्वों में सार है।' यह आत्मा समस्त तत्त्वों में सारतत्त्व है। संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व की तुलना में भी सारतत्त्व तो आत्मा है।

'और जो निजपरिणति के सुखसागर में मग्न होता है।' दृष्टि में इस तत्त्व का स्वीकार होने पर, वह तत्त्व निजपरिणति के सुखसागर में डूब जाता है। अहा...! मुनिराज ने भी गजब काम किया है न!

प्रश्न — 'निजपरिणति के सुखसागर में..........' यह त्रिकाली की बात है ?

उत्तर — नहीं, यह पर्याय की-वर्तमानदशा की बात है। ऊपर कहा था न कि 'इस आत्मा को भजो' तो 'भज' अर्थात् निजपरिणति प्रगट हुई वह और उस वर्तमानपरिणति के सुखसागर में वह तत्त्व मग्न होता है — ऐसा कहा है न ? इसलिए निजपरिणति अर्थात् आनन्द की वर्तमानदशा।

अहा....! कहते हैं कि यह आत्मतत्त्व ऐसा है कि पूर्णानन्द का नाथ है; परन्तु सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा देखा गया आत्मा ही (अन्य द्वारा कथिन नहीं।) अर्थात् एकमात्र तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी परमात्मा ने जो आत्मा देखा और कहा है, वही आत्मा है। इसके अलावा अज्ञानीजन 'ऐसा आत्मा....ऐसा आत्मा' इत्यादि आत्मा संबंधी जो अनेक बातें करते हैं, वैसा आत्मा नहीं; क्योंकि यह आत्मा ही ऐसा सूक्ष्म और अलौकिक है कि सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य दूसरों ने उसे देखा ही नहीं है। क्या सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकर के अलावा किसी ने आत्मा देखा है ? (नहीं।) इसलिए भगवान तीर्थंकर ने जो आत्मा देखा है, वही (वास्तविक) आत्मा है और वह आत्मा ऐसा है।

www.vitragvani.com

प्रश्न — परन्तु अपन भी 'आत्मा' कहते हैं और दूसरे भी 'आत्मा' कहते हैं ?

उत्तर — बापू! दोनों में कहीं मेल नहीं है। भाई! तुझे पता नहीं है, क्योंकि दूसरे अज्ञानी तो कहते हैं कि आत्मा सर्वव्यापक है या वह एक ही गुणरूप है अथवा वह विज्ञानस्वरूप ही है और या वह क्षेत्र से बहुत छोटा है — इसप्रकार अज्ञानी ने अनेक प्रकार से कल्पना की है; इसलिए भगवान के अतिरिक्त किसी अज्ञानी ने आत्मा को देखा नहीं है। समकिती भी भगवान द्वारा देखे आत्मा को देखता है।

यहाँ कहते हैं कि यह आत्मतत्त्व ही ऐसा है कि उसको देखने से अर्थात् उसको स्वीकार करने से वह स्वयं निजपरिणति के सुखसागर में मग्न-लीन होता है अर्थात् पूर्णरूप से परिणति में आ जाता है। अहा! जहाँ निजपरिणति-आनन्द की वर्तमानदशा प्रगट हुई, वहाँ पर्याय में सुखसागर उछलता है और उसको 'पर्याय के सुखसागर में त्रिकाली द्रव्य, जो कि सुखसागरस्वरूप है, वह आकर मग्न हो गया' — ऐसा कहा जाता है।

कलश ६५ पर प्रवचन

किमध्रुववस्तुनि चिन्तया — अध्रुव वस्तु से तुझे क्या काम है भाई! अरे! इसमें (ऐसा वस्तुस्वरूप है वहाँ) क्षेत्रपाल और पद्मावती आदि कहाँ रहे ? (उनकी बात ही क्या करना ?) अरे रे! महाकठिनता से अनन्तकाल में मनुष्यभव प्राप्त हुआ है, वहाँ उभरने के काल में भी जीवों को ऐसे गृहीत मिथ्यात्व ने मार दिया है। अहा...! अनादि-अनादि के भूतकाल के भगवान! तूझे कहाँ पता है कि तू कहाँ था ? अरे! अतीत अनन्तभव में तू कहाँ नहीं था ? भाई! जहाँ-तहाँ सर्वत्र भटकता था। देखो तो सही! एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि में इसका छूटने का उपाय आवे ऐसा कहा था ? तो उस दुःख में से मुश्किल से निकलकर मनुष्य हुआ; भले ही है तो यहाँ वर्तमान में भी दुःख; तथापि तीव्र दुःख में से मुश्किल से निकलकर इसको मनुष्यभव मिला है तो ऐसे दुःख में से निकले हुए को अब संसार में से निकलने का मार्ग चाहिए या अभी फिर से बँधने के रास्ते जाना है ? अहा! अनादिकाल के परिभ्रमण में मनुष्यपना मिलना अनन्तकाल में भी मुश्किल है, फिर भी इस मनुष्यपने में आया तो अब संसार में से निकलने का रास्ता लेना चाहिए न ? इसके लिए यह मनुष्यभव है।

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं मुनि हैं न! इसलिए यहाँ मुनि की मुख्यता से बात करते

हैं कि '**निज आत्मा में लीन बुद्धिवाले तथा भव से और भोग से पराङ्गमुख हुए हे यति!...**' छहढाला में भी आता है न कि '**भव भोगनतैं वैरागी**' (पाँचवी ढाल, पद १) भव=ये चारगति के भव तथा उनके भाव; भोग=वासना और तन=शरीर — इन सबसे प्रभु! तू तो पराङ्गमुख है। हे मुनि! इन सबसे तो तू विमुख हुआ है। अहा...! तू धर्मी है या नहीं ? तू धर्मी है या अधर्मी ? यदि तू धर्मी है; तो जो धर्मी हो वह भव, भोग और तन से विमुख होता है और जो भव, भोग, तन के सन्मुख होता है, वह तो भोगी और अधर्मी है।

अहा....! कहते हैं कि हे यति! हे मुनि! हे धर्मात्मा! यदि तू धर्मी है तो भव से और भोग से पराङ्गमुख हो। तू भव के और भोग के सन्मुख तो अनादि से था ही अर्थात् राग-पुण्य के प्रेम के कारण और पाप की रति के कारण उनके सन्मुख तो अनादि से था ही और इससे तू दुःख और मिथ्यात्व के समुद्र में डूब गया था। अब अभी भी यदि तू पर के सन्मुख होगा तो तूने नया क्या किया ?

इसलिए भव से और भोग से पराङ्गमुख हुए हे आत्मा! '**तू भव हेतु का विनाश करनेवाले ऐसे इस (ध्रुव) पद को भज।**' भव के हेतु मिथ्यात्व, अज्ञान और राग-द्वेषादि हैं, उनका विनाश करनेवाले इस ध्रुवपद को भज। जैसे श्लोक ६४ में 'आत्मा को भज' ऐसा कहा था; उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि प्रभु आत्मा नित्य ध्रुव है, उसका भजन कर। 'भजन' वह पर्याय है, अवस्था है और उसके द्वारा त्रिकाली आत्मा को भज। अर्थात् पर्याय त्रिकाली आत्मा की सन्मुखता में रहे, वह आत्मा का भजन है।

प्रश्न — परन्तु यह कैसा उपदेश है ? उपदेश लगता तो अच्छा है; परन्तु इसमें कुछ हाथ नहीं आता ?

उत्तर — बापू! हाथ आवे ऐसा यह एक आत्मा ही है। श्लोक ६४ में कहा था न कि निजपरिणति के सुखसागर में मग्न होकर रहे — ऐसा ही यह आत्मा है। बाकी विकार में वह कहाँ से मग्न हो; क्योंकि विकार तो अनित्य है, क्षणिक है और विकार प्रतिक्षण बदलता रहता है। क्षणभर पूर्व कौन-सा तो दूसरे क्षण कौन-सा विकार होता है।

यहाँ कहते हैं कि हे मुनि! 'तू भवहेतु का विनाश करनेवाले ऐसे इस (ध्रुव) पद को भज।' तेरा ध्रुवतत्त्व जो कि आनन्ददाता है, उसको भज! त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु आत्मा को भज और वह आनन्ददाता है; इसलिए आनन्द आयेगा। तात्पर्य यह है कि

www.vitragvani.com

उसको भजनेवाला आनन्द से खाली नहीं रहता। अहा! तुझे क्या करना है ? तुझे सुख चाहिए न ? तो इसको भज न! इस ध्रुव को भज! परन्तु बात यह है कि इसके लिए महापुरुषार्थ हो तो कार्य होता है। वरना वह कहीं बातों से मिल जाए — ऐसा नहीं है। देखो, यह जैनधर्म! भाई! यह तो अद्भुत है।

'अध्रुव वस्तु की चिन्ता से तुझे क्या प्रयोजन है ?' ये शरीर, वाणी, मन तथा ये सब बाहर के पदार्थ तो नाशवान हैं। ये नाशवान पदार्थ कहीं तुझमें नहीं हैं, तेरे नहीं हैं, तेरे कारण आए नहीं और तेरे कारण रहे नहीं हैं; इसलिए उन नाशवान पदार्थों से तुझे क्या काम है ? अरे! पुण्य-पाप के विकल्प भी नाशवान और अंधकार हैं; इसलिए उनसे भी तुझे क्या काम है ? इसलिए अब इस ध्रुवतत्त्व को भज; ध्रुव की भावना कर। अनादि से खोट का धंधा किया है-अनादि से जो कार्य किया है, अब उसे बन्द कर और जिसके साथ आड़तिया का संबंध करने से आनन्द का व्यापार होता है, उसके साथ काम कर। अहा! अध्रुव वस्तु की चिन्ता से तुझे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि तेरा प्रयोजन तो ध्रुव को भजना है, कि जिससे ध्रुव-पूर्णदशा प्राप्त हो।

अहा...! बीस वर्ष के पुत्र का छह माह पूर्व विवाह हुआ हो और वह मर जाए, तो हाय! हाय! हो जाता है। बापू! बाहर में कौन शरण है ? और कौन मालिक है ? अरे! सिंह और बाघ की दाढ़ में पकड़े जाने पर भी जिन्होंने आत्मा की ही आराधना की है, वे मुनि-संत गजब हैं न! अहा! पंचमहाव्रतधारी मुनिराज को अहिंसा होती है और वैरभाव का त्याग होता है; परन्तु इसकारण ऐसा नहीं है कि सामनेवाले जीव को वैर नहीं होता। बापू! ऐसा पूर्वकर्म का योग हो तो सच्चे संत भी सिंह और बाघ के मुँह में आ जाते हैं। सिंह द्वारा मुँह में मुनि को पकड़ा होने पर भी वे ध्यान में होते हैं। उनको अन्दर से उग्र आराधना प्रारम्भ हो जाती है और यदि आत्म-एकाग्रता की स्थिति में देह छूट जाए तो एकावतारी होकर सर्वार्थसिद्धि में चले जाते हैं। अहा..! बाहर की चीज से आत्मा को क्या है ? क्योंकि बाहर की चीज कहाँ अन्दर आत्मा को स्पर्श करती है ? हाँ, राग-द्वेष करे तो बाहर की चीज को निमित्त कहा जाता है।

विशल्या अर्थात् शल्यरहित भगवान आत्मा। अहा! यहाँ तो ज्ञानजल छिड़कते ही आत्मा की निरोगता कैसे हो — यह बात है। भाई! नयचक्र का नाम 'द्रव्यप्रकाशक' — ऐसा आया है। इसका अर्थ यह है कि अपनी ज्ञानपर्याय में-निश्चयनय की पर्याय

www.vitragvani.com

में आत्मा का प्रकाश आता है अर्थात् उसमें आत्मा आता है; इसलिए उस निश्चयनय को द्रव्यप्रकाशक कहते हैं।

कलश ६६ पर प्रवचन

यह नियमसार के शुद्धभाव अधिकार का ६६वाँ कलश है। इसमें कहते हैं कि **'जो अनाकुल है।'** अन्दर यह भगवान आत्मा है, वह अनाकुल है अर्थात् उसका स्वरूप आनन्दमय है; परन्तु उसमें आकुलता नहीं है। वस्तु का-आत्मा का अपना स्वभाव अनाकुल आनन्दस्वरूप है और उसको यहाँ समयसार-आत्मा कहा जाता है।

'अच्युत है।' आत्मवस्तु जो कि ध्रुवस्वरूप है, वह कहीं ध्रुवपने से हटकर नाश हो, वैसी नहीं है अर्थात् वह नाशवान नहीं है; अपितु अस्खलित है — ऐसी चैतन्यमय भगवानरूप ध्रुव चीज अनादि की-सदा की ऐसी की ऐसी है।

'जन्म-मृत्यु-रोगादिरहित है।' आनन्द और अनाकुल शान्ति का रसकन्द — ऐसी जो अन्दर वस्तु है, जिसको आत्मा कहते हैं, वह तो जन्म-जरा-मृत्यु-रोगादि से रहित है, उसमें जन्म नहीं है, मृत्यु नहीं है और रोगादिमय जरा भी नहीं है।

'सहज निर्मल सुखामृतमय है।' अन्दर त्रिकाली ध्रुव नित्यानन्द वस्तु आत्मा कैसा है ? वह तो स्वाभाविक निर्मल सुखामृतमय है। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव सहज सुखरूपी अमृतमय ही है। ऊपर 'अनाकुल' है — ऐसा कहकर आत्मा में आकुलता नहीं है, इतना ही कहा था; परन्तु अब अस्ति से कहा है कि आत्मा सहज सुखरूपी अमृतमय है।

'उस समयसार को मैं समरस (समताभाव) द्वारा सदा पूजता हूँ।' ऐसा आत्मा अर्थात् समयसार; उसको मैं समरस द्वारा पूजता हूँ — ऐसे आत्मा के आश्रय से होनेवाली वीतरागदशा से आत्मा पूजनेयोग्य है — ऐसा कहते हैं। अहा! पुण्य और पाप के विकल्प तो विषमभाव हैं; इसलिए उनसे रहित समताभाव से अर्थात् अपनी निर्विकार पर्याय द्वारा ऐसे आत्मा की मैं पूजा करता हूँ अर्थात् मैं आत्मा में एकाग्र होता हूँ, वही आत्मा की पूजा है। लो, यह पूजा! बाहर के भगवान की पूजा तो रागभाव होने पर होती है; परन्तु वह आत्मा की पूजा नहीं है।

अहा! तीर्थंकरदेव सर्वज्ञपरमात्मा ने आत्मा को अनाकुल, अच्युत, जन्म-मृत्यु-

www.vitragvani.com

रोगादिरहित और स्वाभाविक-अकृत्रिम निर्मल सुखामृतमय देखा है तो ऐसी दृष्टि और ज्ञान होने पर, उस काल में जो समता प्रगट होती है, उसके द्वारा मैं आत्मा को पूजता हूँ अर्थात् उसमें एकाग्र होता हूँ। अहा! यह आत्मा की पूजा है; जबकि भगवान देव-शास्त्र-गुरु की पूजा शुभभाव है। स्वरूप में स्थिरता न हो और अशुभ से बचने का प्रसंग हो, तब ऐसा शुभभाव होता है; परन्तु वह कहीं आत्मपूजा नहीं है, वह तो परपूजा है।

मैं ऐसा जो समयसार आत्मा, मुझे समताभाव द्वारा अर्थात् स्वभाव का सम्यग्दर्शन, स्वभाव का सम्यग्ज्ञान और स्वभाव में लीनतारूप समतादशा, उसके द्वारा पूजता हूँ अर्थात् उसके द्वारा मैं मेरा आदर करता हूँ, यह पूजा है। तात्पर्य यह है कि वीतरागभाव से आत्मा की पूजा हो तो वह सच्ची पूजा कहलाती है।

प्रश्न — नीचे के (चौथे, पाँचवें) गुणस्थानों में वीतरागभाव कहाँ से लाना ?

उत्तर — भाई! यह नीचे के गुणस्थानों की तो बात चलती है। धीरज धर! अरे! अधीरा, 'कायर का नहीं काम जो ने'! (धीरज=समता) यहाँ कहते हैं कि चैतन्य भगवान आत्मा की सन्मुखतारूप वीतरागभाव द्वारा आत्मा को पूजता हूँ कि जो भावमुक्ति का कारण है।

प्रश्न — यह तो निश्चय की बात है; परन्तु वह पचे कैसे ?

उत्तर — यहाँ सीधी (निरपेक्षरूप से) उसे पाने की बात है। आत्मा स्वसन्मुख की समतारूप सम्यक् दृष्टि, समतारूप ज्ञान और समतारूप वीतरागता — इन द्वारा प्राप्त होता है। इस द्वारा ही आत्मा प्राप्त होता है और पूज्य है। जिसमें विकल्प की, पैसे की अथवा आठ द्रव्यों की भी आवश्यकता नहीं है। यह बाहर के आठ द्रव्यों के द्वारा पूजा होती है न ? परन्तु स्वद्रव्य की अन्तर पूजा में जहाँ राग ही नहीं है, वहाँ ये आठद्रव्य कैसे होंगे ? ये आठद्रव्य लेने जाए, इसके बदले स्वद्रव्य की पूजा नहीं करे ?

प्रश्न — भगवान की पूजा से पूजा के संस्कार तो पड़ते हैं न ?

उत्तर — भाई! उसमें राग के संस्कार पड़ते हैं; क्योंकि वह शुभराग है और उसकी मर्यादा राग-पुण्यभाव तक है। उससे आगे कोई ले जाए (उसमें धर्म माने) तो वस्तु की स्थिति नहीं रहेगी, सत्त्व नहीं रहेगा; परन्तु तत्त्व का खून होगा। पूजा का राग होना अलग बात है; परन्तु कोई उसको धर्म अथवा संवर-निर्जरा का कारण माने तो वह नास्तिक-मिथ्यादृष्टि है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अहा! इसप्रकार यहाँ यह कहना है कि —

- तुझे आनन्द चाहिए न ? तो, भगवान आत्मा स्वयं ही आनन्दस्वरूप है।
- तुझे एकरूप-च्युत न हो ऐसा स्वरूप चाहिए न ? तो, आत्मा स्वयं ही त्रिकाल अच्युतस्वरूप है।
- तुझे जन्म-मृत्यु-रोगादिरहित होना है न ? तो, वस्तु आत्मा स्वयं ही इन सबसे रहित है।
- तुझे दु:खरहित होना है न ? तो, आत्मा वैसी ही वस्तु अन्दर है अर्थात् आत्मा स्वयं ही स्वाभाविक निर्मलसुखरूपी अमृत का सागर है — ऐसा कहते हैं।

कहते हैं कि ऐसे आत्मा को पूजना हो तो वीतरागभाव से पूजनेयोग्य है; परन्तु दया, दान, व्रत के विकल्प से आत्मा पूजनेयोग्य नहीं है। अहा! आत्मवस्तु शुभराग से पूजनेयोग्य नहीं है, परन्तु शुभाशुभ के विकल्प से रहित, जिसमें ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम हैं — ऐसे वीतरागभाव द्वारा यह आत्मा पूजनेयोग्य है और वैसे भाव में ही आत्मा उपादेयरूप से प्रगट होता है।

अब, (टीकाकार) स्वयं मुनि हैं न ? इसलिए स्वयं की बात करते हैं कि '**उस समयसार को मैं समरस द्वारा**' समरस अर्थात् ऐसा चारित्रभाव, वीतरागभाव, अकषायभाव मुझे प्रगट हुआ है, इसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान आ गये हैं, उसके द्वारा '**सदा पूजता हूँ।**' अहा! पुजारी तो भगवान को अमुक समय-प्रात:काल ही पूजता है; जबकि यहाँ ऐसा कहते हैं कि पूजने लायक मेरे नाथ को मैं सदा पूजता हूँ। मेरे त्रिकाली आनन्दस्वरूप में मेरी सदा एकाग्रता है। यह एकाग्रपना सो समताभाव है और उस समताभाव से मैं मेरे आत्मा को सदा पूजता हूँ। कलश की भाषा देखो, कि '**समरसेन सदा परिपूजये।**' अहा! प्रत्येक कलश अमृत का कलश है।

प्रश्न — यह तो अद्भुत बात है। इसमें मन्दिर में पूजा आदि...... ?

उत्तर — भाई! ये पूजादि होते हैं। जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं हो, तबतक अर्थात् मन का संबंध हो, तबतक ऐसे भाव होते हैं; परन्तु वह कोई आत्मपूजा अथवा धर्म नहीं है।

www.vitragvani.com

अहा! वस्तु भगवान आत्मा अन्दर में स्वयं ही वीतरागमूर्ति है। उस वीतरागमूर्ति की अन्तर्मुख दृष्टि करने से एकाग्रता का भाव उत्पन्न हो, वह समरस-समता है। वह समता पुण्य और पाप के विकल्प से रहित है। उसके/समता के द्वारा ही आत्मा का आदर और आत्मा की एकाग्रता होती है। अरे! ऐसी बात इसने सुनी नहीं है।

अहा! इसके ख्याल में आना कठिन पड़े — ऐसी चीज भगवान आत्मा है। भाई! तेरा स्वरूप तो वीतरागभाव से भरा है। भाई! तू अमृत का सागर है; परन्तु तुझे अपनी कीमत और बहुमान नहीं है। तुझे या तो पैसे, स्त्री, पुत्र, मान-प्रतिष्ठा की कीमत है या पुण्य और पाप की है; परन्तु भाई! तू उनकी कीमत करने गया, इसमें तेरी कीमत का घात हो गया है; इसलिए अब तुझे अपनी कीमत करने के लिए बहुमान से अन्तरस्वभाव में एकाग्र होना चाहिए, जिससे वीतरागभाव प्रगट हो और उस वीतरागभाव द्वारा आत्मा पूजनेयोग्य है, कीमत करनेयोग्य है।

कलश ६७ पर प्रवचन

'इसप्रकार पहले निजज्ञ सूत्रकार ने........' निजज्ञ सूत्रकार=आत्मा के ज्ञानी ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव। निज भगवान आत्मा जो कि अतीन्द्रिय अमृत का पूर है, उसका जिनको अन्तर में ज्ञान हुआ है — ऐसे निजज्ञ सूत्रकार ने **(आत्मज्ञानी सूत्रकर्त्ता श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने)...'** अहा..! श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव को मुनिराज 'निजज्ञ सूत्रकार के रूप में कहते हैं-बुलाते हैं अर्थात् मुनिराज विश्वास दिलाते हैं कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव निजज्ञ हैं। आत्मा में एकाकारपनेरूप निश्चय पंचमहाव्रतधारी और व्यवहार से भी पंचमहाव्रतधारी ऐसे श्री (पद्मप्रभमलधारिदेव) मुनि ऐसा कहते हैं कि अहो! श्री कुन्दकुन्दाचार्य निजज्ञ हैं, अपने आत्मा के जानने और अनुभव करनेवाले हैं और उन्होंने इस सूत्र (शास्त्र) की रचना की है। देखो, दूसरे मुनि-ज्ञानी भी उनके (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के) लिए ऐसा कहते हैं कि वे निजज्ञ सूत्रकार हैं और उनको अनुसरण करके हम यह सब कहते हैं। यानी कि इसमें दूसरे मुनियों की साक्षी आती है और दूसरे मुनि भी उनको (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव को) ऐसा स्वीकार करते हैं — ऐसा मुझे (पूज्य गुरुदेव को) कहना है।

अहा! प्रवचनसार में भी आता है न ? श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के लिए श्री अमृतचन्द्राचार्य

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

-देव प्रवचनसार (गाथा १ से ५ के लिए उपोद्घात) में ऐसा कहते हैं कि 'जिनके संसारसमुद्र का किनारा निकट है — ऐसे कोई (आसन्न भव्य महात्मा श्रीमद्कुन्दकुन्दाचार्य), सातिशय विवेकज्योति जिनको प्रगट हुई है।' ये श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव आसन्नभव्य महात्मा हैं कि जिनको विकल्प से रहित चारित्र की रमणता प्रगट हुई है। 'और समस्त एकान्तवाद की विद्या का अभिनिवेश जिनको अस्त हुआ है — ऐसी पारमेश्वरी (परमेश्वर जिन भगवान की) अनेकान्त विद्या को पाकर, समस्त पक्ष का परिग्रह (शत्रुमित्रादिक का समस्त पक्षपात) छोड़ा होने से.....' देखो, कहते हैं कि ये हमारे पक्षवाले हैं और ये हमारे पक्षवाले नहीं हैं — ऐसा समस्त पक्षपात छूट गया है। लो, गणधर जैसे टीकाकार आचार्य श्री अमृतचन्द्राचार्य ऐसा कहते हैं कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव को शत्रु-मित्र के प्रति समभाव है। यह हमारा विरोधी है और यह हमारा साधर्मी है — ऐसा समस्त पक्षपात का भाव उनको है ही नहीं। उनको अकेला समभाव है अर्थात् अकेली वीतरागता प्रगट हुई है। इसकारण 'अत्यन्त मध्यस्थ होकर' उनको (श्री कुन्द-कुन्दाचार्यदेव को) अन्तर में शुभाशुभभाव से रहित मध्यस्थदशा-वीतरागदशा प्रगट हुई है। यह छद्मस्थ मुनि की (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की) बात चलती है और वह भी दूसरे मुनि श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव जो आचार्य हैं, वे श्री कुन्दकुन्दाचार्य के लिए ऐसा कहते हैं अर्थात् श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ऐसी पुकार करते हैं और उसीप्रकार अन्य आचार्यों मुनियों को भी उसमें साक्षी हैं — ऐसा मुझे (पूज्य गुरुदेव को) कहना है। कोई अकेले (पद्मप्रभमलधारिदेव) मुनि ने ही ऐसा कहा है — ऐसा नहीं है; परन्तु अन्य मुनियों-आचार्यों की भी इसमें साक्षी है — ऐसा कहना है।

अहा! निज अर्थात् अपना स्वभाव ज्ञान और आनन्द की मूर्ति प्रभु है; परन्तु अरे! जो राग में रुल गया है, उसको 'यह आत्मा वीतरागस्वरूप है' यह कैसे बैठे ? जो राग-द्वेष के परिणाम में पिस गया है, उसको अरे! ऐसा आत्मा कैसे बैठे ? उसको आत्मा की ऐसी महत्ता कैसे दिखे ? बाहर में किंचित् अनुकूलता होने पर जिसको प्रतिक्षण हर्ष आता है कि मेरा कितना मान! और बाहर में किंचित् प्रतिकूलता हो तो जो खेद-खिन्न हो जाता है — उसको ऐसा आत्मा कैसे बैठे ?

यहाँ कहते हैं कि इन निजज्ञ सूत्रकार ने '**जो विशुद्ध निजात्मतत्त्व का वर्णन किया है........**' देखो! ऐसा कहकर यह खूबी की है कि इसमें विशुद्ध निजात्मतत्त्व का वर्णन

www.vitragvani.com

है, वह उन्होंने श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने किया है — ऐसा कहते हैं। जिनके अन्दर से पाताल कुआँ फट पड़ा है, जिनके आत्मा के उग्र भान में आनन्द के रस की रेलमपेल है — ऐसे सूत्रकार ने यह विशुद्ध निजात्मतत्त्व का वर्णन किया है। यह बात मूलपाठ (गाथा) की अपेक्षा से कहते हैं; क्योंकि टीका तो स्वयं ने (पद्मप्रभमलधारिदेव ने) की है; परन्तु पाठ/गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने ऐसा कहा है; इसलिए यह वर्णन उन्होंने किया है — ऐसा (टीकाकार) कहते हैं।

भाई! सम्यग्दर्शन की बात तो अलग है; परन्तु तदुपरान्त यह तो जिन्होंने आत्मा की चारित्रदशा प्राप्त की है, जिनको आत्मरमणता का समुद्र उछल गया है, जिनकी दशा में वीतरागता हिलोरें मारती है तथा जिनकी पर्याय में वीतरागता का ज्वार आता है — ऐसे भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव सूत्रकर्त्ता हैं, इस ग्रन्थ के कर्त्ता हैं। निमित्तरूप से तो ऐसा ही कहा जाएगा न ? यों तो पता नहीं चलता न कि इस शास्त्र के रचनाकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव हैं और उन्होंने इसमें विशुद्ध आत्मतत्त्व का निरूपण किया है और उसका अनुसरण करके हमने कहा है — ऐसा मुनिराज कहते हैं। यहाँ 'विशुद्ध' शब्द निर्मलता के अर्थ में है, किन्तु विकल्प या शुभराग के अर्थ में नहीं।

अब, इतनी बात करके बहुत संक्षेप में कहते हैं कि '**....और जिसको जानकर भव्यजीव मुक्ति को प्राप्त करते हैं।**' बस, इतनी बात है कि उसको जानकर, तथापि उसका इतना वजन (फल) है कि भव्यजीव मुक्ति को प्राप्त करते हैं। अहा! यहाँ मात्र 'जानकर' इतनी ही बात ली है। परम अमृतमय अतीन्द्रियरस का कन्द ऐसे भगवान आत्मा का भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने वर्णन किया है, उसको जो जीव बस, **बुद्ध्वा**-जानता है अर्थात् जो उसकी कीमत करता है, वह जीव मुक्ति को प्राप्त करता है। देखो, इसमें यह नहीं कहा है कि यह संस्कृत अथवा दूसरा कुछ जानकर मुक्ति को प्राप्त करता है; परन्तु 'जानकर' अर्थात् इन आत्मज्ञ श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जिसप्रकार आत्मा का वर्णन किया है, उसको जानकर मुक्ति को प्राप्त करता है — ऐसा कहते हैं। यों तो अज्ञानी आत्मा के संबंध में बहुत बातें किया करते हैं; परन्तु वस्तु वैसी नहीं है।

कहते हैं कि '**जिसको जानकर**' अर्थात् भगवान समयसार को जानकर.....जैसा आत्मा का स्वरूप इसमें वर्णन किया है, वैसा जानकर....देखो, अकेला सुनकर — ऐसा

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

नहीं कहा; परन्तु अन्दर से जानकर — ऐसा कहते हैं तथा जानकर अर्थात् मात्र परलक्ष्यी ज्ञान करके — ऐसा भी नहीं, परन्तु जानकर अर्थात् अनुभव करके। अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द के वेदनपूर्वक आत्मा का अनुभव करके '**भव्यजीव मुक्ति को प्राप्त करता है।**' अहा! स्वयं समयसारस्वरूप होकर श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार का-आत्मा का वर्णन किया है; अतः उसे जानकर भव्यजीव मुक्ति को प्राप्त करता है। लो, इसप्रकार भव्यजीव मुक्ति को प्राप्त करता है।

प्रश्न — मुक्ति तो अभी नहीं है, इसलिए हमको दूसरा कुछ करना या नहीं ?

उत्तर — अरे! सुन भगवान! जितने अंश में मिथ्यात्व और रागादि का अभाव हुआ, उतनी (इस काल में भी) मुक्ति है। पर्याय में पूर्ण मुक्ति तो जब पूर्ण रागरहित होगा तब होगी; परन्तु उसकी (रागरहित होने की-मुक्ति की) शुरूआत तो अभी हो गई है न! मुक्ति के मार्ग पर प्रयाण तो अभी शुरू हो गया है न! (इसलिए उतने अंश में मुक्ति ही है।)

अहा! जिस आत्मा को जानकर भव्यजीव-लायकजीव मुक्ति को प्राप्त करता है, '**उस निजात्मतत्त्व को उत्तमसुख की प्राप्ति के लिए मैं भाता हूँ।**' उत्तमसुख=अतीन्द्रिय आनन्द, मुक्ति। अहा! मैं उत्तमसुख की-पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिए मेरे आत्मा में एकाग्रता करता हूँ। यह मेरी भावना है और यह मेरा भाव है। बाकी यह लिखने के समय विकल्प है, वह भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि विकल्प की जाति तो दूसरी है अर्थात् विकल्प दूसरा, वाणी दूसरी और मैं भी दूसरा हूँ — ऐसा कहते हैं। देखो, आत्मा को जाने अर्थात् अनुभव करे, वह मार्ग है और उसके फलरूप इस उत्तमसुख की प्राप्ति होती है।

अरे! इसने ऐसे मनुष्यपने में आकर भी करनेयोग्य कार्य के लिए समय नहीं निकाला और नहीं करनेयोग्य कार्य के लिए-नहीं करने जैसे कार्य में समय गँवाया है। एक तो राग की मजदूरी करके दुःख प्राप्त किया और फिर उसके फलरूप प्राप्त सामग्री में जुड़कर भी दुःख पाया। तात्पर्य यह है कि वर्तमान में भी दुःख पाया और फिर उसके फल में भी दुःख पाया।

प्रश्न — क्या वास्तव में ऐसा होगा ? परन्तु से सब पैसेवाले सुखी कहलाते हैं न?

उत्तर — वे धूल भी सुखी नहीं हैं। वस्तुतः पैसेवाले कहना किसको ? क्योंकि

www.vitragvani.com

पैसा अर्थात् धूल। तो क्या आत्मा धूलवाला होगा ? अरे! वे बिचारे दु:खी हैं, क्योंकि अपने स्तरप्रमाण उनको मकान चाहिए, लड़की का घर चाहिए, अच्छे घर की कन्या चाहिए इत्यादि। देखो, अन्दर कितनी माया बढ़ गई है ? इसलिए कहते हैं कि माया से (मिथ्यात्व से) घिरे होने से वे बिचारे दु:खी हैं।

'एक सुखिया जगत में संत, दुरिजन दुखिया रे.......' जिसने आत्मा की भावना भायी है, वह सुखी है और जिसने पर की भावना भायी है, वह दु:खी है।

प्रश्न — परन्तु ऐसा सब-ऐसा ऊँचा कब हो ? इसके पूर्व थोड़ा-बहुत कोई दूसरा रास्ता होगा या नहीं ?

उत्तर — भाई! क्या पहले यह दूसरे उल्टे रास्ते जाए तो फिर सच्चे रास्ते आवे ऐसा होगा ? जाना हो पूर्व की ओर और यह पश्चिम की ओर दौड़े तो क्या वह पूर्व में आएगा-ऐसा होगा ? बापू! (ऊँचा लगे तो भी) मार्ग तो यह है और यह मार्ग इसके ज्ञान में रुचना चाहिए। अहा..! स्वयं निवृत्तमय है और उसमें समा जाना वह सार है अर्थात् समझकर समाने में सार है; इसलिए कहते हैं कि मेरे आत्मा में एकाग्र होता हूँ। मेरे आत्मा की भावना भाता हूँ।

कलश ६८ पर प्रवचन

'**परमात्मतत्त्व आदि-अन्तरहित है।**' स्वयं अन्दर परमात्मा है और उस परमात्मतत्त्व का निजस्वरूप आदि-अन्तरहित है। परमात्मतत्त्व अर्थात् यह निजानन्दमय ध्रुव। अपना होनापना (अस्ति) आदि-अन्तरहित है अर्थात् ऐसे तत्त्व की कोई आदि नहीं है; क्योंकि जो अनादि से है, उसको आदि क्या ? और उसका अंत भी क्या ?

वह '**दोषरहित है।**' उसमें दोष नहीं है। वह तो निर्दोष आनन्दकन्द प्रभु है। जो कुछ निर्दोषता तू प्रगट करना चाहता है, उस समस्त निर्दोषता से भरा तत्त्व यह आत्मा ही है; परन्तु अरे! दोष में डूबे हुए को दोषरहित ऐसा तत्त्व कैसे बैठे ? राग में आच्छादित को ऐसी निर्दोष चीज की प्रतीति कैसे आए ? और उस प्रतीति के बिना चौरासी लाख योनियों के अवतार कभी नहीं मिट सकते।

अहा...! इस मनुष्यभव में यह पाँच-पच्चीस वर्ष रहे। अधिक कितना रहे ? कदाचित् पचास-साठ वर्ष रहे, तब भी फिर मरकर जाए ढोर में-कौआ, कुत्ता आदि

में जाए। वहाँ (पशु में) तो कुछ भान ही नहीं होता, इसलिए मांसादि का भक्षण करता है और इससे मरकर नरक में जाता है; जबकि यहाँ मनुष्यपने में तो अभी आर्यरूप हो, इसलिए मांसादि का भक्षण नहीं करता; परन्तु यहाँ मिथ्यात्व का सेवन किया है अर्थात् अनार्यदृष्टि का सेवन किया है; इसलिए उसके फल में ऐसे अवतार होते हैं कि जहाँ यह भान भी नहीं रहता कि मांसादि भक्षण के योग्य नहीं हैं। इसप्रकार अज्ञानदशा के फल में ऐसी चार गतियाँ प्राप्त होती हैं और भानदशा के फल में यह मुक्ति को प्राप्त करता है — ऐसा यहाँ कहते हैं।

कहते हैं कि परमात्मतत्त्व आदि-अन्तरहित है, दोषरहित है और '**निर्द्वन्द्व है।**' दो-पना अर्थात् विकल्प के साथ जुड़ान ही जिसमें नहीं है — ऐसा अखण्डानन्द प्रभु आत्मा द्वन्द्व-दो-पनारहित है अर्थात् वह अकेला चैतन्यपिण्ड प्रभु है।

'**और अक्षय विशाल उत्तम ज्ञानस्वरूप है।**' परमात्मतत्त्व ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञान कैसा है ? 'अक्षय' है-ज्ञानस्वरूप क्षय न हो ऐसा है, 'विशाल' है-अनन्त है और 'उत्तम' है। इसप्रकार वह परमात्मतत्त्व अक्षय विशाल उत्तमज्ञानस्वरूप है। वह तत्त्व अकेले चैतन्यमणिरत्नों से भरपूर है।

'**जगत में जो भव्यजन उसकी भावनारूप परिणमित होते हैं........**' शरीर, वाणी, मनरहित तथा पुण्य-पाप के रागरहित — ऐसे अन्दर स्थित आत्मा की भावनारूप से अर्थात् एकाग्रतारूप से जो परिणमित होते हैं....भावना अर्थात् जो चिन्तवन अथवा विकल्प है, वह नहीं; परन्तु त्रिकाली भाव की एकाग्रता। त्रिकाली स्वभावभाव की एकाग्रतारूप जो परिणमित होते हैं-वैसी दशा को जो प्रगट करते हैं '**वे भवजनित दुःखों से दूर**'-भव से उत्पन्न हुए दुःखों से....देखो, यहाँ तो भव से दुःख ही उत्पन्न होता है — ऐसा कहते हैं। कैसा भी भव हो, सेठ का, राजा का अथवा देव का भव हो; उन सबमें भवजनित दुःख ही है। वे '**भवजनित दुःखों से दूर ऐसी सिद्धि को पाते हैं।**' भवजनित दुःखों का नाश करके, आनन्दमय मूर्ति ऐसा भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द की पर्याय को प्राप्त करता है। ●

द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है। - पूज्य गुरुदेवश्री

नियमसार गाथा–४४

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥४४॥

निर्ग्रन्थो नीरागो निःशल्यः सकलदोषनिर्मुक्तः।
निःकामो निःक्रोधो निर्मानो निर्मदः आत्मा ॥४४॥

(हरिगीत)

निर्ग्रन्थ है, निराग है, निःशल्य, जीव अमान है।
सब दोष रहित, अक्रोध, निर्मद जीव यह निष्काम है॥४४॥

गाथार्थ :— आत्मा निर्ग्रन्थ, निराग, निःशल्य, सर्वदोषविमुक्त, निष्काम, निःक्रोध, निर्मान और निर्मद है।

टीका :— यहाँ (इस गाथा में) भी शुद्धजीव का स्वरूप कहा है।

शुद्ध जीवास्तिकाय बाह्य–अभ्यंतर चौबीस[१] परिग्रह के परित्यागस्वरूप होने से निर्ग्रन्थ है; सकल मोह–राग–द्वेषात्मक चेतनकर्म के अभाव के कारण निराग है; निदान, माया और मिथ्यात्व — इन तीन शल्यों के अभाव के कारण निःशल्य है; शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीवास्तिकाय को द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होने के कारण सर्वदोषविमुक्त है; शुद्ध निश्चयनय से निज परमतत्त्व की भी वांछा न होने से निष्काम है; निश्चयनय से प्रशस्त–अप्रशस्त समस्त परद्रव्यपरिणति का अभाव होने के कारण निःक्रोध है; निश्चयनय से सदा परमसमरसीभावस्वरूप होने के कारण निर्मान है; निश्चयनय से निःशेषरूप से अंतर्मुख होने के कारण निर्मद है। उक्तप्रकार का (ऊपर कहे हुए प्रकार का), विशुद्ध सहजसिद्ध नित्य–निरावरण निज कारणसमयसार का स्वरूप उपादेय है।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री प्रवचनसार की टीका में ८वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

---

१. क्षेत्र, मकान, चाँदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बर्तन — ऐसा दसप्रकार का बाह्यपरिग्रह है; एक मिथ्यात्व, चार कषाय और नौ नोकषाय — ऐसा चौदहप्रकार का अभ्यन्तरपरिग्रह है।

www.vitragvani.com

(मंदाक्रान्ता)

''इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः।
सच्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव॥''

(वीरछन्द)

इसप्रकार जिस भव्यजीव ने पर-परिणति का नाश किया।
कर्त्ता कर्म आदि भेदों की भ्रमणा का भी नाश किया॥
शुद्ध आत्मा को पाकर चिन्मात्र तेज में लीन रहें।
स्वाभाविक माहात्म्य प्रकाशस्वरूप सर्वदा मुक्त रहे॥

श्लोकार्थ :— इसप्रकार परपरिणति के उच्छेद द्वारा (अर्थात् परद्रव्यरूप परिणमन के नाश द्वारा) तथा कर्ता, कर्म आदि भेद होने की जो भ्रान्ति उसके भी नाश द्वारा अन्त में जिसने शुद्ध आत्मतत्त्व को उपलब्ध किया है — ऐसा यह आत्मा, चैतन्यमात्ररूप विशद (निर्मल) तेज में लीन रहता हुआ, अपनी सहज (स्वाभाविक) महिमा के प्रकाशमानरूप से सर्वदा मुक्त ही रहेगा।

और (४४वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं)—

(मंदाक्रान्ता)

ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तसंघातकात्मा
नित्यानन्दाद्यतुलमहिमा सर्वदा मूर्तिमुक्तः।
स्वस्मिन्नुच्चैरविचलतया जातशीलस्य मूलं
यस्तं वन्दे भवभयहरं मोक्षलक्ष्मीशमीशम्॥६९॥

(वीरछन्द)

जिसने ज्ञान ज्योति द्वारा अघ अंधकार का नाश किया।
आनन्दादि अतुल महिमाधारी, जो रहे अमूर्त सदा॥
जो अपने में अविचलपन से रहे शील का मूल सदा।
भवभयहारी मुनिश्रीपति ईश्वर को वन्दन करता॥६९॥

श्लोकार्थ :— जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापरूपी अंधकारसमूह का नाश किया है, जो नित्य आनन्द आदि अतुल महिमा का धारण करनेवाला है, जो सर्वदा अमूर्त है, जो

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अपने में अत्यन्त अविचलपने द्वारा उत्तमशील का मूल है, उस भव-भय को हरनेवाले मोक्षलक्ष्मी के ऐश्वर्यवान स्वामी को मैं वन्दन करता हूँ।।६९।।

गाथा ४४ की टीका पर प्रवचन

'यहाँ (इस गाथा में) भी शुद्धजीव का स्वरूप कहा है।' यह 'शुद्धभाव' अधिकार है न! इसलिए यहाँ आत्मा, जो कि त्रिकाल पवित्र-शुद्ध है, उसके स्वरूप का वर्णन है।

यहाँ ४४वीं गाथा में **'अप्पा'** — आत्मा — ऐसा शब्द प्रयोग किया है। तो, आत्मा अर्थात् शुद्धभाव अर्थात् शुद्ध जीवास्तिकाय अर्थात् समयसार अर्थात् परमतत्त्व किसको कहते हैं, उसकी यहाँ व्याख्या है। जिसको ध्यान का विषय बनाने से, ध्येय बनाने से, ध्यान का लक्ष्य बनाने से सम्यग्दर्शन होता है, उस त्रिकाली आनन्दधाम ध्रुव आत्मा का स्वरूप यहाँ कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जिसके ध्यान से प्रथम धर्म-शान्ति की श्रेणी प्रगट होती है — ऐसा ध्येयरूप आत्मा किसको कहना, यह उसकी व्याख्या है।

(३३) (निर्ग्रन्थ की व्याख्या) अन्दर भगवान आत्मा कैसा है ? कि निर्ग्रन्थ है। वस्तु स्वयं निर्ग्रन्थ है। **'शुद्ध जीवास्तिकाय....'** - शुद्ध+जीव+अस्ति+काय=पवित्र+जीव+होनापना+असंख्यप्रदेशों का समूह। देखो! 'शुद्ध जीवास्तिकाय' कहा; क्योंकि यह काय की/असंख्यप्रदेशों की बात वीतराग के सिवाय अन्य कहीं नहीं हो सकती। असंख्यप्रदेशी और अनन्तगुणों का पिण्ड — ऐसा जो निजस्वरूप है, वह **'बाह्य-अभ्यंतर चौबीस प्रकार के परिग्रह के परित्यागस्वरूप होने से निर्ग्रन्थ है।'** आत्मा को बाह्य-अभ्यंतर चौबीस प्रकार का परिग्रह है ही नहीं। वस्तु में उसका त्याग ही है, परित्याग है। परित्याग अर्थात् समस्तप्रकार से त्यागस्वरूप होने से वह (आत्मा) निर्ग्रन्थ है। जो ऐसे निर्ग्रन्थ आत्मा का उग्ररूप से अवलम्बन लेता है, उसकी पर्याय में निर्ग्रन्थदशा प्रगट होती है; जिसको निर्ग्रन्थ मुनि कहा जाता है।

अहा! पुण्य और पाप के भाव तो गाँठ (ग्रंथि) हैं; जबकि यह आत्मा ग्रंथ (गाँठ) रहित निर्ग्रन्थ है — ऐसे आत्मा का भान होने से सम्यग्दृष्टि भी दृष्टि की अपेक्षा से निर्ग्रन्थ ही है। आत्मा निर्ग्रन्थ है न! इसलिए उसकी दृष्टिवाला भी निर्ग्रन्थ ही है। उसकी पर्याय में बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह नहीं है — ऐसा अद्भुत काम है भाई!

किसी दिन मुश्किल से सुनने का समय मिले, वहाँ उपदेश में ऐसी बात आती है ?

भाई! सुननेयोग्य और करनेयोग्य भी यही है। अन्य सब तो धूल-धाणी है। कदाचित् कोई बाहर में साधु हो और उसको पंचमहाव्रत के परिणाम हों, तो भी वह धर्म नहीं है।

यहाँ देखो, 'शुद्धभाव' के लिए पहला शब्द 'शुद्ध जीवास्तिकाय' प्रयोग किया है। वह त्रिकाली शुद्धभाव शरीर, वाणी, कर्म से तो रहित है; परन्तु पुण्य-पाप के विकल्प से भी रहित है तथा एकसमय की पर्याय से भी रहित है। पर्याय अर्थात् अवस्था और उससे त्रिकाली-अनादि-अनन्त रहनेवाला चैतन्य भगवान शुद्ध जीवास्तिकाय भिन्न है।

शुद्ध जीवास्तिकाय अर्थात् ?

जीव वस्तु है, वह पवित्र और असंख्यप्रदेशी है, उसको शुद्ध जीवास्तिकाय कहा जाता है। प्रत्येक आत्मा का ऐसा त्रिकालीतत्त्व बाह्य-अभ्यंतर चौबीस प्रकार के परिग्रह के परित्यागस्वरूप होने से निर्ग्रन्थ है; इसलिए प्रत्येक आत्मा का अन्तरस्वरूप तो निर्ग्रन्थमय है। उसमें मिथ्यात्वादि अथवा क्षेत्र, मकानादि चौबीस प्रकार के परिग्रह का अभाव है। अरे! जब एकसमय की पर्याय का भी अभाव है, तो फिर चौबीसों परिग्रह का अभाव तो होगा ही।

नित्यानन्द-सच्चिदानंद प्रभु भगवान आत्मा का स्वभाव निर्ग्रन्थ है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप वस्तु है। सत् अर्थात् शाश्वत और चिद्+आनन्द अर्थात् ज्ञान और आनन्द का पूर्ण भण्डार है — ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय में चौबीस प्रकार का परिग्रह नहीं है अर्थात् परिग्रह की ममता और उसका कारण ऐसा बाह्यपरिग्रह — ये दोनों नहीं हैं; इसलिए वह निर्ग्रन्थ हैं और जिसकी दृष्टि सम्यक् हुई है, जिसको नित्यानन्द चैतन्यप्रभु आत्मा का अनुभव हुआ है, जिसके श्रद्धा और ज्ञान में उसका स्वीकार हुआ है, वह सम्यग्दृष्टि भी निर्ग्रन्थ ही है। भाई! बातें बहुत कड़क हैं।

अहा! जिसमें पुण्य और पाप के राग की गाँठ भी नहीं है — ऐसा यह निर्मलानन्द प्रभु आत्मा निर्ग्रन्थ है। इसकारण ऐसे निर्ग्रन्थस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि करनेवाला (श्रद्धा अपेक्षा से) पर्याय में निर्ग्रन्थ होता है और उसमें विशेष स्थिरता करनेवाला चारित्र की अपेक्षा से निर्ग्रन्थ होता है।

www.vitragvani.com

(१) **क्षेत्र-जमीन —** आत्मा जमीन रहित है अर्थात् आत्मा को पर का क्षेत्र नहीं है। 'यह (भारत) हमारा देश' — ऐसा परक्षेत्र आत्मा में है ही नहीं। इसकारण सम्यग्दृष्टि को भी 'यह हमारा देश है' — ऐसी मान्यता है ही नहीं। सम्यग्दृष्टि का तो असंख्यप्रदेशी देश है। अनन्त गुणमणिरत्नों से भरपूर ऐसा जो सागर समान भगवान आत्मा है, वह उसका देश है। 'श्रीमद्राजचन्द्र' पुस्तक में आता है न कि —

'हम परदेशी पंखी साधु, आ रे देश के नाहीं रे.....' (पत्र नं. २८६, वर्ष २४) इस देश के क्षेत्र, मकान, राग के हम नहीं हैं। हमारा देश तो अनन्त आनन्दमय जो आत्मा है, वह है। देखो न! खेत के लिए दो भाई भी मरने तक लड़ते हैं न! अरे! किसका खेत और किसका गाँव...बापा!

(२) **मकान —** भाई! मकान किसका ? क्योंकि वह तो परिग्रह है न ? और आत्मा में तो वह है नहीं। भगवान आत्मा तो देश और मकान से रहित है। उसके स्वरूप में वह चीज (मकानादि) है ही नहीं तथा आत्मा का भान होनेवाले को भी मकान नहीं है। (अर्थात् ज्ञानी मकान को अपना नहीं मानता।) फिर भी अज्ञानी ममता से उसको अपना मानता है।

(३) **चाँदी,** (४) **सोना,** (५) **धन- लक्ष्मी, धान्य-अनाज —** लाखों-करोड़ों मन गेहूँ अथवा बाजरा इत्यादि।

(७) **दासी,** (८) **दास** — काम करनेवाले नौकर, (९) **कपड़ा —** देखो, कपड़ा परिग्रह है। कपड़ा परिग्रह में आया या नहीं ? इसलिए कपड़ा रखनेवाला मुनि नहीं है — ऐसा कहते हैं।

***प्रश्न* —** अल्प वस्त्र रखे तो वह तो नहीं रखने जैसा है न ?

***उत्तर* —** बिलकुल नहीं। मुनि को अल्प कपड़ा भी कैसा ? कपड़ा परिग्रह ही है। वह आत्मा में तो नहीं; परन्तु आत्मदृष्टिवन्त को भी दृष्टि की अपेक्षा से नहीं है; जबकि मुनि को तो अस्थिरता की अपेक्षा से-अस्थिरता में भी कपड़ा नहीं है — ऐसा अद्भुत मार्ग है।

(१०)**...और बर्तन —** एक बर्तन-पात्र का टुकड़ा भी परिग्रह है। **'ऐसा दसप्रकार का बाह्यपरिग्रह है।'** यह दसप्रकार का बाह्यपरिग्रह आत्मा में नहीं है।

अब कहते हैं कि '**एक मिथ्यात्व....**' चौदहप्रकार के अभ्यंतर-अंतरंग परिग्रह हैं न; उनमें पहला मिथ्यात्व परिग्रह है। मिथ्यात्व अर्थात् दर्शनमोह (कर्म प्रकृति) नहीं; किन्तु जीव का मिथ्यात्वभाव और वह महापरिग्रह है, अभ्यंतर परिग्रह है। जिसने पुण्य-राग के कण को भी अपना माना है, उसको मिथ्यात्व का महापरिग्रह है। अरे! अज्ञानी को तो इस मिथ्यात्व परिग्रह का त्याग करना चाहिए, इसका पता भी नहीं है और बाहर से स्त्री-पुत्रादिक छोड़कर साधु नाम धराता है। अहा! चैतन्यस्वभावी आनन्दमय प्रभु आत्मा से भिन्न एक विकल्प को भी अपना मानना वह मिथ्यात्व परिग्रह है। जबतक उस परिग्रह का त्याग नहीं होता, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता। आत्मा तो परिग्रह रहित ही है; परन्तु ऐसी दृष्टि, राग का एकत्व टूटे बिना और स्वभाव का एकत्व हुए बिना नहीं होती।

'**चार कषाय**' — क्रोध, मान, माया और लोभ — ये परिग्रह हैं। अज्ञानी मानता है कि हमको इतना क्रोध तो करना ही पड़ता है, इतना मान तो हमारी पदवी अनुसार होता ही है। यहाँ कहते हैं कि धूल भी ऐसा नहीं होता, सुन न! क्योंकि वह तो परिग्रह है। इसीप्रकार माया और लोभ भी परिग्रह है — ये चारों कषायें अन्तरंग परिग्रह हैं। इसलिए यदि कोई बाहर का परिग्रह छोड़ बैठे, परन्तु यदि अन्तरंग परिग्रह को नहीं छोड़े तो वह त्यागी नहीं है।

'**और नौ नो कषाय**' — स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद — ये तीन वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा — ये नौ नोकषाय हैं।

'**ऐसा चौदह प्रकार का अभ्यंतर परिग्रह है।**' और वह पूर्णस्वरूप शुद्ध चैतन्य भगवान आत्मा में नहीं है; परन्तु अरे! ऐसा आत्मा अज्ञानी को कैसे बैठे ? क्योंकि उसकी दृष्टि तो वर्तमानदशा पर ही है और ऐसी दृष्टिवाला (अज्ञानी) दृष्टि को विस्तृत करता है तो वह राग और परद्रव्य पर जाती है; इसलिए अन्दर विद्यमान महावस्तु आत्मा का उसको पता नहीं है।

यहाँ कहा है कि त्रिकाल रहनेवाला वह तत्त्व (आत्मा) तो निर्ग्रन्थस्वरूप है। निर्ग्रन्थपने से उसकी महत्ता है; परन्तु पैसे से, प्रतिष्ठा से उसकी महत्ता नहीं है।

(३४) (निराग की व्याख्या) आत्मा निराग है। पूर्व गाथा में भी निराग का बोल आ गया है। वहाँ आत्मा को चौदह प्रकार के अभ्यंतर परिग्रह से रहित कहा था; जबकि

www.vitragvani.com

यहाँ संक्षेप में कहा है कि '**सकल मोह-राग-द्वेषात्मक चेतनकर्म के अभाव के कारण निराग है।**' इतना बतलाया है। पर्याय में मोह-राग-द्वेष होते हैं, उन सबका अभाव होने के कारण भगवान आत्मा निराग है अर्थात् रागरहित वस्तु है। ये रागादि उसकी पर्याय में हों; परन्तु वस्तु में नहीं हैं। जिसको वस्तु कहते हैं उसमें और उसकी दृष्टि में भी राग नहीं है; इसलिए आत्मा निराग है।

आत्मा के अपने स्वरूप को भूलने से उसकी दशा में मिथ्यात्वभाव-भ्रमभाव और राग-द्वेषभाव होते हैं। वे सब चैतन्य के विकारी/अशुद्ध/मलिनपरिणाम हैं। उन परिणामों का वस्तु में अभाव है; इसलिए आत्मवस्तु तीनों काल निराग है। इसप्रकार सच्चिदानन्द-स्वरूप त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा त्रिकाल निरावरण और निराग है तथा अन्तरंग में उसका स्वीकार होने पर दशा में भी निरागता का परिणमन होता है, जिसको धर्म कहते हैं। भाई! व्याख्या अद्भुत है।

(३५) **(निःशल्य की व्याख्या)** अब भगवान आत्मा तीन शल्य रहित है — ऐसा कहते हैं। भगवान=भग+वान=ज्ञान और आनन्दस्वरूप। ज्ञान और आनन्द जिसका स्वरूप है — भगवान आत्मा ऐसा है और ऐसा भगवान आत्मा निःशल्य है। निदान, माया और मिथ्यात्व — ये तीन शल्य हैं। इसकी दशा में ये तीन शल्य हों; परन्तु वस्तु में नहीं हैं। इसकारण अर्थात् वस्तु शल्यरहित होने से दशा में भी शल्यरहित हुआ जा सकता है।

'**निदान**' — कोई भी शुभक्रिया करके हेतु बाँधना कि पैसा मिले, स्वर्ग मिले — यह सब निदान शल्य है। कुछ पुण्य करेंगे तो स्वर्ग मिलेगा अथवा धूल के सेठ कहलाएँ ऐसी सेठाई मिलेगी। इसप्रकार क्रिया के फल का हेतु बाँधना निदान शल्य है और वह वस्तु में/आत्मा के निजस्वरूप में नहीं है; क्योंकि वस्तु तो निर्मलानन्द प्रभु है; इसलिए आत्मा निदान शल्यरहित है।

'**माया**' — अर्थात् कपट। यह कपट माया शल्य है और भगवान आत्मा इस शल्य से रहित है।

'**मिथ्यात्व**' — विपरीत मान्यतारूपी शल्य। पुण्य में धर्म है और पाप में आनन्द है इत्यादि ऐसी जो मिथ्याभ्रान्ति है, वह मिथ्यात्व का महाशल्य है और वह वस्तु में

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

नहीं है। अरे! अपनी जात ऐसी होने पर भी अर्थात् स्वयं ही परमात्मस्वरूप है तो भी अज्ञानी को उसका भान नहीं है। अहा! भगवान आत्मा भानरहित होकर चौरासी लाख योनियों के अवतार में परिभ्रमण करता है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा तीन शल्यरहित निःशल्य है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय ७/सूत्र १८ में) यतियों को निःशल्य कहा है। तात्पर्य यह है कि सच्चे व्रतधारी मिथ्यात्व, माया और निदान शल्य से रहित ही होते हैं और तभी उनके सच्चे व्रत हैं। यों कोई बाहर से व्रत ले बैठे और तपश्चर्या-उपवासादि करे तो भी आत्मा की, जो कि अखण्डानन्द पूर्ण शुद्ध और आनन्द का धाम है, उसकी दृष्टि और अनुभव का पता न हो तो उस क्रियाकाण्डी के सच्चे व्रत या तप नहीं होते। कोई उपवास करे, व्रत ले और कोई आहार-पानी छोड़कर दो महीने की समाधि भी करे; परन्तु यदि उसको आत्म-अनुभव नहीं है, आनन्द के नाथस्वरूप भगवान आत्मा की अनुभवदृष्टि नहीं है तो वह सब क्रियाकाण्ड के करनेवाले थोथा (अज्ञानी) हैं, चारगति में परिभ्रमण करनेवाले हैं; क्योंकि मेरा घर कैसा है ? इसप्रकार अपना घर देखा नहीं है और निज घर को जाने बिना क्रियाकाण्ड की समस्त प्रवृत्तियाँ चारगति में भटकानेवाली हैं।

अन्दर आत्मा कौन (कैसा) है ? वह कैसी वस्तु है ? कि आत्मा निःशल्य है और उसका आश्रय लेने से पर्याय में भी शल्य नहीं रहती; क्योंकि वह निःशल्य वस्तु है। अहा! अकेला ज्ञान और आनन्द का भण्डार अर्थात् अनन्तज्ञान और अनन्त-आनन्दमय जो स्वरूप है उसकी — ऐसा जो स्वभाव है, उस स्वभाव की, वहाँ (आत्मा में) वीणा बजती है; इसलिए ऐसे भगवान आत्मा में, पूर्णानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में-शल्य कैसा ? और जिसको पूर्णानन्द आत्मा का स्वीकार हुआ है, उसको भी अब शल्य कैसा ? तात्पर्य यह है कि जिसको परम आनन्द की बादशाही प्रगट हुई है, वह निःशल्य है।

मैं शुभराग करूँ और पुण्य बँधे तो देव होऊँ, स्वर्ग में जाऊँ अथवा सेठपना प्राप्त हो (ऐसी इच्छा करनेवाले), सभी मिथ्यात्व की शल्यवाले भिखारी हैं, जगत के रंक प्राणी हैं; जबकि अन्दर में चिदानन्द की मूर्ति आत्मा बादशाह है। जिसको ऐसा अन्तरभान हुआ, उसको अब कोई शल्य रहा ही नहीं। अब उसको निदान कैसा ? माया कैसी ? और मिथ्यात्व कैसा ? जिसको आत्मा ज्ञाता-दृष्टारूप अनुभव में आता है, वह बादशाह है और जगत में वह एक ही सुखी है।

www.vitragvani.com

'सुखिया जगत में संत, दुरिजन दुखिया रे....' परन्तु संत अर्थात् यह (सम्यग्दृष्टि), बाकी बाहर में बाबा होकर, तिलक-छापा करके फिरनेवाले कोई संत नहीं हैं; वे सब तो ठग हैं।

यहाँ कहते हैं कि पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा अन्दर पूर्ण स्वभाव से भरा पदार्थ है। जब उसका अन्तरभान होता है, तब शल्य नहीं रहता। जिसने अन्तर्मुख होकर आत्मा का ऐसा स्वरूप शोधा, खोजा और घोलन किया, वह निःशल्य हो गया। ऐसी दशावन्त को एक राग का विकल्प उत्पन्न हो, वह भी जहर जैसा दिखता है। तात्पर्य यह है कि दया, दान, व्रत का विकल्प-राग वासना उत्पन्न हो, वह भी जहररूप दिखता है। भाई! यह बात अद्भुत है!

(३६) (सर्वदोष विमुक्त की व्याख्या) 'शुद्ध निश्चयनय से........' — शुद्ध=पवित्र; निश्चय=सत्य; नय=ज्ञान। जिस ज्ञान से-नय से पवित्रता से पूर्ण प्रभु आत्मा को देखते हैं, उस नय को शुद्ध निश्चयनय कहा जाता है। इस सत् भगवान आत्मा का सत्त्व ज्ञान, आनन्द आदि है। अतः उसको देखनेवाली दृष्टि से देखें तो अर्थात् भगवान आत्मा के अन्तर के सत्त्व की-मूलस्वभाव की-दृष्टि से देखने से 'शुद्ध जीवास्तिकाय को-पवित्र आत्मा को........'**द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होने के कारण सर्वदोष विमुक्त है।'**

प्रश्न — कोई कहता है कि अन्तःकरण विशिष्ट वह जीव और मलिनतारहित वह आत्मा ?

उत्तर — भाई! आत्मा कहो या जीव कहो, वह एक ही चीज है। वह आत्मा ही स्वयं भूला है और राग-द्वेष करता है। इसकारण उसको अन्तःकरण विशिष्ट जीव कहा जाता है और उसको ही अशुद्ध आत्मा भी कहते हैं; तथापि वह आत्मा वस्तुरूप से तो अशुद्ध नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा में जड़कर्म है ही नहीं। द्रव्यकर्म अर्थात् जड़कर्म। अरे! पूर्णस्वभावी प्रभु आत्मा को इन जड़कर्मों ने स्पर्श ही नहीं किया। भावकर्म अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्प। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा और काम, क्रोध के भाव वस्तु में नहीं हैं; क्योंकि यह तो विकल्प की वृत्तियों का उत्थान है; इसलिए वे वस्तु में नहीं हैं और यह आत्मा ऐसा है, उसका इसीप्रकार अन्तर में अनुभव किये बिना इसके जन्म-मरण की गाँठ गलनेवाली नहीं है। इसके जन्म-मरण मिटनेवाले नहीं हैं। नोकर्म अर्थात्

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

शरीरादि। इन शरीर, वाणी इत्यादि को नोकर्म कहते हैं और वे भी आत्मा में नहीं हैं।

ज्ञानावरणादि रजकणों को, कि जिनको नसीब (भाग्य) कहते हैं, उनको द्रव्यकर्म कहते हैं, पुण्य-पाप के विकल्पों की उत्पत्ति को भावकर्म कहते हैं और इन शरीर, वाणी इत्यादि को नोकर्म कहते हैं। ये तीनों ही वस्तु में (आत्मा में) नहीं हैं और ये नहीं हैं तो 'नहीं' हो सकते हैं।

आशय यह है कि आत्मवस्तु में ये तीनों नहीं हैं तो जीव पर्याय में-दशा में भी इन तीनरहित हो सकता है।

यहाँ यह कहा है कि आत्मा सर्वदोष विमुक्त है। लो, यह '**सयलदोसणिमुक्को**' की व्याख्या की। पूर्व गाथा में एक 'निर्दोष' का बोल आ गया है। इसीतरह यहाँ कहा है कि प्रभु आत्मा सर्वदोष से विमुक्त है — ऐसे निर्मलानन्द प्रभु आत्मा का आश्रय लेने से-उसका अवलम्बन करने से वर्तमानदशा में भी सर्वदोषरहित हुआ जा सकता है।

प्रश्न — जैन का स्वरूप ऐसा होगा ? जैन में तो ऐसा होता है कि यह व्रत करना, उपवास करना और तप करना। फिर उसमें यह सब कहाँ से निकाला ?

उत्तर — बापू! तुझे पता नहीं है। यह सब तेरे घर में ही है। वीतरागमार्ग में तो यह स्वरूप है; परन्तु तुझको इसकी खबर नहीं है। अरे! इसकी पूँजी कितनी है, घर में कितने निधान हैं, इसकी इसे खबर नहीं है और मूर्ख बाहर में खोजने जाता है। घर में भण्डार भरा है; परन्तु इसकी इसको खबर नहीं है; इसलिए बाहर से मिलेगा, पर्वत चढ़ने से मिलेगा, शत्रुंजय अथवा सम्मेदशिखर की यात्रा से मिलेगा — ऐसा यह मानता है। मानों कि भगवान वहाँ पर्वत पर होगा ? परन्तु भाई! भगवान तो यहाँ अन्दर विराजमान है।

प्रश्न — परन्तु इसमें यह सब निश्चयमार्ग ही आया है ? कोई व्यवहारमार्ग है या नहीं ?

उत्तर — भाई! तुझको पता ही कहाँ है ? पर्याय होती है, वही व्यवहार है। निर्मल वस्तु के आश्रय से निर्मल पर्याय होती है, वही व्यवहार है।

प्रश्न — परन्तु इसमें ये सब व्यवहार की क्रियायें तो कुछ नहीं आईं ?

www.vitragvani.com

***उत्तर* —** कदाचित् ऐसा व्यवहार का विकल्प होता है तो होओ; परन्तु वह कोई आत्मा का स्वरूप नहीं है तथा उस विकल्प से आत्मा की प्राप्ति भी नहीं होती; फिर भले ही सम्मेदशिखर की अथवा शत्रुंजय की लाख बार यात्रा करने जाए।

यहाँ यह कहा है कि आत्मा तो सर्वदोष विमुक्त है। ध्रुवस्वरूपी, अविचलस्वभावी, नित्यानन्द, निर्मलानन्द प्रभु आत्मा सर्वदोष से मुक्त है और उसकी नजर करने पर उसको (नजर करनेवाले को) संसार नहीं रहता। संसार अर्थात् राग, द्वेष और अज्ञान। बाकी बाहर के स्त्री-पुत्रादि को छोड़कर बैठे और कहे कि हमने संसार छोड़ दिया तो उसने धूल भी संसार नहीं छोड़ा है। यदि उसने इस दोषवाली चीज को (राग को) अपना माना है तो उसने सारा संसार अपना माना है। जबकि 'मैं तो सर्वदोष विमुक्त हूँ' — ऐसे सर्वदोष विमुक्त चीज का अवलम्बन लेने से भ्रान्ति, अज्ञान और राग-द्वेष का अभाव हो जाता है और उसका संसार नष्ट हुआ कहलाता है। लो, यह उसने संसार छोड़ा है; परन्तु स्त्री, पुत्र छोड़कर बाबा हो गया, इसलिए संसार छोड़ा — ऐसा धूल भी नहीं है, उसने धूल भी संसार नहीं छोड़ा है। सुन न! ऐसा स्वरूप है।

(३७) (निष्काम की व्याख्या) अब निष्काम का अर्थ करते हैं। '**शुद्ध निश्चयनय से.......**' भगवान आत्मा परमतत्त्वस्वरूप ध्रुव, नित्यानन्द है, उसको वास्तविक-सच्ची दृष्टि से देखें तो '**निजपरमतत्त्व की भी वांछा नहीं होने से....**' मैं मुझे मिलूँ-प्राप्त होऊँ। वस्तु में ऐसी वांछा भी नहीं है; क्योंकि निजपरमतत्त्व की वांछा भी इच्छा है, राग है, वृत्ति का उत्थान है; इसलिए यह वांछा भी स्वरूप में नहीं है। देखो! 'निजपरमतत्त्व' कहा है अर्थात् अपना परमभाव, अपना स्वभाव, अपना परमतत्त्व; परन्तु पर भगवान का परमतत्त्व नहीं; क्योंकि पर भगवान का परमतत्त्व तो उनके पास रहा। तो इस निजपरमतत्त्व की भी-अपना भगवानमय स्वभाव है, उसरूप परमतत्त्व की भी-वांछा नहीं है, इच्छा नहीं है। उसको निजपरमतत्त्व की इच्छा किसलिए हो ? कारण कि वह तो हाजिर ही है, तो फिर उसकी इच्छा कैसी ? परमतत्त्व प्रभु आत्मा हाजिर ही है। इससे क्या आत्मा को इच्छा होगी कि मैं ऐसा परमतत्त्व हूँ ? मेरा परमतत्त्व ऐसा है; क्या उसको ऐसी इच्छा होगी ? (नहीं।) वह तो निर्विकल्पतत्त्व है; इसलिए उसको वैसी वांछा नहीं होती और इसीलिए वह '**निष्काम है।**'

(३८) (निःक्रोध की व्याख्या) '**निश्चयनय से**' सच्ची दृष्टि से वस्तु को देखने

www.vitragvani.com

से **'प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त परद्रव्य परिणति का अभाव होने के कारण निःक्रोध है।'** अर्थात् शुभाशुभभाव का अभाव होने के कारण निःक्रोध है। आत्मा अकेला क्षमा का भण्डार है। निःक्रोध कहकर तो नास्ति से बात की है कि उसमें क्रोध नहीं है। वरना वह है अकेला शान्त...शान्त...पूर्ण शान्तरस का भण्डार और उसको सच्ची दृष्टि से देखें तो उसमें क्रोध का विभाव है ही नहीं।

(३९) (निर्मान की व्याख्या) 'निश्चयनय से' निश्चय अर्थात् सत्य और नय अर्थात् ज्ञान। सच्चे ज्ञान की दृष्टि से देखें तो **'सदा परमसमरसी भावस्वरूप होने के कारण........'** यह भगवान आत्मा तो त्रिकाल आनन्दरस और परम समतारस का पिण्ड है। यह पूर्ण शान्त और आनन्दरस से भरपूर है। ऐसा होने से यह **'निर्मान है।'** आत्मा तो समरस से भरा है; इसलिए उसमें मान कैसा ? अज्ञानी तो कोई अल्प गुणगान करे-आदर करे तथा उसे कुछ ठीक गिना जाए तो वहाँ प्रफुल्लित हो जाता है। अरे! वह बाहर के मान में मर गया है और जिसका मान करना चाहिए, उसका मान किया नहीं है अर्थात् आत्मा, जो कि निर्मान है, उसका मान करना चाहिए। (परन्तु अज्ञानी ने उसका मान नहीं किया है।)

अहा! आत्मा को दुनिया के मान-अपमान की पड़ी ही नहीं है अर्थात् आत्मा में मान-अपमान है ही नहीं। जगत में भी यश और अपयश तो पूर्व के पुण्य-पाप की चाल है, उसकी क्रीड़ा है।

श्रोता — यह आपने क्या कहा ? फिर से कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री — इन बाहर के मान-अपमान को आत्मा का मानना महाभ्रम है। वह तो पूर्व का पुण्य-पाप बँधा पड़ा हो; इसलिए उसके फलरूप में यह सब है बापू! बाकी वस्तु में मान-अपमान कहाँ है ? वह तो ज्ञाता-दृष्टामय सच्चिदानन्द है, ज्ञान और आनन्द का भण्डार है।

अरे! इसने कभी अपने घर के गीत सुने नहीं हैं। इसने तो पैसा और स्त्री इत्यादि के गीत ही सुने हैं कि सुन्दर स्त्री मिली है, दस लाख रुपये मिले हैं और पाँच लाख का बँगला बनाया है। परन्तु भाई! यह सब तो होली है, यह सब श्मशान जैसा है। तेरा निधान तो यहाँ (आत्मा में) रहा हुआ है।

भगवान! तेरे अन्तर में तेरा स्वरूप पूर्ण शान्त और आनन्दरस से भरा है, वह तेरा

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

निधान है; परन्तु अरे! जिसको यह भी पता नहीं हो कि निधान कहाँ है, वह खोजेगा कहाँ?

अरे! जरा-सी प्रतिकूलता आवे, कोई इसको संक्षिप्त नाम से बुलावे; वहाँ अज्ञानी खेद-खिन्न हो जाता है कि वह बहुत बार तो मुझे बड़े नाम से बुलाता है और आज छोटे नाम से क्यों बुलाता है ? ऐसा कैसे ? तथा कोई बड़े नाम से बुलावे तो वहाँ हर्षित हो जाता है। भाई! अन्दर मान भरा है, इससे तुझे खेद अथवा हर्ष होता है; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि तेरे स्वरूप में यह मान अथवा अपमान नहीं है। वह स्वरूप तो ज्ञान और आनन्द का सागर है। सागर अर्थात् सम्पूर्ण उससे ही भरा है; इसलिए उसमें डुबकी मार तो तुझे आनन्द आएगा। तेरी दिशा बदल दे-परसन्मुख दृष्टि है, उसको अन्तरोन्मुख कर तो तुझको आनन्द उछलेगा और उसमें तुझे कोई मान की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न — परन्तु यह शरीर का रोग..... ?

उत्तर — भाई! आत्मा में रोग ही नहीं है। भगवान आत्मा तो निरोगी तत्त्व है। ये सब रोगादि तो शरीर में-मिट्टी में-जड़ में हैं। सरोगता या निरोगता — ऐसी द्विविधता जड़ में/शरीर में है और यह शरीर तो मिट्टी है, हड्डी, चमड़ी और माँस का पिण्ड है; परन्तु यह कहीं आत्मा नहीं है। आत्मा तो उसका जाननेवाला है अर्थात् शरीर ज्ञेय और आत्मा ज्ञाता है। शरीर आत्मा का दृश्य और आत्मा दृष्टा है; शरीर जड़, रूपी है और आत्मा चैतन्य, अरूपी है — इसप्रकार ये दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं।

(४०) (निर्मद की व्याख्या) — 'निश्चयनय से निःशेषरूप से अन्तर्मुख होने के कारण निर्मद है।' क्या कहते हैं ? कि वस्तु तो अन्तर्मुख है। पर और पुण्य-पाप में तो वस्तु नहीं; परन्तु एकसमय की पर्यायरूप प्रगटदशा में भी, जिसमें वस्तु ज्ञात होती है और जो प्रगटरूप है, उसमें भी (वस्तु-आत्मा) नहीं है; इसलिए वस्तु अन्तर्मुख है। यहाँ कहते हैं कि निःशेषरूप से अर्थात् कुछ भी बाकी रखे बिना वस्तु तो पूर्णरूप से अन्तर्मुख है और इसलिए वह वस्तु अन्तर्मुख दृष्टि करने से ज्ञात होनेयोग्य है। पर्यायदृष्टि से ज्ञात हो — ऐसी वह वस्तु नहीं है तथा विकल्पदृष्टि से-राग से भी ज्ञात होनेयोग्य नहीं है; क्योंकि एकसमय की दशा और रागादि बाहर (बाह्य) हैं। अत: एकसमय की दशा के पीछे रहा हुआ वस्तु का तत्त्व अन्तर्मुख है और इससे निर्मद है। आत्मा में मद नहीं है।

'उक्तप्रकार का (ऊपर कहे हुए प्रकार का), विशुद्ध.....' प्रभु आत्मा विशेषरूप

से निर्मलानन्द है। '**सहजसिद्ध.....**' आत्मा स्वाभाविक सिद्ध है। किसी ने नहीं किया — ऐसा अकृत्रिम अनादि सत् है। कोई उसका कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। आत्मा ऐसा सत्स्वरूप है। '**नित्य निरावरण**' त्रिकाली प्रभु आत्मा का स्वभाव तो त्रिकाल निरावरण है। ये रागादि तो एकसमय की दशा में दिखते हैं, वस्तु में रागादि नहीं हैं। '**निज कारणसमयसार का....**' समय अर्थात् आत्मा और सार अर्थात् राग-द्वेषादि समस्त विभावरहित, अर्थात् अकेला चिदानन्द का निर्मल पिण्ड, वह समयसार है। देखो, ऊपर 'शुद्धभाव' कहा था न ? तो उसका यह दूसरा नाम दिया। आशय यह है कि आत्मा को शुद्धभाव कहो, निज कारणसमयसार कहो, शुद्ध जीवास्तिकाय कहो अथवा त्रिकाली नित्यानन्द कहो एक ही है और उसका ही '**स्वरूप उपादेय है।**' वह नजर (दृष्टि) करनेयोग्य है, अन्तर्मुखदशा द्वारा देखनेयोग्य है। आत्मा को निज कारणसमयसार ही आदरणीय है, दूसरा कुछ आदर करनेयोग्य नहीं है — ऐसा कहते हैं।

अरे! अभी अज्ञानी तो व्यवहार के परिणामों को आदरणीय मानकर, वहाँ अटका हुआ है। परन्तु भाई! इन व्यवहार के परिणामों से तो विकार की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। सुन! भले ही दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा हो या भगवान.....भगवान......भगवान....ऐसे भगवान का स्मरण हो, यह सब विकल्प की वासना है। भगवान आत्मा उस विकल्प में कहाँ आता है ?

यहाँ कहा है कि इस ४४वीं गाथा में जो यह निज कारणसमयसार का स्वरूप कहा है, वह उपादेय है अर्थात् वहाँ दृष्टि करके वह अनुभव करनेयोग्य है। जीव को धर्म करना हो तो यहाँ से शुरू होता है। बाकी अन्य सब विपरीतता है।

अहा! अखण्डानन्दमय ऐसी चीज तो एकसमय की अवस्था के पीछे पड़ी ही है; परन्तु वह चीज कैसी और कैसे है — इसका अज्ञानी को पता नहीं है और वह बाहर में खोजबीन करता है; परन्तु चीज जहाँ है, वहाँ नजर नहीं डाले तो वह चीज नजर में कैसे आवे ? मानों व्रत करेंगे तो आत्मा मिलेगा — ऐसा मानकर। देखो न! विचारे अज्ञानी एक-एक महीने के निर्जल उपवास करके सूख जाते हैं न! परन्तु उसमें रंचमात्र भी आत्मा मिले, वैसा नहीं है। सुन! यह सब तो लंघन है। सच्चा उपवास तो उप+वास=ऐसा आत्मा है, उसके उप अर्थात् समीप में वास करे तो होता है। इसके

www.vitragvani.com

अतिरिक्त सब अपवास-माठा वास है। यह बात बाड़ावालों को (सम्प्रदायवालों को) कठोर लगती है; परन्तु यहाँ तो बाड़ा नहीं, आत्मा है। ऐसा आत्मा है और अनादि से ऐसा वस्तु का स्वरूप है कि जो सर्वज्ञ ने कहा है, जाना है और प्रगट किया है; इसलिए यह कोई साम्प्रदायिक चीज नहीं है; परन्तु यह तो आत्मा की चीज है। यहाँ तो यह एक आत्मस्वरूप ही उपादेय कहा है। इसके अतिरिक्त पुण्य का भाव भी आदरणीय नहीं है।

अरे! यह एकान्त है.....एकान्त है — ऐसा अज्ञानी शोर मचाता है। परन्तु भाई (तू यह बात) इनको (पद्मप्रभमलधारिदेव को) कह न! उनके पास जा! उनके पास शोर मचा न!

प्रश्न — सोनगढ़वाले तो एकान्त करते हैं, सब व्यवहार को उड़ा देते हैं ?

उत्तर — परन्तु भाई! आत्मा में व्यवहार था कब ? सुन! क्योंकि यह व्यवहार तो विकल्प है, राग है। अहा...!

मैं करूँ, मैं करूँ — यही अज्ञान है।
शकट का भार ज्यों श्वान ताणे।।

यह करूँ-यह करूँ सो तो विकल्प की वृत्तियों का उत्थान है, राग है और वह भगवान आत्मा के स्वरूप में नहीं है।

अरे! एक क्षण में श्मशान की राख हो — ऐसा तो इस देह का/मिट्टी का/धूल का स्वरूप है और यह देह तो श्मशान की राख होनेयोग्य था सो हुआ; परन्तु क्या आत्मा की राख होती है ? (नहीं होती।) आत्मा तो अनादि-अनन्त, सनातन चैतन्यमूर्ति है; इसलिए वह जन्मता भी नहीं, मरता भी नहीं, न उसको रोग होता है — ऐसा भगवान आत्मा प्रत्येक शरीर और राग की आड़ में अन्दर विराजमान है और वह आदरणीय है।

(अब टीकाकार मुनिराज आचार्य अमृतचन्द्र के प्रवचनसार श्लोक ८ का आधार देते हैं।)

श्लोक में 'मूर्छित' शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् मूर्छित हो गया है, लीन हो गया है। आत्मा, आत्मा के आनन्द में लीन हो गया है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

'इसप्रकार परपरिणति के उच्छेद द्वारा (अर्थात् परद्रव्यरूप परिणमन के नाश द्वारा).....' शुभ-अशुभ विकल्प है, पुण्य-पाप की वासना है; उनका उच्छेद करने पर भगवान आत्मा प्रगट होता है। अरे! यह अनन्तकाल का अनजाना (अपरिचित) मार्ग है। अनन्तबार चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण किया है, जिनकी आदि नहीं हैं, इतने भव किये हैं और उसमें यह मार्ग अपरिचित रह गया। यह एक मार्ग ही अपरिचित रह गया, जबकि अन्य सबका ज्ञान हो गया है; परन्तु यह सब तो परिभ्रमण का पथ है। उसमें फिर कुछ सेठपना-पाँच-पच्चीस लाख रुपये मिलें, वहाँ इसको 'मैं चौड़ा बाजार सकड़ा' — ऐसा लगता है-भिखारी है, सुन! यह चैतन्य तो बादशाह-परमात्मा है; जिसके अन्दर में लक्ष्मी का पार नहीं है। जिसको ऐसी लक्ष्मी का भण्डार प्रगट हुआ है, उसको वह परपरिणति के उच्छेद द्वारा हुआ है अर्थात् शुभ-अशुभ विकल्परूप राग की क्रियाएँ हैं, राग के परिणाम हैं; उनका नाश करने से भगवान आत्मा उत्पन्न (प्रगट) होता है। कारण कि ये रागादि स्वभाव में कहाँ हैं ?

'तथा कर्ता, कर्म आदि भेद होने की जो भ्रान्ति उसके भी नाश द्वारा...' कहते हैं कि भगवान आत्मा में कर्त्ता, कर्मादि भेद होने की भ्रान्ति का नाश करके....अर्थात् आत्मा पर्याय का कर्त्ता और पर्याय उसका कर्म है इत्यादि ऐसे भेद भी जिसमें नहीं हैं — यह भगवान आत्मा ऐसा अभेद चिदानन्द है। सूक्ष्म बात है! अहा! राग-द्वेष की परिणति का-विकल्प का तो उच्छेद है; परन्तु एकसमय की पर्याय का कर्ता द्रव्य है और पर्याय कर्म है, पर्याय उसका साधन है इत्यादि ऐसे छहकारक के भेद उत्पन्न होते हैं, वे (द्रव्य में हैं — ऐसा मानना भी) भ्रान्ति है और उसका भी निषेध है। वस्तु-चिदानन्द भगवान आत्मा अभेद है; इसलिए उसमें ये कर्ता-कर्मादि के भेद कैसे ? देखो, कहाँ ले गये हैं ?

कहते हैं कि ये शरीर, मन, वाणी आदि सब तो जड़ हैं, कारण कि उनके अस्तित्व में तो जड़पना है; इसलिए वे कोई आत्मा में नहीं हैं। इसीप्रकार पुण्य-पाप के अस्तित्व में विकार है; इसलिए वे भी आत्मा में नहीं हैं तथा उसकी एकसमय की पर्याय में षटकारक के भेद पड़ते हैं, वे भी आत्मा में नहीं हैं — ऐसा यहाँ कहते हैं। यह बात बैठना बहुत कठिन है। अहा! यह बात सुननेवाले भी विरले ही होते हैं। समाज में तो बड़ी धमाल-धमाल होती है, उसमें फिर दस-पाँच लाख रुपये खर्च करके विशाल

www.vitragvani.com

पंचकल्याणक महोत्सव आयोजित कर, रथयात्रा निकाले तो उसमें धर्म मानते हैं; परन्तु उसमें धूल भी धर्म नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा पर्याय का कर्ता और पर्याय उसका कर्म इत्यादि ऐसे षटकारक के भेद पर्याय में खड़े होते हैं, वे भी (वस्तु में हैं — ऐसा मानना) भ्रान्ति हैं। कारण कि वस्तु में भेद कैसा ? वस्तु में जहाँ पर्याय ही नहीं है, वहाँ ये भेद कैसे ? अहा! वस्तु भगवान आत्मा का-अपने परमात्मा का स्वरूप ही पूर्ण है और उसमें पुण्य-पाप की वृत्तियों का अभाव है; इसलिए जिसने आत्मा का आश्रय किया, उसने पुण्य-पाप का (पुण्य-पाप में एकत्व का) तो नाश किया है; तदुपरान्त उसने उस अभेद आत्मा का आश्रय किया होने से भेद की भ्रान्ति का भी नाश किया है। अरे! अभी जिसको यह बात पकड़ में भी नहीं आती, उसको यह धर्म तो प्रगट ही कैसे होगा ? उसको तो, यह क्या कहते हैं ? क्या धर्म ऐसा होगा ? लोकसमूह को-लाखों-करोड़ों मनुष्यों को ऐसा धर्म क्या बैठेगा ? ऐसा लगता है। परन्तु बापू! धर्म तो ऐसा है। किसी को बैठे या न बैठे, वह उसके घर रहा; परन्तु मार्ग तो यह है और मार्ग को कहीं संख्या की आवश्यकता नहीं है, सत्य की आवश्यकता है।

अहा! (१) परपरिणति के उच्छेद द्वारा और (२) कर्ता-कर्मादि भेदों की भ्रान्ति के नाश द्वारा — ये दो बोल कहकर तो बहुत कह दिया है। कर्ता, कर्म आदि भेद अर्थात् अन्दर (पर्याय में) जो भेद पड़ते हैं वे, अर्थात् पर्याय में कर्ता-कर्मादि के भेद पड़ते हैं कि द्रव्य कर्ता और पर्याय कर्म अथवा पर्याय कर्ता और पर्याय कर्म — ये समस्त भेद द्रव्य में नहीं हैं। कारण कि आत्मा तो अन्दर अखण्डानन्द अभेदस्वरूप प्रभु है। इसकारण उसका आश्रय और उसका अवलम्बन लेने से इन सबकी-परपरिणति और भेदों की राख हो जाती है।

प्रश्न — साधारण समाज को भी ऐसा होगा ?

उत्तर — भाई! समाज साधारण ही नहीं है। समाज तो-समस्त आत्माएँ तो भगवान हैं। देहदेवल में स्वयं पूर्ण परमात्मा विद्यमान है; इसीलिए सभी आत्माएँ भगवान-परमात्मा हैं। भाई! उसको कम मत मान, विकारी मत मान और पामर भी मत मान; परन्तु प्रभुरूप स्वीकार कर। जिसको परपरिणति के और भ्रान्ति के उच्छेद द्वारा ऐसा

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

स्वीकार हुआ, उसने '**अन्त में शुद्ध आत्मतत्त्व को उपलब्ध किया है।**' अन्ततः तो उसको शुद्ध आत्मा का अनुभव हुआ है।

वस्तु का स्वरूप चैतन्यमूर्ति अभेद एकरूप है। उसकी अन्तर्दृष्टि होने पर ज्ञानी ने राग-द्वेष का (राग-द्वेष के एकत्व का) तो अभाव किया है, तदुपरान्त कर्त्ता-कर्म के भेद मेरे स्वरूप में हैं — ऐसी भ्रान्ति का भी नाश किया है और अन्ततः तो उसने जो स्वरूप है, उसकी एक की ही प्राप्ति की है। आशय यह है कि अभेद चिदानन्द प्रभु आत्मा का अनुभव होने पर आत्मा की प्राप्ति है।

प्रश्न — हरी नहीं खाना, उपवास करना, व्रत पालना आदि जो हम अभी तक करते आये हैं, वह कहाँ गया ?

उत्तर — भाई! वह सब तो विकल्प की बात है और तूने उसमें धर्म माना था। बाकी धर्म तो कोई अपूर्व चीज है बापू! क्योंकि जो चीज (धर्म) अनन्तकाल में एक सैकेण्ड मात्र भी नहीं हुई, वह तो अपूर्व ही होगी न ? और उसका फल भी अपूर्व ही होगा न ? वह वस्तु यह है। (अर्थात् यहाँ ऐसे अपूर्व धर्म की बात है।)

यहाँ कहते हैं कि जिसको अन्ततः तो अन्दर में एकरूप वस्तु भगवान आत्मा कि जो अखण्डस्वरूप है, वह प्राप्त हुआ है, उसने शुभ-अशुभ विकल्प की वासना का उच्छेद कर दिया है। कथन में तो ऐसा ही आता है न कि उच्छेद कर दिया। वरना वस्तुतः तो आत्मा में गया तो विकल्प की वासना उत्पन्न ही नहीं हुई।

आशय यह है कि अन्तरवस्तु पूर्णानन्द भगवान आत्मा पर जहाँ नजर पड़ी, वहाँ विकारी परिणाम का उच्छेद किया कहा जाता है। इसीतरह अभेद आत्मा में जाने पर-अभेद आत्मा का अनुभव होने पर-पर्याय में ऐसे भेद के विकल्प उत्पन्न ही नहीं होते और उसको भेद की भ्रान्ति का नाश किया कहा जाता है। अरे! अज्ञानी को तो ये बातें एकदम रुखी-रुखी लगती हैं; क्योंकि दूसरे तो ऐसा कहते हैं कि 'तुम पुण्य करोगे तो देवगति में जाओगे, फिर वहाँ से मरकर राजा होओगे।' इससे वह प्रसन्न हो जाता है कि मैं राजा...! परन्तु भाई! राजा हुआ उससे क्या ? सुन! राजा का शरीर जड़, मिट्टी, धूल है। अहा! राजा का राजा-चैतन्यराजा-परमात्मा तो स्वयं भगवान आत्मा है। अतः

www.vitragvani.com

ऐसे एकरूप स्वभाव की दृष्टि होने पर जब भेद का भाव भी नहीं रहता, तब फिर विकार तो होगा ही कहाँ से ?

कहते हैं कि ऐसा अभेद भगवान आत्मा है, उसको जिसने अन्तर अनुभव में अन्ततः प्राप्त किया है '**ऐसा यह आत्मा**' शुद्ध आत्मतत्त्व को अंतर्दृष्टि और परिणति में प्राप्त करके, जिसने आत्मा अनुभव किया है, वह '**चैतन्यमात्ररूप विशद (निर्मल) तेज में लीन रहता हुआ........**' 'मूर्छित' शब्द का अर्थ लीन किया है अर्थात् अन्दर आत्मा में मूर्छित हो गया, लीन हो गया। अनादि का पुण्य-पाप के राग में लीन था, इससे संसारदशा-मूढ़दशा (परिभ्रमण) थी; परन्तु अब वह दशा छूटकर अन्दर आत्मा में लीन हो गया है। अखण्ड और पूर्णानन्दमय अभेदस्वरूप में लीन हो गया — ऐसा कहते हैं।

अहा! 'चैतन्यमात्ररूप विशद (निर्मल) तेज' — ऐसा कहकर यह कहना है कि आत्मा तो अकेले चैतन्य का निर्मल तेज है। चैतन्य का पूर प्रभु आत्मा है और वह 'उस तेज में लीन रहता हुआ.......' अर्थात् ऐसा स्वरूप जिसने अन्दर में प्राप्त किया है-जैसी चीज है, वैसी अन्तरस्वभाव दृष्टि से जिसने प्राप्त की है, वह '**अपनी सहज (स्वाभाविक) महिमा के प्रकाशमानरूप से सर्वदा मुक्त ही रहेगा।**' मुक्त हुआ तो अब मुक्त ही रहेगा, उसको फिर से अवतार या जन्म-मरण नहीं होगा। जैसे बीज जल जाने पर फिर से नहीं उगता; उसीप्रकार अखण्डानन्द अभेद चैतन्य भगवान आत्मा की अन्तर में पूर्ण प्राप्ति हुई तो वह आत्मा मुक्त हो गया और जहाँ मुक्तदशा प्राप्त हुई, वहाँ अब उसको फिर से अवतार नहीं होगा, जन्मना नहीं पड़ेगा। वह तो अपनी सहज महिमा के प्रकाशमानरूप से सदा मुक्त ही रहेगा अर्थात् सादि-अनन्तकाल आनन्द की लहर में मौज करेगा। 'सादि-अनन्त, अनन्त समाधि सुख में' रहेगा — इसका नाम मुक्ति है। कोई मुक्ति अन्यत्र कहीं नहीं लटकती, अपितु आत्मा की पूर्ण आनन्ददशा प्राप्त होने का नाम ही मुक्ति है अथवा दुःख अवस्था से छूट जाने का नाम मुक्ति है और वह मुक्तवंत अब ऐसा का ऐसा ही रहेगा। आशय यह है कि जैसा आत्मा की महिमा का प्रकाशमान स्वरूप है, उसी का उसमें ही वह रहेगा; परन्तु बाहर नहीं आएगा, अवतार धारण नहीं करेगा। लो, पहले से पूर्ण तक अर्थात् साधक और साध्यपना — दोनों का वर्णन कर दिया।

www.vitragvani.com

अहा! आत्मा का स्वरूप शुद्ध आनन्दकन्द है। अतः उसका इंजेक्शन लगा कि जिससे भव-भव का रोग मिट जाए; क्योंकि यह इंजेक्शन लगाने से फिर शरीर ही नहीं मिलेगा तो फिर रोग कहाँ से होगा ? अहा! शरीर मिले, फिर उसमें रोग हो तो डॉक्टर को खोजना पड़े और उसमें डॉक्टर को इंजेक्शन लगाते नहीं आवे तो शरीर में पीड़ा हो। देखो न, यह होली! यह आत्मा तो अमृतस्वरूप है। भगवान आत्मा त्रिकाल अमृत का नाथ है; इसलिए अमृतस्वरूप भगवान आत्मा का मरण कैसा ? मरे कौन ? और मरण नहीं तो किसका स्नान करना ?

कलश ६९ पर प्रवचन

अब यह ४४वीं गाथा का ६९वाँ कलश है। यह शुद्धभाव अधिकार होने से इसमें शुद्धभाव की बात है न ? यहाँ कहते हैं कि यह आत्मा कैसा है ? '**जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापरूपी अंधकार समूह का नाश किया है।**' अर्थात् आत्मा की ज्ञानज्योति में संसार है ही नहीं। पाप=संसार; पुण्य-पाप का भाव। आत्मा के स्वरूप में संसार ही नहीं है। स्वरूप के प्रकाश में संसार का अंधकार नहीं है अथवा यह आत्मस्वरूप त्रिकाल प्रकाश की मूर्ति है और उसका आश्रय करने पर संसार का अभाव होता है। '**जो नित्य आनन्द आदि अतुल महिमा का धारण करनेवाला है।**' नित्य-त्रिकाली भगवान आत्मा आनन्द का भण्डार है। उसकी महिमा के साथ दूसरे का मेल नहीं है, दूसरे की तुलना नहीं हो सकती। त्रिकाली आत्मा अतीन्द्रियस्वरूप, आनन्द का धाम आदि अतुल महिमा का धारण करनेवाला है।

'**जो सर्वदा अमूर्त है।**' त्रिकाली आत्मा अमूर्त ही है। द्रव्यस्वभाव-शुद्धभाव-शुद्ध जीवास्तिकाय तीनों काल अमूर्त ही है। जिसकी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन हो — ऐसा यह तत्त्व सदा अमूर्त है।

'**जो अपने में अत्यन्त अविचलपने द्वारा.........**' स्वयं में से चलित न हो — ऐसा आत्मद्रव्य ध्रुव वज्रबिम्ब है और उस द्वारा '**उत्तम शील का मूल है।**' **जात**=उत्तम। ब्रह्मानन्द शीलस्वभाव है, उसका आत्मा मूल है। अनादि-अनन्त ध्रुव चैतन्य भगवान आत्मा अपने में से चलित नहीं होने से उत्तमस्वभाव का-आनन्दादि का मूल है। आत्मा शील का अर्थात् स्वभाव का मूल है और उसके आश्रय से ही उत्तम शील अथवा उत्तमस्वभाव अथवा उत्तम ब्रह्मचर्यादि प्रगट होते हैं।

ऐसा त्रिकाल ध्रुव भगवान आत्मा विराजमान है। '**उस भवभय को हरनेवाले मोक्ष लक्ष्मी के ऐश्वर्यवान स्वामी को मैं वंदन करता हूँ।**' मुनिराज कहते हैं कि मेरा आत्मा भवभय को हरनेवाला है अर्थात् उसमें भवभय नहीं है। चौरासी लाख योनियों के अवताररूप भव का भय स्वरूप में नहीं है; अपितु वह तो मोक्षलक्ष्मी का स्वामी है। अहा! आत्मा भवभय को हरनेवाला है (यह नास्ति का कथन है) और मोक्षलक्ष्मी का स्वामी है (यह अस्ति का कथन है।) तो मोक्षलक्ष्मी के ऐश्वर्यवान स्वामी ऐसे त्रिकाली चिदानन्द प्रभु आत्मा का ही मैं आदर करता हूँ — ऐसा कहते हैं।

अहा! स्वयं त्रिकाली ध्रुवस्वरूप चिदानन्द नित्यानन्द भगवान आत्मा भव के भय से अभाव स्वभावरूप है और मोक्षलक्ष्मी का ऐश्वर्यवान स्वामी है। ऐसे चैतन्य द्रव्य को में वंदन करता हूँ अर्थात् उसका आदर करता हूँ। लो, यह करनेयोग्य है।

अहा! त्रिकाली ज्ञायकभाव सहजानन्दस्वरूप चिदानन्दमय है......उसको कारणसमयसार कहो, कारणपरमात्मा कहो, शुद्धभाव कहो अथवा शुद्ध जीवास्तिकाय कहो — एक ही है। एकसमय की पर्याय से भी पार ऐसी चीज है, उसका मैं (मुनिराज) आदर करता हूँ अर्थात् मेरा आदर उसको है और उसीप्रकार धर्मी जीवों को भी वह आदर करनेयोग्य है। उसके अलावा एकसमय की पर्याय भी आदरणीय नहीं है। वह एकसमय की पर्याय भी त्रिकाली आत्मा का आदर करती है।

अहा! आत्मा मोक्षलक्ष्मी का ऐश्वर्यवान स्वामी है अर्थात् पूर्ण मुक्तस्वरूप है और उसका आश्रय करने से मोक्षलक्ष्मी प्राप्त होती है; इसलिए मैं ऐसे भगवान आत्मा को नमता हूँ — ऐसा कहते हैं। ●

चन्द्र, सूर्य, वायु और पक्षी आदि आकाश में ही गमन करते हैं, गाड़ी आदि का आवागमन पृथ्वी पर ही होता है तथा मत्स्यादि जल में ही संचरण करते हैं, परन्तु यम (मृत्यु) आकाश, पृथ्वी और जल में सर्व स्थानों पर पहुँचता है। इसलिए संसारी प्राणियों का प्रयत्न कहाँ हो सकेगा? अर्थात् यदि काल समस्त संसारी प्राणियों को ग्रास बनाता हो तो उससे बचने के लिए किया जानेवाला किसी भी प्राणी का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता।

– श्री पद्मनन्दिपंचविंशति

नियमसार गाथा–४५–४६

वण्णरसगंधफासा थीपुंसणउंसयादिपज्जाया।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति॥४५॥
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥४६॥

वर्णरसगंधस्पर्शाः स्त्रीपुंनपुंसकादिपर्यायाः।
संस्थानानि संहननानि सर्वे जीवस्य नो सन्ति॥४५॥
अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम्॥४६॥

(हरिगीत)

नहिं स्पर्श-रस-अरु-गंध-वर्ण न, क्लीव, नर-नारी नहीं।
संस्थान संहनन सर्व ही ये भाव सब जीव को नहीं॥४५॥
रस, रूप, गंध न, व्यक्त नहिं, नहिं शब्द, चेतनगुणमयी।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान, होता जीवलिंग-ग्रहण नहीं॥४६॥

गाथार्थ :— वर्ण–रस–गंध–स्पर्श, स्त्री–पुरुष–नपुंसकादि पर्यायें, संस्थान और संहनन — यह सब जीव को नहीं हैं।

जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चेतनागुणवाला, अशब्द, अलिंगग्रहण और जिसे कोई संस्थान नहीं कहा है — ऐसा जान।

टीका :— यहाँ (इन दो गाथाओं में) परमस्वभावभूत ऐसा जो कारणपरमात्मा का स्वरूप उसे समस्त पौद्‌गलिक विकारसमूह नहीं है — ऐसा कहा है।

निश्चय से पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, स्त्री–पुरुष–नपुंसकादि विजातीय विभावव्यंजनपर्यायें, कुब्जादि संस्थान, वज्रर्षभनाराचादि संहनन पुद्‌गलों को ही हैं, जीवों को नहीं हैं। संसारदशा में स्थावरनामकर्मयुक्त संसारी जीव को कर्मफलचेतना होती है, त्रसनामकर्मयुक्त संसारी जीव को कार्य सहित कर्मफलचेतना होती है। कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा को शुद्धज्ञानचेतना होती है। इसी से कार्यसमयसार अथवा कारणसमयसार को सहजफलरूप शुद्धज्ञानचेतना होती है। इसलिए सहजशुद्ध–ज्ञानचेतनास्वरूप निज

www.vitragvani.com

कारणपरमात्मा संसारावस्था में या मुक्तावस्था में सर्वदा एकरूप होने से उपादेय है ऐसा, हे शिष्य! तू जान।

इसप्रकार एकत्वसप्तति में (श्री पद्मनन्दि-आचार्यदेवकृत पद्मनन्दिपंचविंशतिका नामक शास्त्र में एकत्वसप्तति नामक अधिकार में ७९वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

(मंदाक्रान्ता)

''आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः साऽपिभिन्ना तथैव।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत्॥''

(वीरछन्द)

मेरा यह मत, जीव पृथक् अरु तत् अनुगामी कर्म पृथक्।
जीव कर्म की अति समीपता से जो हुआ, विकार पृथक्॥
काल क्षेत्र आदिक जो भी हैं इस चेतन से भिन्न रहें।
अपने-अपने गुण-पर्यायों से शोभित सब पृथक् रहें॥

श्लोकार्थ :— मेरा ऐसा मंतव्य है कि आत्मा पृथक् है और उसके पीछे-पीछे चलनेवाला कर्म पृथक् है; आत्मा और कर्म की अति निकटता से जो विकृति होती है, वह भी उसीप्रकार (आत्मा से) पृथक् है; और काल-क्षेत्रादि जो हैं वे भी (आत्मा से) पृथक् हैं। निज-निज गुणकला से अलंकृत यह सब पृथक्-पृथक् हैं (अर्थात् अपने-अपने गुणों तथा पर्यायों से युक्त सर्व द्रव्य अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं)।''

और (इन दो गाथाओं की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं)—

(मालिनी)

असति च सति बन्धे शुद्धजीवस्य रूपाद्
रहितमखिलमूर्त्तद्रव्यजालं विचित्रम्।
इति जिनपतिवाक्यं वक्ति शुद्ध बुधानां
भुवनविदितमेतद्द्रव्य जानीहि नित्यम्॥७०॥

(वीरछन्द)

बन्धन हो या मुक्त अवस्था विविध मूर्त द्रव्यों का जाल।
शुद्ध जीव के निज स्वरूप से भिन्न सर्वदा मूर्तिक-माल॥

www.vitragvani.com

शुद्ध वचन यह श्रीजिनपति का बुधपुरुषों को कहूँ सदा।
अहो भव्य ! त्रिभुवन प्रसिद्ध इस परम सत्य को जान सदा॥७०॥

श्लोकार्थ :— ''बन्ध हो न हो (अर्थात् बन्धावस्था में या मोक्षावस्था में), समस्त विचित्र मूर्तद्रव्यजाल (अनेकविध मूर्त द्रव्यों का समूह) शुद्ध जीव के रूप से व्यतिरिक्त है'' ऐसा जिनदेव का शुद्ध वचन बुधपुरुषों को कहते हैं। इस भुवनविदित को (इस जगतप्रसिद्ध सत्य को), हे भव्य! तू सदा जान।।७०।।

गाथा ४५-४६ की टीका पर प्रवचन

यह ४६वीं गाथा बहुत-बहुत जगह (समयसार, प्रवचनसार अष्टपाहुड़ादि बहुत शास्त्रों में) आती है। समयसार में यह ४९वीं और यहाँ नियमसार में ४६वीं गाथा है।

'यहाँ (इन दो गाथाओं में) परमस्वभावभूत ऐसा जो कारणपरमात्मा का स्वरूप........' परमस्वभावभूत ऐसा जो कारणपरमात्मा स्वयं आत्मा है। जिसमें से केवलज्ञानरूपी कार्य प्रगट होता है — ऐसा कारणरूप भगवान आत्मा है। परमस्वभावभूत अर्थात् त्रिकाली परमपारिणामिकभावभूत — ऐसा जो कारणपरमात्मा का स्वरूप....।

कारणपरमात्मा अर्थात् ?

कारणपरमात्मा अर्थात् कोई दूसरा ईश्वर कर्ता और उसका यह कार्य — ऐसा नहीं कहना है; परन्तु स्वयं त्रिकाली वस्तु है, वह अधिष्ठान है और इसकारण वह स्वयं ही ईश्वर है। अहा! यह समय-समय की दशा है सो तो वर्तमान प्रगट अवस्था है। उस अवस्था के पीछे जो ध्रुव वस्तु है, वह अनादि-अनन्त परमस्वभावभूत परमात्मा है- महानिधान है; परन्तु जो निधान को स्वीकार करे, उसके लिए वह है। जिसको उसका स्वीकार नहीं है, उसके लिए तो वह नहीं है। उसका तो 'मैं राग हूँ' — ऐसा है। उसने अनादि से पर्याय में/एकसमय की दशा में क्रीड़ा की है; परन्तु अन्दर में गहरी वस्तु कौन है, वहाँ नहीं गया है।

यहाँ कहते हैं कि एकसमय की प्रगटदशा के अलावा 'परमस्वभावभूत' — ऐसा... देखो, 'परमस्वभाववाला' — यह भी नहीं कहा है; क्योंकि 'वाला' कहने से तो भेद पड़ जाता है; इसलिए यहाँ परमस्वभावभूत कहा है। त्रिकाली ज्ञायकभावभूत ऐसा 'जो कारणपरमात्मा का स्वरूप' अपने भगवान आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है **'उसको**

www.vitragvani.com

समस्त पौद्‌गलिक विकार समूह नहीं है।' उसको कुछ भी - पुद्‌गल, रागादि अथवा दूसरा कुछ नहीं है **'ऐसा कहा है।'**

एक बार प्रश्न हुआ था कि कारणपरमात्मा है तो कार्य आना चाहिए न ? और वह भी प्रतिसमय आना चाहिए न ? आशय यह है कि वस्तु-आत्मा अनादि-अनन्त, चैतन्य, ध्रुव, कारणपरमात्मा है न ? तो, कारण है तो उसका कार्य आना ही चाहिए। कारणपरमात्मा तो अनादि से है, फिर भी कार्य क्यों नहीं होता ?

(उत्तर दिया था कि) भाई! 'कारणपरमात्मा है' उसका अर्थ यह है कि वस्तु त्रिकाल ध्रुव चैतन्य कारण प्रभु है। उसका जो जीव 'है-पने' स्वीकार करे, उस जीव के लिए वह कारणपरमात्मा है। जो जीव स्वीकार न करे, उस जीव के (अज्ञानी के) लिए कारणपरमात्मा है ही कहाँ ?

प्रश्न — अज्ञानी के लिए कारणपरमात्मा कहाँ गया ?

उत्तर — अज्ञानी की दृष्टि में से चला गया है।

प्रश्न — घर में तो रहा है न ?

उत्तर — उसके घर में भी नहीं रहा। उसके घर में भी कारणपरमात्मा कहाँ है?

प्रश्न — कारणपरमात्मा उसके घर में है, परन्तु दिखता नहीं है ?

उत्तर — इसका अर्थ ही यह है कि अज्ञानी के घर में कारणपरमात्मा नहीं है; क्योंकि जब उसको देखे, तब उस जीव के लिए कारणपरमात्मा है। बाकी अज्ञानी के घर में तो राग और पर्याय है। अज्ञानी तो एकसमय की अवस्था और राग को देखता है; इसलिए उसके लिए आत्मा उतना ही है। उसको फिर उसकी श्रद्धा के बाहर दूसरा कोई आत्मा (कारणपरमात्मा) रह गया है — ऐसा है ही नहीं अर्थात् उसकी श्रद्धा में कारण-परमात्मा है ही नहीं। कदाचित् दूसरा कहे कि कारणपरमात्मा है तो वह अलग बात है। वरना अज्ञानी को कारणपरमात्मा कहाँ है ? कारण कि उसको इस त्रिकालीवस्तु का पता नहीं है।

अहा! कारणपरमात्मा पुण्य-पाप के विकल्प से पार और एकसमय की ज्ञानपर्याय से भी पार है। जिसने उसका स्वीकार किया अर्थात् ऐसा अस्तित्व जिसके स्वीकार में आया, उसको कारणपरमात्मा का कार्य आए बिना रहता ही नहीं।

www.vitragvani.com

प्रश्न — आत्मा ऐसा है, तो भी अनादि से परिभ्रमण क्यों करता है ?

उत्तर — आत्मा ऐसा है — यह इसने जाना कहाँ है ? जिसने यह स्वीकार किया है कि आत्मा आनन्द का धाम और अतीन्द्रियज्ञान की मूर्ति है, उसके लिए वह आत्मा है; परन्तु जिसने उसका स्वीकार नहीं किया, उसके लिए वह है ही कहाँ ? उसको तो 'राग और पर्याय ही मैं हूँ' — ऐसा है अर्थात् जो यह मानता है कि 'एकसमय का राग और पर्याय ही मैं हूँ' उसके आत्मा है ही नहीं।

विक्रम संवत् १९९९ के साल में एक वकील ने ऐसा कहा था कि महाराज आत्मा की ऐसी महिमा करते हैं, परन्तु वह गया कहाँ ? भाई! आत्मवस्तु है, उसमें निधान है; परन्तु इस निधान का उसको पता नहीं है; इसलिए जहाँ-तहाँ भीख माँगता है कि रुपये दो, सुख दो। सो भीख माँगता है, उसके लिए निधान है ही कहाँ ? अहा! यह आत्मा अन्दर नित्य अखण्डानन्द प्रभु ध्रुव है; तथापि उसके सब खेल अनादि से एकसमय की वर्तमान प्रगट पर्याय में ही हैं और उस पर्यायदृष्टिवन्त का झुकाव आगे जाए तो राग और निमित्त पर ही जाता है; परन्तु अन्दर त्रिकाली आत्मा कौन है, वहाँ उसकी दृष्टि नहीं जाती, वहाँ दृष्टि गई ही नहीं है, इसलिए उसको त्रिकाली आत्मा स्वीकार्य नहीं है। उसका स्वीकार इतना ही है कि एक अंश और राग अथवा राग के निमित्त मैं हूँ।

अब यहाँ कहते हैं कि —

(४१) (अरूप की व्याख्या) 'निश्चय से पाँच वर्ण' भगवान आत्मा में नहीं हैं; परन्तु व्यवहार से हैं।

इसका अर्थ क्या है ?

यही कि व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि ऐसे रंगवाले शरीर में आत्मा है, ऐसे रंगवाला शरीर आत्मा का है। वास्तव में रंगवाला शरीर आत्मा के है ही नहीं।

प्रश्न — जीव को पाँच शरीर हैं — ऐसा कहा जाता है या नहीं ? गोम्मटसार में ऐसा आता है।

उत्तर — भाई! गोम्मटसार में ही क्या, बहुत जगह ऐसा कथन आता है और ऐसा कथन आता है इससे क्या ? 'आत्मा को शरीर है' — यह निमित्त का कथन है। वास्तव

में स्वयं आत्मवस्तु तो अरूपी, ज्ञानघन और आनन्दकन्द है; समाधान और आनन्दस्वरूप है; इसलिए उसमें ये पाँच वर्ण नहीं हैं। आत्मा सफेद, लाल, पीला, नीला अथवा काला नहीं है।

प्रश्न — परन्तु यह पीला-सफेद-लाल प्रकाश दिखता है न ? तो यह आत्मा है न ?

उत्तर — भाई! लाल आदि रंग तो जड़ है। आत्मा में लाल रंग कैसे हो सकता है ? क्योंकि आत्मा तो अरूपी है। अरे! इसको अपने स्वरूप का पता ही नहीं है।

(४२) (अरस की व्याख्या) 'पाँच रस' नहीं हैं। खट्टा, मीठा आदि पाँच रस आत्मा में नहीं हैं।

प्रश्न — आत्मा में मीठा रस तो होता है न ? क्योंकि उसमें मधुररस है — ऐसा आता है ?

उत्तर — भाई! वह बात तो दूसरी अपेक्षा से कही जाती है। इस कषाय के (कटुक) रस से अन्य (भिन्न) मधुररस आत्मा में है — ऐसा उक्त कथन का अर्थ है। मीठारस अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्दरस।

आत्मा वस्तु है न ? (हाँ) वह पदार्थ है तो उसका कोई स्वभाव है न ? (हाँ) तो आत्मा का मीठा-मधुर-आनन्दस्वभाव है। उस आनन्द की एकसमय की मिठास के समक्ष ज्ञानी को सम्पूर्ण दुनिया सड़े हुए तिनके जैसी लगती है। आत्मा का आनन्दरस ऐसा है। पाँच लाख का मकान और पुत्रादि भी धूल जैसे लगें — ऐसा मीठा अतीन्द्रिय आनन्द भगवान आत्मा में पड़ा है — यह यहाँ कहते हैं। परन्तु अरे! (यह आनन्दरस की बात इसको) कैसे बैठे ? क्योंकि अन्दर ऐसी पूर्णरूप से विद्यमान वस्तु है — यह पता कहाँ है ?

अहा! जिसमें से परिणाम/वर्तमानदशा उत्पन्न होती है, वह वस्तु कौन है ? अर्थात् दशा तो उत्पन्न हुआ ही करती है; परन्तु उसका आधार कौन है ? कि त्रिकाली सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा। ऐसे अपने स्वरूप में परम आनन्दरस है; परन्तु यह खट्टा-मीठा आदि रस नहीं है।

(४३) (अगंध की व्याख्या) 'दो गंध' आत्मा में नहीं है। आत्मा में सुगंध और दुर्गंध कैसी ? वह तो जड़ में है।

www.vitragvani.com

(४४) (अस्पर्श की व्याख्या) 'आठ स्पर्श' आत्मा में नहीं हैं।

प्रश्न — आत्मा कैसा होगा ? मक्खन जैसा मुलायम होगा या कर्कश होगा ?

उत्तर — आत्मा में कोई स्पर्श नहीं है।

(४५-४६-४७) (स्त्री-पुरुष-नपुंसकादि विजातीय विभावव्यंजनपर्यायरहित की व्याख्या) 'स्त्री-पुरुष-नपुंसकादि विजातीय विभावव्यंजनपर्यायें' आत्मा में नहीं हैं। विभाव=विकारी; व्यंजन=शरीर की आकृति; पर्याय=अवस्था। यहाँ शरीर की बात है। यहाँ विजातीय विभावव्यंजनपर्याय अर्थात् इस शरीर की/पुद्गल की/मिट्टी की पर्याय लेना है। तो कहते हैं कि स्त्री के, पुरुष के और नपुंसक के शरीर का आकार जड़ है, मिट्टी है, धूल है, पुद्गल है और विजातीय है-आत्मा से अलग जाति है — ऐसी वह विजातीय विभावव्यंजनपर्याय जड़ होने से आत्मा में नहीं है। अन्दर भगवान आत्मा उससे रहित है।

(४८) (संस्थान रहित की व्याख्या) 'कुब्जादि संस्थान' कहकर अन्तिम संस्थान से बात उठाई है। आशय यह है कि समचतुरस्रसंस्थान न लेकर कुब्जक संस्थान से लिया है। जबकि संहनन में पहले संहनन से लिया है। कहते हैं कि समचतुरस्रादि छह संस्थान आत्मा में नहीं हैं।

(४९) (संहननरहित की व्याख्या) 'वज्रर्वषभनाराचादि संहनन' आत्मा में नहीं हैं। संहनन=हड्डियों की मजबूती। वह छहप्रकार की हड्डियों की मजबूती आत्मा में नहीं है। **'पुद्गलों को ही है, जीवों को नहीं।'** ये संहनन आदि समस्त भेद पुद्गल/जड़/अजीव हैं। यह शरीर की अवस्था अजीवरूप होकर रही है। इसीप्रकार इस देह का पुरुषरूप आकार भी अजीवरूप होकर कहा है, वह आत्मा में नहीं है।

अब दूसरे प्रकार से चेतनागुण को सिद्ध करते हैं —

'संसारदशा में स्थावरनामकर्मयुक्त संसारी जीव को कर्मफलचेतना होती है।' संसारदशा में जो ये एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव हैं, उनको स्थावर कहते हैं। ऐसी स्थावर अवस्था में उस जीव को कर्मफलचेतना होती है। कर्मफलचेतना अर्थात् कल्पना के सुख-दुःख का वेदन। स्थावर जीवों को कल्पना के

www.vitragvani.com

सुख का और दु:ख का वेदन होता है; इसलिए उनको कर्मफलचेतना होती है — ऐसा कहा है। यह बात पंचास्तिकाय (गाथा-११०) में भी है न!

'त्रसनामकर्मयुक्त संसारी जीव को कार्यसहित कर्मफलचेतना होती है।' त्रसनामकर्मयुक्त जो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय मनुष्य-पशु आदि हैं, वे कार्यसहित/राग करूँ — ऐसी कर्मचेतनासहित कर्मफल को अर्थात् हर्ष-शोक को भोगते हैं।

'कार्यपरमात्मा को' केवलज्ञानी परमात्मा को **'और कारणपरमात्मा को'** त्रिकाली ध्रुव नित्यानन्द द्रव्य-स्वभाव को **'शुद्धज्ञानचेतना होती है।'** लो, यह पंचास्तिकाय की शैली ली कि एकेन्द्रिय को कर्मफलचेतना होती है, त्रस को कार्यसहित-कर्मचेतनासहित कर्मफलचेतना होती है और परमात्मा को ज्ञानचेतना होती है अर्थात् अकेला ज्ञानस्वभाव का अनुभव होता है।

यद्यपि यह तो पूर्ण की अपेक्षा से बात है (कि परमात्मा को ही ज्ञानचेतना होती है।) वरना ज्ञानचेतना तो चौथे गुणस्थान से शुरू होती है। ज्ञानानन्दस्वरूप में एकाग्र होनेरूप जो ज्ञानचेतना दशा है, वह चौथे गुणस्थान से शुरू होती है। ज्ञानी को चौथे गुणस्थान में समकित होने पर, ज्ञानचेतनामय ही उसका स्वरूप है; परन्तु यहाँ पूर्ण ज्ञानचेतना की अपेक्षा से केवली (और सिद्ध) को शुद्धज्ञानचेतना होती है — ऐसा सिद्ध किया है तथा कारणपरमात्मा को भी शुद्धज्ञानचेतना होती है — इसका अर्थ यह है कि त्रिकाली शुद्धज्ञान में रहा स्वरूप त्रिकाली आत्मा में (कारणपरमात्मा में) है। आत्मा में अकेला ज्ञान ही है और उसको त्रिकाली शुद्धज्ञानचेतना कहा जाता है; जबकि उसमें से होनेवाले केवलज्ञान को कार्यशुद्धज्ञानचेतना कहा जाता है। यह बात तो पहले उपयोग के अधिकार में (गाथा-१० में) भी आ गई है।

अहा! त्रसजीव को कार्य (कर्मचेतना) सहित कर्मफलचेतना कही है, तो वह कर्मचेतना कोई पर का कार्य करे अथवा पर के कार्यसहित है — ऐसा यहाँ नहीं कहना है; परन्तु अपने रागरूपी कार्य को करे — ऐसी कर्मचेतनासहित राग के फल को भोगे — ऐसी कर्मफलचेतना त्रसजीव को है — ऐसा यहाँ कहना है। अहा! जीव त्रस हुआ और मनवाला संज्ञी हुआ, इसलिए अब पर का कार्य कर सकता है — ऐसा नहीं है;

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

क्योंकि वह पर का कार्य कर ही नहीं सकता। आत्मा मकान, मोटर आदि को कर ही नहीं सकता।

प्रश्न — पर का नहीं कर सकता — यह तो यहाँ (सोनगढ़ में) ही है न ?

उत्तर — मात्र यहीं नहीं, सर्वत्र ही आत्मा पर का नहीं कर सकता — ऐसा यहाँ कहते हैं।

प्रश्न — परन्तु आत्मा मनवाला होता है; इसलिए पर का कार्य कर सकता है न ?

उत्तर — पर का कार्य आत्मा कर ही नहीं सकता। यहाँ तो यह कहते हैं कि आत्मा अज्ञानभाव से भी पर का कार्य कर नहीं कर सकता। हाँ, अज्ञानभाव से करे तो राग को करे और राग के फल को भोगे; परन्तु कोई स्त्री, पैसा, मकान को अथवा दाल-भात-पकवान को आत्मा भोगता है — ऐसा नहीं है।

प्रश्न — आत्मा मोसंबी पीता हो — ऐसा देखने में तो आता है ?

उत्तर — क्या देखने में आता है ? बताओ, अन्दर आत्मा की पर्याय में क्या होता है, वह अज्ञानी ने देखा है ? क्या उसने आत्मा देखा-जाना है ? (कि जिससे आत्मा पीता है — ऐसा उसे दिखता है ?)

प्रश्न — आत्मा तो अरूपी है, इससे वह कैसे दिखे ?

उत्तर — क्या आत्मा नहीं दिखता ? यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, क्या ऐसा नहीं दिखता ? (दिखता है) तो जो यह जानता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसको पता पड़ता है कि मुझमें तो मेरी पर्याय होती है। इससे वह पर्याय पर में होती है या पर की पर्याय जीव में होती है — ऐसा है ही कहाँ ?

श्रोता — कोई सहज मंत्री मिल जाए तो काम हो जाए ?

पूज्य गुरुदेवश्री — सहज मंत्री तो यह (आत्मा) है। श्रीमद्जी का महामंत्र है कि 'सहजात्मस्वरूप परमगुरु।' कोई यह मंत्र बोलता है और उसकी माला भी फेरता है; परन्तु उसका अर्थ नहीं समझे कि मेरा कार्य तो मुझसे ही होगा। वह तो यह मानता है कि गुरु से मेरा कार्य होगा और गुरु अपना कल्याण कर देंगे तथा भाई! माला अन्दर फिरती है या बाहर ? अन्दर आत्मा सहजात्मस्वरूप है, वैसी अन्तरदृष्टि करके परिणमन

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

करने का नाम 'सहजात्मस्वरूप परमगुरु' की माला है। बाकी यह मनका (मोतियों) की माला तो जड़ की है।

यहाँ कहा है कि '**कार्यपरमात्मा को और कारणपरमात्मा को.........**'

प्रश्न — कारणपरमात्मा अर्थात् कौन ? इस जगत का कर्ता ? क्या ऐसा कोई कारणपरमात्मा है ?

उत्तर — कारणपरमात्मा अर्थात् कोई इस जगत का कर्ता-कारण होगा और जगत उसका कार्य होगा — ऐसा तीनकाल में नहीं है। इस जगत का कर्ता-हर्ता कोई है ही नहीं; क्योंकि जब वस्तु सत् है तो उसको करे कौन ? यहाँ तो स्वयं त्रिकालीस्वरूप आत्मा है, उसको कारणपरमात्मा कहा गया है और उसकी वर्तमानदशा में पूर्णता प्रगट हो, उसे कार्यपरमात्मा कहा गया है। अनादि-अनन्त/सत् स्वयं भगवान आत्मा ही कारणपरमात्मा है और उसका पूर्ण आश्रय करने पर जो दशा प्रगट होती है, वह कार्यपरमात्मा है अर्थात् एक में ही दो हैं — स्वयं ही कारण (परमात्मा) है और स्वयं ही कार्य (परमात्मा) है; परन्तु स्वयं कारण और जगत उसका कार्य — ऐसा नहीं है।

कहते हैं कि '**इसी से कार्यसमयसार अथवा कारणसमयसार को.........**' देखो, पहले 'परमात्मा' शब्द कहा था कि 'कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा', जबकि अब कहते हैं कि 'इसी से कार्यसमयसार को और कारणसमयसार को'.....आशय यह है कि जिसको कार्यपरमात्मा कहा था, उसको ही अब कार्यसमयसार कहा है और जिसको कारणपरमात्मा कहा था, उसी को अब कारणसमयसार कहते हैं। तेरहवें गुणस्थान में स्थित केवलीपरमात्मा और सिद्धपरमात्मा कार्यसमयसार है और कारणसमयसार अर्थात् त्रिकालीवस्तु। इन दोनों को '**सहजफलरूप शुद्धज्ञानचेतना होती है।**' स्वाभाविक ज्ञान-आनन्दफलरूप शुद्धज्ञानचेतना होती है। त्रिकालीवस्तु में (कारणसमयसार में) भी सहजज्ञान-आनन्दफलरूप शुद्धचेतना है और कार्य में (कार्यसमयसार में) भी सहजज्ञान-आनन्दफलरूप शुद्धज्ञानचेतना है। सहजज्ञान-आनन्दफलरूप त्रिकाल शुद्धज्ञानचेतना तो कारणसमयसार में/कारणपरमात्मा में/भगवान आत्मा में पड़ी ही है; परन्तु कार्यरूप सहजज्ञान-आनन्दफलरूप पूर्ण शुद्धज्ञानचेतना तो जब केवलज्ञान होता है, तब होती है।

प्रश्न — इसमें दया पालना, व्रत करना आदि कुछ तो आता ही नहीं ?

www.vitragvani.com

उत्तर — भाई! दया अथवा व्रत कौन पाले ? क्योंकि वह तो विकल्प है और विकल्प पुद्गल का परिणाम है, इसलिए जीव में है ही नहीं। जीव तो मात्र शुद्धज्ञानचेतना का और उसका फल केवलज्ञान तथा आनन्द का भण्डार है अर्थात् आत्मा में कारणरूप त्रिकाल शुद्धज्ञानचेतना है और कार्यरूप/फलरूप भी शुद्धज्ञानचेतना है; परन्तु कार्यरूप शुद्धज्ञानचेतना केवलज्ञान होने पर होती है।

यहाँ कहते हैं कि '**इसलिए सहज शुद्धज्ञानचेतनास्वरूप निज कारणपरमात्मा**' अन्दर त्रिकाली वस्तु '**संसारावस्था में या मुक्तावस्था में**' — इन दोनों दशाओं में '**सर्वदा एकरूप होने से उपादेय है।**' जीव की संसार अथवा मुक्तदशा तो पर्याय है। संसारदशा भी एक अवस्था है और मुक्तदशा भी एक अवस्था है, पर्याय है। उसमें त्रिकाली नित्यानन्द ध्रुव भगवान आत्मा सर्वदा एकरूप होने से उपादेय है। संसार और मुक्त अवस्था तो एकसमय की दशा है। वह सर्वदा एकरूप नहीं है; जबकि त्रिकाली आत्मा सर्वदा एकरूप है, इससे वह उपादेय है।

अहा! मोक्षावस्था हो या संसारावस्था हो, वे दोनों तो पर्याय है, दशा है, हालत है। जबकि उससमय त्रिकाल रहनेवाला भगवान आत्मा तो सर्वदा एकरूप वस्तु है; इसलिए वह आदरणीय है अर्थात् यह स्वयं परमात्मा (आत्मा) ही आदरणीय और आचरण (स्थिरता) करनेयोग्य है। उस पर दृष्टि करके, उसमें स्थिर हो जानेयोग्य है — ऐसा कहते हैं।

प्रश्न — यदि यह आत्मा ही आदरणीय है तो फिर भगवान की मूर्ति और मन्दिर का आदर कब करना ?

उत्तर — भाई! वह तो शुभराग हो तब होता है; तथापि वह शुभराग और भगवान की मूर्ति, मन्दिरादि सब हेय हैं। अद्‌भुत बात है!

प्रश्न — अभी तो आगम और मूर्ति — इन दो का ही आधार है न ?

उत्तर — इन दोनों में से एक का भी आधार आत्मा को नहीं है — यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

प्रश्न — अपने यहाँ भी तो संगमरमर पर परमागम उत्कीर्ण करवाये हैं न ?

उत्तर - भाई! कौन उत्कीर्ण करावे ? वास्तव में तो संगमरमर की पर्याय उस काल

www.vitragvani.com

में उसरूप हुई है। वरना कोई दूसरा उसे नहीं कर सकता। हाँ, विकल्प आता है; परन्तु उससे कहीं उससमय कार्य होता है ? (नहीं।) एक रजकण का भी नीचे से ऊपर आना उसके काल में होता है अर्थात् एक रजकण भी यहाँ आता है, वह उसके काल में उससे आता है; तो भी छद्मस्थ होने से विकल्प आता है — ऐसा विकल्प तो होता है न ? अरे! क्षायिक समकिती जींमने बैठा हो और ठण्डी रोटी आवे, तो 'ठण्डी नहीं, गर्म रोटी लाओ' — ऐसा कहता है; तो क्या वह रजकण के क्रम को बदलता है ? (नहीं।) वह तो ऐसा विकल्प होता है और वैसी वाणी निकलना हो तो निकलती है। वरना उसको (समकिती को) क्या है ? वह तो जाननेवाला है — ऐसी बात है!

प्रश्न — ज्ञानी आहार तो जींमता है न ?

उत्तर — कौन जींमे ? वह जींमने की (भोजन करने की) जड़ की क्रिया तो जड़ में होती है। आत्मा तो ये ओंठ भी नहीं हिला सकता; क्योंकि ये ओंठ तो रजकण/जड़/मिट्टी/अजीवतत्त्व हैं; इसलिए उस अजीवतत्त्व की ऐसे-वैसे हिलने की क्रिया अजीव से होती है, जड़ के कारण होती है। क्या आत्मा के कारण वह क्रिया होती है ? (नहीं होती।) देखो न, मरण के समय भाषा बन्द हो जाए, तब बोलना तो बहुत चाहता है; तो भी ऐं.....ऐं....हो जाता है अर्थात् भाषा नहीं निकलती। भाई! यह जड़ की अवस्था तो उसका स्वकाल हो तो होती है, आत्मा उसका कर्ता-हर्ता नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि संसारावस्था, यह तेरी मलिनदशा है और मोक्षावस्था, यह तेरी पूर्ण निर्मलदशा है। इन दोनों दशाओं में भी सर्वदा एकरूप रहनेवाला त्रिकाली ध्रुव आत्मा ही आदरणीय है।

देखो, इसमें समझ में आता है ?

इसमें (इसके द्रव्य-गुण-पर्याय में) जो है, उसकी बात की; परन्तु इसमें जो नहीं है, उसकी बात भी नहीं की है अर्थात् यह संसार और मुक्तदशा (पर्याय में) है तो भी उनमें आदरणीय तो त्रिकाली द्रव्य है — ऐसा कहा; परन्तु यह शरीर, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, पैसा, मकान अथवा खेत तो अन्दर आत्मा में थे ही कब ? (कि जिससे उनकी बात करते।) वे तो पर में हैं; तो भी अज्ञानी व्यर्थ ही उनको मेरा....मेरा मानता है और मूढ़ होकर परिभ्रमण करता है। वह (अज्ञानी) पागल, सन्निपातिया है।

श्रोता — सन्निपात मिटना कठिन है!

पूज्य गुरुदेवश्री — सत्य बात है। यहाँ कहते हैं कि मकान, कारखाना आदि एक भी तेरे नहीं हैं; इसलिए व्यर्थ ही हैरान किसलिए होता है ?

श्रोता — व्यर्थ हैरान कहाँ होता है ? पैसा प्राप्त करने के लिए हैरान होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री — पैसा प्राप्त करने को व्यर्थ हैरान नहीं होता; परन्तु पाप करके हैरान होता है।

श्रोता — परन्तु हमने यह सब मुफ्त में इकट्ठा नहीं किया है, मेहनत करके इकट्ठा किया है ?

पूज्य गुरुदेवश्री — तू यह क्या कहता है ? तूने धूल भी इकट्ठा नहीं किया है। अब सुन! यह तो तेरा पागलपन है। अरे! जगत के पागल मनुष्य को मैं क्या बोलता हूँ — इसका भी भान नहीं है।

प्रश्न — परन्तु हम कमाते तो हैं न ?

उत्तर — क्या कमाते हो ? पाप कमाते हो। इस परवस्तु का तो तू कुछ कर ही कब सकता है ? (कि जिससे पैसा आदि कमा सके।) अरे! इसको ऐसा सुनने को भी नहीं मिला; इसलिए सत्य का पता नहीं है और इसकारण पर की हूँक में चला जाता है कि जिसका परिणाम पागलपन-अज्ञानपन आता है। भाई! यह मार्ग अद्भुत है!

यहाँ कहते हैं कि '**ऐसा हे शिष्य! तू जान!**' देखो, ४६वीं गाथा में है न कि '**जाण**'-जान। तो उसमें से यह निकाला है कि हे शिष्य! तू जान — मैं त्रिकाली ज्ञान-चेतनामय हूँ — ऐसा जान। तेरा स्वरूप तो ज्ञानानन्द है; इसलिए तीनकाल और तीनलोक की समस्त चीज को जान! स्व को स्व-रूप और पर को पर-रूप जान। बस, इतना ही। अहा! तेरा चेतनास्वरूप ऐसा है; परन्तु अब जहाँ ऐसा स्वीकार ही नहीं है अर्थात् मैं मात्र चेतनामय-ज्ञानदर्शनमय हूँ — ऐसा स्वीकार ही नहीं है; तो तुझको वह (चेतनास्वरूप आत्मा) है ही नहीं। तुझको तो 'मैं राग का कर्ता हूँ, मैं राग करता हूँ' — ऐसा है।

देखो, भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यह कहा है कि हे शिष्य! तू ऐसा जान कि त्रिकाली भगवान आत्मा में त्रिकाली शुद्धज्ञानचेतना भी है और शुद्ध-आनन्दचेतना भी है। अनादि से प्रत्येक समय दोनों साथ ही हैं। ऐसा एक आत्मा ही जाननेयोग्य है,

www.vitragvani.com

आदरणीय है और उपादेय है। तात्पर्य यह है कि उसी में नजर (दृष्टि) करने स्थिर होनेयोग्य है और अन्य सब छोड़नेयोग्य है।

(अब पद्मनन्दि पच्चीसी के श्लोक का आधार देते हैं।)

श्री पद्मनन्दि आचार्य महाराज जंगलवासी दिगम्बर मुनि थे। वे कहते हैं कि '**मेरा ऐसा मंतव्य है कि**' मेरी तो ऐसी मान्यता है कि '**आत्मा पृथक् है और उसके पीछे-पीछे चलनेवाला कर्म पृथक् है।**' देखो, आत्मा कर्म को लेकर जाता है — ऐसा नहीं है; अपितु कर्म स्वयं ही आत्मा के पीछे-पीछे अर्थात् साथ-साथ जाता है — ऐसा कहते हैं।

प्रश्न — आत्मा और कर्म — दोनों साथ जाते हैं, उसमें कर्म पीछे-पीछे जाता है — यह कहाँ आया ?

उत्तर — यह तो कहा न कि पीछे-पीछे अर्थात् आत्मा के साथ और आत्मा के साथ अर्थात् आत्मा जाता है-गति करता है, तब कर्म स्वयं भी स्वयं के कारण से जाता है, गति करता है; परन्तु आत्मा के कारण कर्म गति करता है — ऐसा नहीं है — यह कहना है।

प्रश्न — फिर आत्मा कर्म को कब छोड़ता है ?

उत्तर — अभी यहाँ कर्म को छोड़ने का प्रश्न नहीं है, यह तो कर्म और आत्मा साथ गति करते हैं-जाते हैं, वह अपने-अपने कारण से है अर्थात् दोनों अपने-अपने कारण से जाते हैं — यह कहना है। इसका कारण यह है कि अरूपी भगवान आत्मा अलग है और रजकण जो कि अजीवतत्त्व हैं, वे भिन्न हैं। वे रजकण भी तत्त्व हैं, इसलिए वे स्वयं के कारण से जाते हैं; आत्मा के कारण से नहीं जाते। इसीतरह आत्मा भी कर्म के कारण गति नहीं करता। देखो, यह हाथ ऊँचा होता है, इसमें आत्मा अपने कारण अन्दर गति करता है और ये शरीर के (हाथ के) परमाणु भी शरीर के कारण गति करते हैं। वे आत्मा के कारण गति नहीं करते। ऐसे ही अन्दर कर्म के परमाणु भी आत्मा के पीछे-पीछे/साथ-साथ स्वयं स्वतः स्वयं से गति करते हैं।

आत्मा के पीछे-पीछे अर्थात् ?

आत्मा के साथ-साथ; फिर भी आत्मा के कारण कर्म गति नहीं करता; अपितु स्वयं से ही गति करता है। देखो, '**अनुगतिमत्**' उसके पीछे-पीछे — ऐसा है न ? अर्थात् उसको अनुसर कर, उसके साथ-साथ।

www.vitragvani.com

अहा! जहाँ प्रत्येक तत्त्व-प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न है, वहाँ उसका किसके साथ संबंध है ? प्रत्येक तत्त्व (द्रव्य) अपने गुण-पर्यायों से अलंकृत है और इससे ही उसकी शोभा है; परन्तु किसी पर के कारण उसकी शोभा है — ऐसा है ही नहीं।

प्रश्न — यहाँ से राजा श्रेणिक को नरक जाना पड़ा, तो नरक की आयु बँधी थी; इसलिए वहाँ जाना पड़ा न ? क्या उनको वहाँ जाने की इच्छा थी ? वे तो क्षायिक समकिती थे और तीर्थंकर नामकर्म भी बँधा था तथा उनको पता भी था कि मैं तीर्थंकर का जीव हूँ, मुझे तीर्थंकर होना है; तो क्या वह नरक में जाए ? कर्म ही खींच ले जाता है न?

उत्तर — भाई! यहाँ तो कहते हैं कि अन्दर में अरूपी अस्तित्ववाला आत्मा पृथक् चीज है और उसको अनुसर कर चलनेवाला कर्म भी पृथक् चीज है।

अब दूसरी बात करते हैं कि '**आत्मा और कर्म की अति-निकटता से**' आत्मा और कर्म की नजदीकता से '**जो विकृति होती है**' जो मिथ्याभ्रान्ति, राग-द्वेष या हास्यादि भाव होते हैं '**वह भी उसीप्रकार (आत्मा से) पृथक् है।**' भिन्न चीज है। देखो, यहाँ तीन बातें हुईं — (१) आत्मा, (२) कर्म और (३) कर्म के संबंध से। कर्म सबसे निकट है, इसलिए ऐसा कहते हैं कि उसका संबंध करने से जो विकार होता है, वह विकार भी आत्मा से भिन्न चीज है अर्थात् (१) निर्मलानन्द आत्मा भिन्न है, (२) कर्म भिन्न है और (३) विकार भी भिन्न है।

प्रश्न — परन्तु ये तीनों कब से भिन्न होंगे ? और कब से तीनों को एकमेक माना गया होगा ?

उत्तर — अनादि से ही तीनों भिन्न हैं और अनादि से इसको एकमेक माना है। (आत्मा, कर्म और राग को एकमेक माना है।)

अहा! तेरे कारण पैसा आया नहीं है, यहाँ रहा नहीं है तथा खर्च भी नहीं होता है; परन्तु पैसा तो पैसे के कारण आया है, रहा है और जाना है — ऐसा यहाँ कहते हैं। तदुपरान्त यहाँ तो यह कहते हैं कि स्वयं आत्मा कर्म के बंधन में निमित्त था तो भी कर्म तो कर्म के कारण आत्मा के पीछे-पीछे जाता है; परन्तु आत्मा कर्म को ले जाता है अथवा कर्म आत्मा को ले जाता है — ऐसा नहीं है। भाई! बात अद्भुत है।

www.vitragvani.com

प्रश्न — परन्तु यह तो निश्चय की बात है, व्यवहार से तो कुछ दूसरा होगा या नहीं ?

उत्तर — भाई! व्यवहार से कहा जाता है कि आत्मा ने कर्म बाँधा; परन्तु ऐसा है नहीं। कथन तो ऐसा ही है न कि आत्मा ने कर्म बाँधा और जैसा कर्म बाँधा, वैसा भोगना पड़ेगा; परन्तु यह सब व्यवहार की बातें हैं। वास्तव में तो आत्मा कहाँ कर्म बाँधता है ? आत्मा तो विकार को करता है और उसको भोगता है अर्थात् अपनी दशा में, अपने अस्तित्व में अपना कर्तापना है; परन्तु अन्य के अस्तित्व में उसका प्रवेश कहाँ है कि पर को करे या भोगे ?

'तथा काल-क्षेत्रादि जो हैं, वे भी (आत्मा से) पृथक् हैं।' काल और क्षेत्रादि सब आत्मा से पृथक् हैं। जितने रजकण-परमाणु हैं तथा धर्मास्तिकाय-अर्धास्तिकाय आदि वस्तुएँ हैं, वे सब भी आत्मा से पृथक् हैं।

'निज-निजगुणकला से अलंकृत यह सब पृथक्-पृथक् हैं।' प्रत्येक द्रव्य अपनी शक्तिरूप गुण और उसकी पर्याय से, बस उनसे ही, अलंकृत है; परन्तु पर की पर्याय यहाँ अपने में नहीं आती और पर की पर्याय में स्वयं नहीं जाता। प्रत्येक द्रव्य निज-निजगुणकला से अर्थात् गुण-पर्याय से अलंकृत है। प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक कालादि पदार्थ अपनी शक्ति और अपनी पर्याय से अलंकृत है। इसप्रकार **'यह सब पृथक्-पृथक् है। (अर्थात् अपने-अपने गुण और पर्यायों से युक्त सर्व द्रव्य अत्यन्त पृथक्-पृथक् हैं।)'** देखो, अलंकृत का अर्थ युक्त अर्थात् सहित किया है। प्रत्येक पदार्थ अपने गुण और पर्यायों से सहित है, परन्तु दूसरे सर्व द्रव्यों से अत्यन्त पृथक् है।

प्रश्न — 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में आत्मा है कि कर्म और आत्मा — दोनों साथ हैं ?

उत्तर — भाई! कर्म और आत्मा को इतना निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई संबंध नहीं है। आशय यह है कि आत्मा कर्म को बदलावे या कर्म आत्मा को बदलावे — ऐसा कुछ है ही नहीं। भले ही आत्मा के साथ कर्म हों; तो भी कोई किसी का कर्ता-हर्ता तो है ही नहीं। सब अपना-अपना कार्य करते हैं।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

प्रश्न — यहाँ कहा है कि 'सब द्रव्य अत्यन्त पृथक्-पृथक् हैं, तो क्या पिता और पुत्र भी पृथक् होंगे ?

उत्तर — भाई! जब पर के लक्ष्य से होनेवाला विकृत अवस्थारूप अंश भी पृथक् चीज है; तो फिर यह पुत्र तो पृथक् चीज है ही। आत्मा तो निर्विकारी चिदानन्द वस्तु है; इसलिए उसमें यह कर्म और विकार भी कैसा ? और तब पुत्र तो भिन्न है ही।

कलश ७० पर प्रवचन

'बंध हो न हो (अर्थात् बंधावस्था में या मोक्षावस्था में)' आत्मा बंध अवस्था में हो या मोक्ष अवस्था में हो, **'समस्त विचित्र मूर्तद्रव्यजाल (अनेकविध मूर्तद्रव्यों का समूह)'** रजकणोंरूप मूर्तद्रव्यजाल **'शुद्धजीव के रूप से'** भगवान आत्मा के स्वरूप से **'व्यतिरिक्त है'**-भिन्न है — **'ऐसा जिनदेव का शुद्धवचन....'**

प्रश्न — 'जिनदेव का शुद्धवचन' ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर — क्योंकि भगवान ने ही यह जाना है कि अनन्त द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं तथा प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय से सहित है; इसलिए उनका वचन ही शुद्धवचन है।

यह जिनदेव का शुद्धवचन **'बुधपुरुषों को कहते हैं।'** भगवान ज्ञानी को ऐसा कहते हैं कि बापू! प्रत्येक परमाणु पृथक् है; विकार पृथक् है और प्रत्येक आत्मा भी पृथक्-पृथक् है तथा अविकारी भगवान आत्मा भी विकारादि से पृथक् है — ऐसा जिनदेव का शुद्धवचन बुधपुरुषों को कहते हैं।

'इस भुवन विदित को (इस जगत प्रसिद्ध सत्य को)........' कहते हैं कि यह तो जगत प्रसिद्ध है। जहाँ भगवान ने अनन्त द्रव्य कहे, वहाँ तो प्रसिद्ध ही है कि प्रत्येक द्रव्य के गुण और पर्याय स्वयं से हैं, पर से नहीं। वरना अनन्तता (अनन्तपना) ही नहीं रहती। अत: इस जगत प्रसिद्ध सत्य को **'हे भव्य! तू सदा जान!'** देखो, किसीसमय आत्मा को पर से भिन्न जान और किसीसमय उसको पर से एकमेक जान — ऐसा नहीं कहा है; परन्तु भिन्न है — ऐसा सदा जान, यह कहा है; क्योंकि किसी भी समय आत्मा और पर एक हैं — ऐसा है ही नहीं।

निगोद के एक शरीर में अनन्त आत्माएँ होने पर भी, प्रत्येक आत्मा पृथक्-पृथक्

www.vitragvani.com

है। प्रत्येक रजकण और प्रत्येक आत्मा भी भिन्न-भिन्न है।

- निगोद के एक शरीर में अनन्त जीव हैं।
- उस प्रत्येक जीव को दो-दो शरीर — कार्मण और तैजस हैं।
- उस एक-एक कार्मण और तैजस शरीर में अनन्त स्कन्ध हैं।
- उस एक-एक स्कन्ध में अनन्त परमाणु हैं।

तो वह प्रत्येक परमाणु अपने गुण-पर्यायों से है तथा एकसाथ रहे हुए अनन्त जीवों में से प्रत्येक जीव भी अपने गुण और अवस्थाओं से रहा है; परन्तु पर के कारण नहीं - ऐसा जो भगवान का वचन है, वह शुद्धवचन/सच्चा वचन है — ऐसा यहाँ कहते हैं। उसको 'हे भव्य! तू जान।' — ऐसा स्वरूप भेदज्ञान करके जान तो तेरा कल्याण होगा और तेरी मुक्ति होगी। ●

जिसप्रकार चन्द्रमा आकाश में निरन्तर चक्कर लगाता रहता है उसीप्रकार यह प्राणी संसार में सदा परिभ्रमण करता रहता है। जैसे चन्द्रमा उदय-अस्त एवं कलाओं की हानि-वृद्धि को प्राप्त होता रहता है उसीप्रकार संसारी प्राणी भी जन्म-मरण तथा सम्पत्ति की हानि-वृद्धि को प्राप्त होता रहता है, जैसे चन्द्रमा मध्य में कलुषित (काला) रहता है उसीप्रकार संसारी प्राणी का हृदय भी पाप से कलुषित रहता है तथा जिसप्रकार चन्द्र एक राशि (मीन-मेष आदि) से दूसरी राशि को प्राप्त कर लेता है। तदनुसार संसारी प्राणी भी एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर का ग्रहण करता रहता है। ऐसी स्थिति होने पर भी सम्पत्ति और विपत्ति की प्राप्ति में जीव को हर्ष और विषाद किसलिए करना चाहिए ? अर्थात् नहीं करना चाहिए।

- श्री पद्मनन्दिपंचविंशति

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

नियमसार गाथा–४७

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण॥४७॥

यादृशाः सिद्धात्मानो भवमालीना जीवास्तादृशा भवन्ति।
जरामरणजन्ममुक्ता अष्टगुणालंकृता येन॥४७॥

(हरिगीत)

है सिद्ध जैसे जीव, त्यों भवलीन संसारी वही।
गुण आठ से जो है अलंकृत जन्म-मरण-जरा नहीं॥४७॥

गाथार्थ :— जैसे सिद्ध आत्मा हैं वैसे भवलीन जीव हैं, जिससे (वे संसारी जीव सिद्धात्माओं की भाँति) जन्म–जरा–मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हैं।

टीका :— शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से संसारी जीवों में और मुक्त जीवों में अन्तर न होने का कथन है।

जो कोई अति–आसन्न–भव्यजीव हुए, वे पहले संसारावस्था में संसार–क्लेश से थके चित्तवाले होते हुए सहजवैराग्यपरायण होने से द्रव्य–भावलिंग को धारण करके परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त किए हुए परमागम के अभ्यास द्वारा सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करके अव्याबाध (बाधारहित) सकल–विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान–केवलदर्शन–केवलसुख–केवलवीर्ययुक्त सिद्धात्मा हो गये कि जो सिद्धात्मा कार्यसमसाररूप हैं, कार्यशुद्ध[*] हैं। जैसे वे सिद्धात्मा हैं वैसे ही शुद्धनिश्चयनय से भववाले (संसारी) जीव हैं। जिसकारण वे संसारी जीव सिद्धात्मा समान हैं, उस कारण वे संसारी जीव जन्म–जरा–मरण से रहित और सम्यक्त्वादि आठ गुणों की पुष्टि से तुष्ट हैं (सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु तथा अव्याबाध इन आठ गुणों की समृद्धि से आनन्दमय है)।

(अब ४७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं)—

(अनुष्टुभ्)

प्रागेव शुद्धता येषां सुधियां कुधियामपि।
नयेन केनचितेषां भिदां कामपि वेद्‌म्यहम्॥७१॥

---

१. कार्यशुद्ध=कार्य–अपेक्षा से शुद्ध।

www.vitragvani.com

(वीरछन्द)

जो सुबुद्धि या दुर्बुद्धि हों पहले से ही शुद्ध अहो!
किस नय से फिर भेद करूँ मैं, उन दोनों में तुम्ही कहो ॥७१ ॥

श्लोकार्थ :— जिन सुबुद्धिओं को तथा कुबुद्धिओं को पहले से ही शुद्धता है, उनमें कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ? (वास्तव में उनमें कुछ भी भेद अर्थात् अन्तर नहीं है।) ॥७१ ॥

गाथा ४७ पर प्रवचन

'जैसे सिद्ध आत्मा हैं, वैसे भवलीन (संसारी) जीव हैं।' जैसे परमात्मा हुए आत्मा हैं, वैसे भव में-पर्याय में लीन जीव हैं। राग कहो या संसार कहो या भव कहो एक ही है। तो पर्याय में और राग में अर्थात् चारगति आदि औदयिकभाव में संसारी जीव लीन हैं — ऐसा कहते हैं और यह कहकर वे संसारी जीव हैं — ऐसा सिद्ध किया।

'जिससे (वे संसारी जीव सिद्धात्माओं की भाँति) जन्म-जरा-मरण से रहित' — यह नास्ति से कहा। अब अस्ति से कहते हैं कि **'और आठ गुणों से अलंकृत हैं।'** संसारी जीव, पर्याय में और रागभाव में लीन होने पर भी, वस्तु अपेक्षा से सिद्ध समान हैं। जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसे ही ये संसारी आत्मा हैं। यद्यपि भाषा तो यह प्रयोग की है कि वे संसारी जीव भव में और पर्याय में लीन हैं अर्थात् व्यवहारनय से वे राग में एकत्व है, तथापि स्वभावदृष्टि से तो वे सिद्धसमान हैं; क्योंकि संसारी के आत्मद्रव्य में और सिद्ध में कोई अन्तर नहीं है। पर्याय अपेक्षा से संसारी जीव पर्याय में और राग में एकत्व होने से मिथ्यात्वसहित होने पर भी-भव में लीन होने पर भी वस्तुरूप से तो सिद्धसमान ही हैं। तात्पर्य यह है कि संसारी जीव पर्यायदृष्टि से संसारी है और वस्तुदृष्टि से सिद्धसमान हैं — ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं।

गाथा ४७ की टीका पर प्रवचन

देखो, टीका में स्पष्टीकरण किया है कि **'शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से...'** अर्थात् भगवान आत्मा, जो कि एकसमय की पर्याय, राग और मिथ्यात्व से अतिरिक्त सम्पूर्ण वस्तु है, उसे देखें तो **'संसारी जीवों में और मुक्त जीवों में अन्तर नहीं होने का यह कथन है।'**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

अब सिद्ध किसप्रकार हुए, उसकी व्याख्या करते हैं — **'जो कोई अति आसन्नभव्य जीव हुए.....'** इस संसार में जिनकी मुक्ति निकट है — ऐसे जो भव्यजीव हुए **'वे पहले संसारावस्था में संसार-क्लेश से थके चित्तवाले होते हुए...'** संसारदशा में होने पर भी, संसार से थके चित्तवाले होते हुए.....अर्थात् इस राग/विकार/संसार से जिनका चित्त थक गया था; जिनको राग से थकान लगी थी और राग की थकान को मिटाने की भावना थी, यह उनकी बात है — ऐसा कहते हैं।

देखो, गाथा में 'भवलीन' शब्द है न! तो अब टीका में कहते हैं कि 'संसार अवस्था में।' संसार में होने पर भी संसार क्लेश से थके चित्तवाले होते हुए अर्थात् परिणति में संसार से थकान लगी थी। 'थके चित्तवाले' का यह अर्थ नहीं है कि इन सब बाहर की वस्तुओं का — स्त्री, पुत्र या परिवारादि का बोझ था; अपितु अन्दर में राग-द्वेष का बोझ/थकान लगा था, वे उपाधिरूप लगते थे।

अहो! पर्याय में/दशा में/हालत में कषाय की या विकल्प की अग्नि सुलगती है और उसका भय लगा था — यह कहते हैं। तो ऐसे चित्तवाले होते हुए **'सहजवैराग्यपरायण होने से.......'** परायण=तत्पर। रागदि से सहजवैराग्य होने के उपरान्त उसमें तत्पर होने से.....लो, गाथा में 'भवलीन' - भव से लीन ऐसा कहा था। तो अब यहाँ टीका में कहते हैं कि 'सहजवैराग्य में तत्पर-लीन होने से......आशय यह है कि राग और मिथ्यात्व के परिणाम की, जो कि संसारभाव-औदयिकभाव है, उसकी थकान लगी थी और इसप्रकार स्वाभाविक वैराग्य में तत्पर होने से.....। अहा! इस राग से अर्थात् संसार के औदयिकभाव से थककर स्वाभाविक वैराग्य में परायण होता हुआ अर्थात् संसारभाव से थका था और अपने स्वरूप में विराजित भगवान आत्मा में नजर की थी।

अहा! पूर्व में सिद्ध किसप्रकार हुए — यहाँ उसकी व्याख्या करते हैं; क्योंकि पूर्व में जितने सिद्धपरमात्मा हुए ऐसा ही यह आत्मा है - यह कहना है; इसलिए पूर्व में सिद्ध किसप्रकार हुए, यह बात भी साथ ही करते हैं। कहते हैं कि सहजवैराग्य में तत्पर होने से अर्थात् सारी दुनिया के सुख-दुःख की कल्पना से वैराग्य होकर, वैराग्य में तत्पर हुआ था। वह प्रथम पर से हट गया था और दृष्टि अपेक्षा से स्वभाव में आया था अर्थात् उसको सम्यग्दर्शन हुआ था। तत्पश्चात् वैराग्य में तत्पर होने से **'द्रव्य-भावलिंग को धारण करके........'** - मुनि का द्रव्यलिंग, जो कि नग्नपना, अट्ठाईस मूलगुण आदि

www.vitragvani.com

हैं; उसको धारण किया था। यहाँ व्यवहार से समझाते हैं न ? तथा नग्नपना और अट्ठाईस मूलगुणादि व्यवहाररूप हैं न ? इसलिए 'द्रव्य-भावलिंग को धारण करके' — ऐसा कहा है।

अहा! सिद्ध होने के उपाय की रीति यह है कि जो संसार के औदयिकभाव से हटता है, उसको सहजवैराग्य होता है और वह आत्मा में आता है अर्थात् मेरा तो यह चैतन्य-स्वभाव है - ऐसे उसकी दृष्टि में आत्मा का अनुभव होता है; फिर वह सहजवैराग्य में लीन होने से द्रव्य-भावलिंग को धारण करता है। यह निमित्तरूप जो पंचमहाव्रत आदि अट्ठाईस मूलगुणों का विकल्प है, वह द्रव्यलिंग है तथा नग्नपना भी द्रव्यलिंग है और भावलिंग अर्थात् अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र स्वसंवेदन होना वह। यहाँ पर्याय में तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूपदशा को भावलिंग कहते हैं। ऐसे भावलिंग के साथ अट्ठाईस मूलगुण और नग्नपनारूप द्रव्यलिंग भी होता है। देखो, ऐसा कहकर, यह कहते हैं कि पूर्व में इसप्रकार सिद्ध हुए थे। अन्य लिंग में-गृहस्थ लिंग में सिद्ध होने का यहाँ निषेध करते हैं।

प्रश्न — अपवाद तो होता है न ?

उत्तर — इसमें अपवाद होता ही नहीं। जहर नहीं पीने में कोई अपवाद नहीं होता कि थोड़ा जहर पीना।

यहाँ कहते हैं कि द्रव्य-भावलिंग को धारण करते हैं; परन्तु कब ? कि जब पर से हटा और स्व में आया तब। औदयिकभाव से/सम्पूर्ण संसार से हटा है और पारिणामिकभाव में आया है अर्थात् जिसने अन्दर परमस्वभावभाव को पकड़ा है, वह द्रव्य-भावलिंग को धारण करता है। जहाँ अन्तर में चिदानन्दमय परमपारिणामिकस्वभावभाव भगवान आत्मा का अनुभव किया, उसे पकड़ा, वहाँ उसको औदयिकभाव से सहजवैराग्य होता है और वह द्रव्य-भावलिंग धारण करता है; फिर भले ही पंचमहाव्रत का विकल्प हो तो भी उससे मुनि उदास है। अरे! समकित होने पर ज्ञानी भी राग से उदास है।

कहते हैं कि समकित होने के पश्चात् 'द्रव्य-भावलिंग को धारण करके' — ऐसा कहकर यह भी सिद्ध करते हैं कि मुनिदशा में होनेवाला द्रव्यलिंग मात्र नग्नपना और पंचमहाव्रतादि के विकल्परूप ही होता है; परन्तु दूसरे प्रकार से द्रव्यलिंग नहीं होता।

www.vitragvani.com

कितने ही अन्यमत में ऐसा कहते हैं कि गृहस्थ के वेष में भी केवलज्ञान होता है। (परन्तु यह सत्य नहीं है।)

प्रश्न — दूसरे मत में कहते हैं कि भरत महाराज को गृहस्थदशा में केवलज्ञान हुआ है ?

उत्तर — भरत महाराज को गृहस्थ अवस्था में केवलज्ञान हुआ ही नहीं था। भरत महाराज ने पहले दीक्षा ली थी, नग्न हुए थे अर्थात् अन्दर में मन-वचन-काया और कृत-कारित-अनुमोदना — ऐसी नौ कोटि से परिग्रह का त्याग हो गया था और फिर वे ध्यान में विराजमान हुए, वहाँ केवलज्ञान हो गया; इसलिए उनको गृहस्थदशा में केवलज्ञान हुआ था — यह कहना एकदम असत्य है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि जिसको आत्मदर्शन होता है, उसको औदयिकभाव से वैराग्य हो गया होता है; फिर जब उसको भावलिंगरूप से तीन कषाय का अभाव होता है, तब द्रव्यलिंगरूप नग्नपना और पंचमहाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुणों का ही विकल्प होता है। यह दशा प्राप्त किये बिना कोई जीव कभी केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। अहा! यहाँ तो जो कोई मुनि होते हैं, उनकी दशा की बात है। तो कहते हैं कि जो कोई भी मुनि है, उनको द्रव्यलिंग में नग्नपना और पंचमहाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुणों का विकल्प होता है और भावलिंग में तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप आनन्द होता है।

प्रश्न — ऐसे दो लिंग (द्रव्य-भावलिंग) को धारण करके मुनि तो हुए; परन्तु फिर क्या ?

उत्तर — जो भावलिंगी मुनि हुए, वे अब '**परमगुरु के.........**' केवलज्ञानी परमात्मा और संतगुरु के '**प्रसाद से प्राप्त किये हुए परमागम के अभ्यास द्वारा.......**' अन्तर में ज्ञान की एकाग्रता के अभ्यास द्वारा........।

प्रश्न — परमागम का अभ्यास माने क्या ?

उत्तर — अन्तर में ज्ञान की एकाग्रता का अभ्यास करना सो परमागम का अभ्यास है; क्योंकि परमागम में ही ऐसा कहा है कि जैसा तेरा स्वरूप है, उसमें लीन हो.....लीन हो अर्थात् उसका अभ्यास कर — यह परमागम में कहा गया है। इस परमागम के अभ्यास द्वारा '**सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करके.......।**'

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

***प्रश्न* —** लो, यहाँ तो 'सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करके.........' ऐसा कहा है।

***उत्तर* —** भाई! यह व्यवहार से बतलाते हैं; क्योंकि यहाँ (मध्यलोक में) सिद्धदशा होने पर सिद्धक्षेत्र (सिद्धशिला) पर जाता है; इसलिए व्यवहार से कहा है कि सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करके।'

अब कहते हैं कि '**अव्याबाध (बाधारहित)**' दशा हुई है अर्थात् सिद्धपरमात्मा को अब किसीप्रकार का विरोध नहीं है, बाधा नहीं रही है तथा '**सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख-केवलवीर्ययुक्त सिद्धात्मा हो गये।**' देखो, सिद्ध को केवलसुख कहने से अकेला आनन्द और अनन्तवीर्य कहने से पूर्ण बल होता है — ऐसा कहते हैं। इन सबसे सहित सिद्धात्मा हो गये है। लो, पहले यह सिद्ध होने की रीति और उपाय की बात की है कि जो कोई सिद्ध हुए हैं, होते हैं और होंगे, उसकी यही रीति है; परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य कोई रीति नहीं है।

श्वेताम्बर मत में ऐसा कहते हैं कि पन्द्रह भेद-प्रकार से सिद्ध होते हैं। बाबा-फकीर का वेष हो, गृहस्थ का वेष हो या स्त्री का लिंग हो — इत्यादि ऐसे पन्द्रह भेद हों तो भी केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जाते हैं; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि यह एक ही लिंगभेद होता है। भगवान ने जैसा द्रव्य और भावलिंग कहा है, वैसा ही होता है। बाकी दूसरे वेष से (लिंग से) केवलज्ञान नहीं होता।

कहते हैं कि '**सिद्धात्मा कार्यसमयसाररूप हैं,**' ये सिद्ध कार्य से अर्थात् पर्याय से समयसारस्वरूप हैं, पर्याय में पूर्ण आत्मस्वरूप हो गये हैं और '**कार्यशुद्ध हैं।**' उनको पूर्ण शुद्धदशा हो गई है। फुटनोट में स्पष्टीकरण किया है कि 'कार्यशुद्ध=कार्य-अपेक्षा से शुद्ध।' केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवल-आनन्दादि पूर्णदशा, वह कार्यशुद्धदशा है। यह कार्य अर्थात् पर्यायरूपी कार्य; परन्तु बाहर के (पर के) कार्यों की बात यहाँ नहीं है; क्योंकि दूसरा द्रव्य बाहर के कार्य कर ही कब सकता है ? तो कहते हैं कि निचली (छद्मस्थ) दशा में कारणसमयसाररूप भगवान आत्मा को पकड़ने से, जिनको अन्तर में केवलज्ञानादि प्रगट हुए हैं, वे कार्यसमयसाररूप हुए हैं और उनको कार्यशुद्धरूपदशा प्रगट हुई है।

'**जैसे वे सिद्धात्मा हैं, वैसे ही शुद्धनिश्चयनय से भववाले (संसारी) जीव हैं।**' भव में-गति में होने पर भी और औदयिकभाव में रहे हुए होने पर भी, संसारी जीव

सिद्धसमान पूर्ण हैं। जीव और जिनवर में अन्तर नहीं हैं अर्थात् कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा — दो में अन्तर नहीं हैं। देखो, यहाँ तो समस्त संसारी जीव लिये हैं। वे संसारी जीव भव्य हों या अभव्य; शुद्धनय से तो अन्दर में सिद्धसमान ही हैं। नाटक समयसार (मंगलाचरण पद ११) में आता है न '**सिद्धसमान सदा पद मेरो।**' यानी कि कोई भव्य हो या अभव्य, कोई अनन्त संसारी हो या एकावतारी हो; वस्तु अपेक्षा से तो सभी जीव सिद्धसमान ही हैं और तू इस बात का स्वीकार कर — ऐसा यहाँ कहना है। पर्यायबुद्धि अर्थात् जिसमें संसार दिखता है, वह बुद्धि छोड़ और मैं त्रिकाली परमात्मा हूँ — ऐसी बुद्धि कर, इसके लिए यह कहा जा रहा है।

अहा! सिद्ध को अनन्त-आनन्द है और वैसा ही अनन्त-आनन्द तेरे में भी है। अतः बाहर में सुख मानना मिथ्यात्व है। अरे! उस मिथ्यादृष्टि के अन्तर में भी अनन्त-आनन्द पड़ा है। इसप्रकार सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ प्रत्येक आत्मा को सिद्धसमान फरमाते हैं। यह कहकर यहाँ क्या कहना है ? कि तेरा पूर्णपद कहीं बाहर से नहीं आता; अपितु तू ही पूर्ण है, उसमें से आता है — यह कहना है। जो है, उसकी प्राप्ति है। प्राप्त की प्राप्ति है।

प्रश्न — आसन्न भव्य अर्थात् ?

उत्तर — जो निकटकाल में मुक्ति जानेयोग्य है वह और उसको सिद्धदशा प्रगट होती है — ऐसा यहाँ कहते हैं। यद्यपि समस्त संसारी प्राणी, फिर भले ही वे भव्य हों या अभव्य, वस्तु अपेक्षा तो सिद्धसमान ही हैं; तथापि यहाँ कौन सिद्ध होता है, उसकी पहले व्याख्या की है कि जो अति-आसन्नभव्य है, जिसको केवलज्ञान निकट है, जिसके भव का अन्त नजदीक है, वह जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करके और वैराग्य पाकर द्रव्य-भावलिंग को धारण करता है, तत्पश्चात् वह सिद्ध होता है — इसप्रकार बात की है। अब कहते हैं कि कोई जीव आसन्नभव्य न हो और अभव्य हो, तो भी आत्मवस्तु की अपेक्षा से तो सिद्धसमान ही है। यह तो पहले कहा था न कि किसी को अनन्तभव हो या एक भव हो, कुछ भी हो; सभी जीव अन्दर में वस्तु-अपेक्षा से तो कार्यसमयसाररूप सिद्ध-समान ही हैं।

अहा! जैसे कार्यसमयसाररूप सिद्ध हैं, वैसे ही समस्त संसारी जीव हैं - इसप्रकार जो कहा है, वह पर्याय की अपेक्षा से नहीं कहा है; अपितु द्रव्य की अपेक्षा से कहा

www.vitragvani.com

है। तात्पर्य यह है कि गाथा में, संसारी जीव आठ गुणों से अलंकृत हैं — ऐसा कहा है; तो ये आठ गुण संसारी जीवों को पर्याय में प्रगट हैं — ऐसा नहीं कहना है; परन्तु उनके द्रव्यस्वभाव में ही आठ गुणमय त्रिकाली स्वरूप है — यह कहना है और वह स्वरूप है तो उसमें से पर्याय में आठ गुण आते हैं। स्वरूप की दृष्टि करके, उसका अनुभव करके, तत्पश्चात् उसके अन्तर में स्थिरता करने से सिद्धपद प्राप्त होता है।

अहा! कहते हैं कि सिद्ध नहीं हुए भी अन्दर में तो सिद्धस्वरूप ही हैं। देखो, 'जैसे वे सिद्धात्मा हैं, वैसे ही शुद्ध निश्चयनय से भववाले (संसारी) जीव हैं — ऐसे शब्द हैं न ?

प्रश्न — एक ओर भववाला कहना और दूसरी ओर सिद्ध कहना...(यह क्या है) ?

उत्तर — भाई! अवस्था में/पर्याय में मिथ्यात्व और राग-द्वेष होने पर भी वस्तु अपेक्षा से तो संसारी सिद्धसमान ही हैं — ऐसा कहते हैं। इसप्रकार दोनों बातें सिद्ध की हैं कि पर्याय में भव-गति है और फिर भी वस्तु में भव-गति नहीं है।

'जिसकारण से संसारी जीव सिद्धात्मा समान हैं।' संसारी जीव अर्थात् निगोद से लेकर सभी जीव। ये शकरकंद आदि के एक-एक टुकड़े में असंख्य तो शरीर हैं और उस एक-एक शरीर में सिद्धों की संख्या से अनन्तगुने जीव हैं। तो वे सभी जीव सिद्धसमान ही हैं। आशय यह है कि वहाँ (निगोद में) अनन्त भगवान विराजते हैं; क्योंकि वस्तु अपेक्षा से तो सभी भगवान ही हैं न ? पर्याय में भले ही भव-औदयिक भाव हो; परन्तु वस्तु में वह कुछ नहीं है; इसलिए सम्पूर्ण दुनिया-चौदह ब्रह्माण्ड भगवान से भरी हुई है।

देखो, एक पूहर...होती है न! तो उसके एक टुकड़े में असंख्य शरीर हैं और उस एक-एक शरीर में अनन्तजीव हैं। उन अनन्त जीवों में कितने ही भव्य हैं और कितने ही अभव्य भी हैं — दोनों प्रकार के जीव हैं। तो भी वे सब जीव निश्चयनय से भगवान परमात्मा ही हैं। ये वेदान्तवाले ऐसा कहते हैं न कि विश्व में एक आत्मा ही है; तो ऐसा नहीं है; परन्तु सभी आत्मा एक समान-सिद्धसमान हैं। अहा! पर्याय तो एकसमय की दशा है; इसलिए संसार भी एकसमय का है; परन्तु दो समय का नहीं; जबकि सम्पूर्ण त्रिकाली वस्तु को देखो तो वह सदा सिद्धसमान ही है। सिद्ध भगवान को जितने गुण प्रगट हुए हैं, उन सभी गुणों का स्वभाव जीव में भरा है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

कहते हैं कि '**उसकारण वे संसारी जीव जन्म-जरा-मरण से रहित और सम्यक्त्वादि आठ गुणों की पुष्टि से तुष्ट हैं।**' अहा! वस्तु में जन्म कैसा ? अर्थात् द्रव्यस्वभाव में जन्म क्या ? उसको जरा क्या ? और वह मरे भी कैसे ? द्रव्यस्वभाव तो जन्म-जरा-मरण से रहित है 'और सम्यक्त्वादि आठ गुणों की पुष्टि से तुष्ट है।' निश्चय से तो सिद्ध को अनन्तगुण प्रगट हुए हैं; परन्तु व्यवहार से सम्यक्त्वादि आठ गुण प्रगट हुए हैं — ऐसा कहा जाता है न ? तो द्रव्यस्वभाव ऐसे उन आठ गुणों की पुष्टि से तुष्ट है — ऐसा कहते हैं। तुष्ट=आनन्दमय।

(**सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु तथा अव्याबाध — इन आठ गुणों की समृद्धि से आनन्दमय है।**) प्रत्येक जीव स्वभाव अपेक्षा से शक्तिरूप — ऐसे इन आठ गुणों की समृद्धि से आनन्दमय है अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्दमय है। अहा! यह दुःख और संसार तो एकसमय की पर्याय है अर्थात् दुःख का काल एकसमय है; जबकि (स्वभावरूप) आनन्द का काल अनादि-अनन्त है।

प्रश्न — यह आनन्द कौन-सा है। इन पैसों का ?

उत्तर — भाई! यहाँ पैसे की ममता को तो दुःखरूप कहते हैं और वह दुःख एकसमय का है; जबकि अपना त्रिकाली स्वभाव तो आठ गुणों की पुष्टि से-समृद्धि से सदा आनन्दमय है। सम्यक्त्व की समृद्धि से, अनन्तज्ञान की समृद्धि से स्वभाव आनन्दमय है और इसीप्रकार अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध — इन गुणों की समृद्धि से स्वभाव तुष्ट-आनन्दमय है।

कौन आनन्दमय है ? संसारी जीवों का द्रव्यस्वभाव।

कौन से संसारी जीवों का द्रव्यस्वभाव ? भव्य और अभव्य — दोनों प्रकार के जीवों का द्रव्यस्वभाव; क्योंकि उनके द्रव्यस्वभाव में कहाँ अन्तर है ? अन्तर तो पर्याय में मोक्ष प्रगट होने और नहीं होने की अपेक्षा से है। वरना वस्तुस्वभाव में कहाँ अन्तर है ? तो भी यह नहीं कहना है कि सिद्ध की तरह संसारी को भी पर्याय में आठ गुण प्रगट हैं; क्योंकि संसारी जीव पर्याय की अपेक्षा से तो भव में लीन है; इसलिए यह तो (मूलगाथा में) पहले ही कहा था कि 'संसारी भव में लीन हैं।' अब जब वस्तु में इसप्रकार से (स्वभावरूप) आठ गुण हैं तो उसका अर्थ यह है कि द्रव्यस्वभाव आठ

www.vitragvani.com

गुणों से आनन्दमय है और ऐसा कारणसमयसार कार्यसमयसार जैसा ही है — दोनों में कोई अन्तर नहीं है; परन्तु जिसको उसका स्वीकार हो, उसके लिए कारणसमयसार आनन्दमय है — ऐसा कहना है।

अहा! पहले कलश ३४ में आ गया है कि विभाव-औदयिकभाव होने पर भी हमें उसकी चिन्ता नहीं है; क्योंकि हमारे (स्वभाव में) विभाव है ही नहीं। हमारे स्वभाव में तो अनन्तज्ञान और अनन्त-आनन्द है। आत्मा का जो स्वभाव है, उसका जो सामर्थ्य है, वह तो अनन्तगुणों से भरपूर है तथा उसमें अनन्तज्ञान और आनन्दादि हैं — ऐसा आत्मा मैं हूँ — ऐसी दृष्टि होने को यहाँ धर्मी का लक्षण कहा जाता है। ऐसा कहकर यह कहते हैं कि दृष्टि बदलने से पूरी सृष्टि ही बदल जाती है। जहाँ ऐसी दृष्टि है कि मैं राग की एकतावाला हूँ, वहाँ सब मिथ्यात्व और अज्ञान की ही सृष्टि (दशा) उत्पन्न होती है और एकसमय की पर्याय होने पर भी उसकी दृष्टि छोड़कर, व्यक्तरूप मेरा भगवान आत्मा त्रिकाल आनन्दमय और सिद्धस्वरूप ही है अर्थात् मैं तो सिद्धसमान ही हूँ — जहाँ अन्तर में ऐसी दृष्टि हुई, वहाँ उसके फलस्वरूप सिद्धपद प्राप्त होता है। (सिद्धपद की सृष्टि उत्पन्न होती है।)

प्रश्न — इसमें आत्मा किसी का करनेवाला है — ऐसा तो आया ही नहीं ?

उत्तर — भाई! आत्मा अनन्तज्ञानमय है, इससे वह अनन्त को जाननेवाला है; परन्तु किसी जीव का अच्छा कर दे या किसी को सुधार दे — ऐसा नहीं है।

प्रश्न — परन्तु यह परोपकारी मनुष्य तो होता है न ?

उत्तर — भाई! कौन कार्यकर्ता (पर का कार्य करनेवाला) है ? पर का कार्य करनेवाला कोई है ही नहीं — यहाँ तो यह कहते हैं।

प्रश्न — दूसरा करनेवाला होवे तो दूसरे का कार्य हो — यह तो ठीक है न ?

उत्तर — भाई! दूसरे से दूसरे में कुछ होता ही नहीं; क्योंकि दूसरे का कार्य होना तो उसके स्वयं के कारण है।

यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु! तू आनन्द का धाम आत्मा है। तेरे में ऐसे गुण हैं कि अन्यत्र कहीं ऐसे गुण हैं ही नहीं। जहाँ स्वयं ऐसा गुणवान परमात्मा ज्ञान में ज्ञेयरूप हुआ, वहाँ इस संसार से छूटा; परन्तु वह एक ही संसार से छूटा है। बाकी स्त्री-पुत्रादि

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

को छोड़कर, बाहर से साधु हो, वह संसार से रंचमात्र भी नहीं छूटा है। अहा! पंचमहाव्रत का परिणाम भी राग है और उससे भी जो भिन्न पड़ा है, वह वास्तव में संसार से छूटा है। अज्ञानी तो यह मानता है कि राग मेरा कर्तव्य है और उससे मेरा कल्याण होगा; इसकारण वह भवलीन है और उससे छूटने की दरकार भी अज्ञानी को नहीं है; क्योंकि जिससे लाभ मानें, उससे कैसे छूटे ?

अहा! निश्चय से तो सिद्धभगवान को अनन्तगुण प्रगट हुए हैं; परन्तु व्यवहार से आठ गुण प्रगट हुए कहलाते हैं; क्योंकि आठ कर्मों का अभाव होने पर आठ गुण प्रगट होते हैं न ? इसलिए यहाँ ऐसा कहा है कि जैसे सिद्ध के आठ गुण हैं, वैसे ही आठ गुण इस भगवान आत्मा में हैं।

प्रश्न — आत्मा में ये आठ गुण कब से हैं ?

उत्तर — आत्मा में ये गुण अनादि से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। ये गुण कहीं बाहर से नहीं आते; अपितु अन्दर ही हैं और उनका पर्याय में परिणमन होने को सिद्धदशा कहते हैं। भाई! यह (वीतराग वाणी) अद्भुत है।

कलश ७१ पर प्रवचन

'जिन कुबुद्धिओं को तथा सुबुद्धिओं को पहले से ही शुद्धता है।' सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि पहले से ही (अनादि से ही) शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा हैं। यह मिथ्यात्व तो एकसमय की पर्याय है और वह ऊपर-ऊपर है, जबकि त्रिकाली आत्मवस्तु तो सिद्धसमान पूर्ण परमात्मा है। अरे! किन्तु यह बात बैठना बहुत कठिन है। देखो, कुबुद्धि अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव संसार का अभाव करके फिर सिद्ध होगा — यहाँ यह बात नहीं ली है; अपितु यहाँ तो यह कहते हैं — कुबुद्धिओं को पहले से ही अन्दर में सिद्धसमान भगवान आत्मा हैं। इसकारण **'उनमें कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ?'** लो, यह कहकर व्यवहारनय की तुच्छता बतलाई है कि उसकी कोई गिनती ही नहीं है। देखो न, 'उनमें कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ?' — ऐसा कहते हैं। अरे प्रभु! तुझमें और सिद्ध में कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ और कहूँ ? — ऐसा कहते हैं।

प्रश्न — व्यवहारनय से तो भेद कहो ?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

उत्तर — भाई! व्यवहारनय कुछ गिनती में ही नहीं है। (इससे यहाँ उसकी बात नहीं की है।) अरे! लोग व्यवहार...व्यवहार करते हैं न! परन्तु यहाँ मुनिराज तो यह कहते हैं कि 'जिन कुबुद्धिओं तथा सुबुद्धिओं में पहले से ही शुद्धता है, उनमें कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ?' अर्थात् मैं किस नय से भेद जानूँ कि यह संसारी है और यह सिद्ध है ? गजब बात है! अहा! क्या मुनियों की वाणी! क्या दिगम्बर संतों की वाणी!! सारा जगत जिसके पास पानी भरे — ऐसी इस वाणी की गंभीरता है। देखो न, कितनी गंभीर बात की है।

प्रभु! तू परमात्मा है न ? (हाँ।) तो फिर सिद्ध में और तुझमें — इन दोनों में मैं किस नय से भेद जानूँ और कहूँ ? — ऐसा कहकर मानो व्यवहारनय की तो कुछ गिनती ही नहीं है — ऐसा कहते हैं अर्थात् व्यवहारनय से कहे जानेवाले अन्तर को उड़ा दिया है, उसकी मस्करी (मजाक) की है। व्यवहारनय की मस्करी की है, हँसी की है।

अरे प्रभु! तू तो पूर्णानंद का नाथ है। तेरी सत्ता अनादि से पूर्ण ही है। उसमें कुछ भी फेरफार हुआ ही नहीं है। मात्र तेरी नजर वहाँ नहीं जाती। नजर जाते ही तू और सिद्ध एकसमान है — ऐसा दिखेगा। तात्पर्य यह है कि नजर के पुरुषार्थ में आत्मा पूर्ण भगवान ही दिखता है; इसलिए यहाँ मुनिराज ऐसा कहते हैं कि तुझमें और सिद्ध में कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ? प्रभु! शब्द भले ही थोड़े हों; परन्तु गजब बात है। इतने-से शब्दों में तो बहुत भर दिया है।

क्या कहा ? कि सुबुद्धिओं को-सम्यग्दृष्टियों को तथा कुबुद्धिओं को-मिथ्यादृष्टियों को पहले से ही शुद्धता है। यह तो सामान्य की बात की; किन्तु अब कहते हैं कि उनमें-उन दोनों में (सम्यग्दृष्टियों और मिथ्यादृष्टियों में) कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ? देखो, 'मैं किस नय से कहूँ ?' — यह नहीं कहा; परन्तु यहाँ तो 'मैं किस नय से जानूँ ?' — यह कहा है, क्योंकि कथन तो कौन कर सकता है ? (आत्मा कहाँ कथन कर सकता है ?) भगवान! गंभीर बात है। इतने-से शब्दों में बहुत गंभीरता है।

अहा! कहाँ प्रभु सिद्ध और कहाँ तू आत्मा प्रभु! तो भी कहते हैं कि सिद्ध को और तुझको किस नय से पृथक् जानूँ-मानूँ ? जो चीज आत्मा में नहीं है, उसकी (व्यवहार की) यहाँ गिनती ही नहीं की है; इसलिए ही तो यहाँ व्यवहार से सिद्ध को और आत्मा को अलग मानना उड़ा दिया है अर्थात् यहाँ व्यवहारनय को गिनती में ही नहीं लिया

है। कारण कि नहीं तो ऐसा क्यों कहते हैं कि सिद्ध में और तुझमें मैं किस नय से भेद जानूँ ? (यदि व्यवहारनय को गिनती में लिया होता तो ऐसा होता कि) भाई! एक नय से (निश्चयनय से तो) सिद्ध में और तुझ में अन्तर नहीं है; परन्तु दूसरे नय से (व्यवहारनय से) सिद्ध में और तुझ में अन्तर है; परन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि में और सम्यग्दृष्टि में, उनके अन्तःस्वरूप में पहले से ही सिद्धसमान भगवान आत्मा है; इसलिए उन दोनों में कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ? अहा! गजब बात है। देखो, इतने शब्दों में कितनी गंभीरता भरी है।

यहाँ कहते हैं कि भले ही निगोद का संसारी जीव हो या भले ही सिद्ध हो — उन दोनों में कुछ भी भेद में किस नय से जानूँ ? — ऐसा कहकर, व्यवहारनय तो मानों कुछ है ही नहीं, उसकी कुछ गिनती ही नहीं है — ऐसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय को गौण करके, अभूतार्थ कहकर उड़ा दिया है। देखो, यहाँ आत्मा ख्याल में (अनुभव में) आने के बाद की बात है। यह कोई मिथ्यात्व के काल की बात नहीं है कि सिद्ध में और संसारी में कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ? (क्योंकि मिथ्यादृष्टि के नय होते ही नहीं।) पूर्णानंद का नाथ भगवान आत्मा जहाँ दृष्टि में आया, वहाँ कहते हैं कि अपने में और अन्य आत्माओं में कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ? अहा! इतने-से शब्दों में तो गजब बात है। **क्या कहें ? जैसा अन्तर में भासित होता है, उतनी भाषा नहीं आती।**

अरे! अज्ञानी तो दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो और तप करो — ऐसी प्ररूपणा करता है और बनिए को पूरे दिन व्यापार-धंधे के कारण निर्णय करने की फुरसत नहीं मिलती। कदाचित् एकाध घंटा धर्म के नाम पर कुछ सुनता है तो कुगुरु जो कहे, सत्य मान लेता है, इससे ऐसा का ऐसा अज्ञान चला करता है। वह कुगुरु क्या कहता है और उसमें क्या दोष है, उसका कुछ विचार नहीं करता; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि सुबुद्धिओं में और कुबुद्धिओं में पहले से ही शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा विराजमान है, इसलिए उन दोनों में कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ? तात्पर्य यह है कि अपने आनंद के विकास के समक्ष (उसकी समानता में) अन्य समस्त जीव भी आनंदमय दिखते हैं। अपने ज्ञान और आनंदमय प्रभु आत्मा के समक्ष (उसकी समानता में) अन्य समस्त आत्माएँ भी भगवानतुल्य भासित होते हैं; इसलिए उन सबमें (मेरे में और अन्य में)

www.vitragvani.com

मैं किस नय से अन्तर मानूँ ? — ऐसा कहते हैं। अहा! गजब किया है! भगवान! इसमें बहुत गंभीरता है।

श्रोता — ऐसे भाव स्पष्ट करने की सामर्थ्य तो आपकी ही है?

पूज्य गुरुदेवश्री — अरे! सबमें सामर्थ्य है न नाथ! प्रभु! तुम भगवान हो न नाथ! तुझको अल्प कहकर बुलाना तो कलंक है। यहाँ भी यही कहा है न कि प्रभु! मैं किस नय से तुझे अल्प मानूँ ? अहा! जैसी सिद्ध की सत्ता है, वैसी ही सत्ता एक समय में पूर्णानंद के नाथ भगवान आत्मा की है अर्थात् मेरी है। जहाँ ऐसा भान हुआ, वहाँ कहते हैं कि संसारी में और सिद्ध में मैं किस नय से भेद जानूँ ?

प्रश्न — प्रभु! व्यवहारनय से भेद जानूँ — इतना तो थोड़ा रखो ? आपने तो 'किस नय से भेद जानूँ ?' — ऐसा कहकर सब नय भी उड़ा दिये ? एक व्यवहारनय तो रखो ?

उत्तर — भाई! व्यवहारनय अन्दर आ गया है। क्योंकि कुबुद्धि और सुबुद्धि इतना भेद तो किया है; परन्तु अब कहते हैं कि उन दोनों में जो भगवान आत्मा है, उसमें कुछ भी भेद मैं किस नय से/किसप्रकार जानूँ ? अहा! गजब बात है! उनके दो-चार शब्द हों तो भी ठेठ अन्दर में उतार देते हैं।

प्रभु! तुझे कहीं रुचता नहीं है न ? परन्तु रुचे वैसी चीज तो अन्दर में तेरे पास ही पड़ी है न प्रभु! और कदाचित किसी को वह नहीं रुचती तो भी, अन्दर की शुद्धतावाला ऐसा मैं, उसमें और सिद्ध में भेद किस नय से जानूँ ? अहा! गजब बात है! व्यवहार उपादेय है — ऐसी मान्यतावाले-व्यवहार के आग्रहवालों को तो ऐसी बात सुनना भी कठिन पड़ती है; क्योंकि यहाँ तो मानों व्यवहारनय कुछ है ही नहीं — इसप्रकार कहकर, उसको उड़ा दिया है।

देखो, (समयसार के) आस्रव अधिकार में (गाथा १८० में) ऐसा आता है कि '**णय परिहीणा**' — नय से च्युत होता है। तो वहाँ ऐसा नहीं कहा है कि निश्चयनय से च्युत होता है; क्योंकि नय ही निश्चयनय को कहा गया है। वहाँ नयरूप से शुद्धनय ही गिनने में आया है और व्यवहारनय की तो मस्करी करके उड़ा दिया है।

अरे! जिसे व्यवहार गले पड़ा है, उसको यह सिद्ध समान चैतन्य आत्मा की बात

बैठना कठिन है। प्रभु! यहाँ तो शुद्धनय से च्युत होता है — यह बात ही नहीं है; क्योंकि अनादि से अपने चैतन्यधाम के अन्दर नाथ भगवान आत्मा अपनी सत्ता की सामर्थ्य से अप्रतिहतभाव से विराजमान है। (इससे उसका अवलंबन करनेवाला शुद्धनय भी अप्रतिहत भाव से रहता है।) गजब बात है प्रभु!

अहा....! कहते हैं कि अन्तर में पूर्ण शान्ति और पूर्ण आनन्दस्वरूप त्रिकाली चैतन्य भगवान आत्मा को कोई दखल नहीं होती अर्थात् वह सातवें नरक में भी अनन्तबार रहा है और निगोद में भी अनन्तबार रहा है; तथापि उस त्रिकाली चीज में कोई फेरफार नहीं होता। इसलिए कहते हैं कि मैं उसमें किस नय से भेद देखूँ ? निगोद के जीव में अथवा सिद्ध के जीव में मैं किस नय से भेद अथवा अन्तर जानूँ ? देखो, ऐसा कहकर, व्यवहारनय से भेद है — यह बात उड़ा दी है, उड़ गई है और बस, अकेला मोक्षस्वरूप आत्मा ही रहा है — ऐसा कहते हैं। आत्मा...आत्मा....आत्मा....सभी आत्मा भगवान हैं — ऐसा कहते हैं। लो, इसमें ऐसी बात की है। गजब बात है! **अहा! कलश में क्या कहना चाहते हैं, वह भाव ख्याल में आता है; परन्तु उसकी गंभीरता वाणी द्वारा नहीं कही जा सकती।**

अहा! अज्ञानी तो पूरे दिन ऐसा करो और वैसा करो — इसप्रकार व्यवहार क्रियाकाण्ड में ही अटका हुआ है। परन्तु प्रभु! ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा जानने का कार्य करे या (रागादि) करने का कार्य करे ? ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा को कर्त्तापना सौंपना तो चक्रवर्ती से झाड़ू लगवाने जैसा है।

अहा प्रभु! तेरी महिमा का पार नहीं है और 'कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ' — इन शब्दों में तो तुझे साक्षात् खड़ा रखा है प्रभु! कहते हैं कि प्रभु! मैं किस नय से तुझको हीन जानूँ और कहूँ ? देखो, कलश की भाषा भी ऐसी है कि 'कुछ भी भेद' और वह भी 'मैं किस नय से जानूँ ?'

***प्रश्न* —** प्रभु! व्यवहारनय कहाँ गया नाथ ? व्यवहारनय से भेद है — यह बात कहाँ गई ?

***उत्तर* —** सुबुद्धि और कुबुद्धि में भेद है — यह बात व्यवहारनय के घर में गई। वास्तव में अन्दर चैतन्यघर में कोई अन्तर है ही नहीं — ऐसी बात है प्रभु! **अहा!**

www.vitragvani.com

कितने ही श्लोक (कलश) तो इतने गंभीर हैं कि उनकी जैसी गंभीरता भासित होती है, वैसी भाषा नहीं होती। अरे! भाषा हो ही नहीं सकती। लो, इन शब्दों में इतनी गंभीरता भरी है।

अहा....! सम्पूर्ण दुनिया में अकेला शुद्ध....शुद्ध....शुद्ध...आत्मा ही है। इससे ऐसा कहते हैं कि निगोद में से कभी नहीं निकलनेवाले जीव को भी मैं किस नय से भेद (अलग) जानूँ ? — प्रभु! यह अन्तर की महिमा सहित की बात है (अर्थात् जिसने अंतर की महिमा प्रगट की है, उसकी बात है।) यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली आत्मा शक्तिवान है, वह मानों कि सबको प्रगट ही है अर्थात् जिसको शक्तिवान आत्मा प्रगट दृष्टि में आया है, उसको (ज्ञानी को) तो वह प्रगट है ही; परन्तु इसीप्रकार (मानों कि) वह शक्तिवान भगवान आत्मा, समस्त आत्माओं को भी–कुबुद्धिओं को भी प्रगट है — ऐसा यहाँ कहते हैं, इसलिए मैं उसको किस नय से हीन या कमजोर जानूँ ? अर्थात् सिद्ध में और कुबुद्धि में मैं किस नय से भेद जानूँ ? अहा! गजब बात है। प्रभु! यह कोई कथा नहीं है, यह कोई साधारण बात नहीं है; बल्कि यह तो तीनलोक के नाथ वीतरागदेव के पेट से निकली हुई वाणी/दिव्यध्वनि है और भगवान जो कहते हैं वही मुनिराज कहते हैं। वे भगवान से जरा भी अधिक या कम नहीं कहते। ये छद्मस्थ मुनिराज कहते हैं, इसलिए उसमें केवली की वाणी से कुछ फेरफार/अन्तर होगा — ऐसा नहीं है।

अहा! तीनलोक के नाथ की दिव्यध्वनि में यह आया था कि प्रभु! मुझमें और अशुद्धतावाले कुबुद्धि में भेद मैं किस नय से जानूँ ? अर्थात् जो शुद्धपर्याय सहित जीव हैं, उनमें और अशुद्धपर्याय सहित जो जीव हैं उनमें–उन दोनों में कुछ भी भेद किस नय से/किसप्रकार से मैं जानूँ ? मुझे किसप्रकार बचाव करना (भेद पाड़ना) अर्थात् किस–प्रकार बचाव (भेद) करके जानना कि यह ज्ञानी है और यह अज्ञानी है ? अहा! गजब बात है।

'वास्तव में उनमें कुछ भी भेद अर्थात् अन्तर नहीं है।' सुबुद्धि और कुबुद्धि के अन्तरस्वरूप में कुछ भी भेद–अन्तर नहीं है। जिसको यह दृष्टि अंतरंग में बैठ गई है, उसको अल्पकाल में सिद्धपरमात्मा होने की तैयारी हो गई है और वह परमात्मा होगा ही अर्थात् उसके अनादि के भव का अन्त आएगा। जिसकी सत्ता अनादि से है — ऐसे

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

भव सांत होंगे, भव का अन्त आएगा और सादि-अनन्त मोक्ष की प्राप्ति होगी। वह सिद्ध की पूर्ण पर्याय प्रगट हुई, उससे अधिक शुद्धता अब नहीं प्रगटेगी। अहा! संतों की बात गजब है।

प्रश्न — अन्दर में द्रव्य तो अलौकिक और महा चमत्कारिक अनन्तगुणों से भरपूर है, तो उसमें से सिद्ध की पर्याय से भी अधिक शुद्धता निकलेगी या नहीं ?

उत्तर — भाई! वहाँ बस कर! पर्याय के लिए वहाँ बस कर!! द्रव्य के लिए कुछ नहीं कहना है, द्रव्य की शुद्धता के लिए कोई मर्यादा नहीं है; परन्तु पर्याय के लिए वहाँ बस कर प्रभु! पूर्ण सिद्धदशा होने के बाद भी थोड़ी निर्मलता बढ़ती होगी — यह बात रहने दे प्रभु! सिद्धदशा होने पर पर्याय के लिए बस हो गया। (हद आ गई।) परन्तु हम जिस द्रव्य की बात करते हैं, वहाँ तो प्रभु! इतनी सामर्थ्य और इतनी शक्ति है कि उसकी हद/मर्यादा नहीं है।

प्रश्न — द्रव्य में अनन्त सामर्थ्य और शक्ति है, तो पर्याय में सिद्धपद से भी अधिक शुद्धि बढ़ जाए — ऐसा होता है या नहीं ?

उत्तर — प्रभु! ऐसा नहीं होता; क्योंकि वह पूर्ण पर्याय है और पूर्ण पर्याय प्रगट होने के बाद उससे अधिक शुद्धि की वृद्धि नहीं होती।

अहा! यहाँ तो, वस्तु में कुछ भी भेद नहीं है तो पर्याय में भी (ज्ञानी-अज्ञानीरूप) भेद नहीं गिनते; और इसप्रकार व्यवहारनय तो मानों कुछ है ही नहीं, मात्र कथनमात्र है — ऐसा कहते हैं। यह बात तो 'समयसार कलश टीका' में आती है न कि व्यवहारनय कथन मात्र है (कलश ५) ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी वह व्यवहारनय अज्ञानी को उपादेय हो गया है। परन्तु भाई! यहाँ तो कहते हैं कि वह व्यवहारनय है या नहीं — यह हम नहीं जानते। गजब बात है।

प्रभु! तू आनन्दस्वरूप है न ? तुझमें अनन्त भगवत्स्वरूप पड़ा है न ? तू तो साक्षात् भगवान है। इससे जो सिद्ध हुए उनमें और तुझमें मैं किसप्रकार भेद करूँ ? तुम दोनों में कुछ भी भेद मैं किस नय से करूँ ? साक्षात् परमात्मा हुए सिद्ध में और तेरे आत्मा में मैं कुछ भी भेद किस नय से जानूँ ? अहा! गजब बात है। दिगम्बर संत तो केवली के आड़तिया हैं और अल्पकाल में/एक-दो भव में केवलज्ञान लेनेवाले हैं। यह पंचम-

काल है, इसलिए इस भव में केवलज्ञान नहीं हुआ और स्वर्ग में गये हैं; परन्तु अब वहाँ से निकलकर, मनुष्य होकर केवलज्ञान लेनेवाले हैं। **अहा! इस कलश के शब्दों में इतनी गंभीरता भासित होती है कि उस गंभीरता को शब्द नहीं कह सकते।** प्रभु! तू इतना महान है कि तेरे महानता में हीनता की भाषा भी नहीं है, इससे हीन कैसे जानूँ ? — ऐसा कहते हैं। अहा! समस्त आत्माएँ भगवान हैं, इसलिए कहते हैं कि प्रभु! तुझमें और सिद्ध में कुछ भी भेद मैं किसप्रकार जानूँ ? अहा! ये तो गजब-गजब शब्द हैं। इतने-से शब्दों में तो बहुत भर दिया है, बहुत भर दिया है! तुझमें और सिद्ध में, दोनों में कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ? — यह कहकर तो गजब किया है। प्रभु! व्यवहारनय के पक्षवालों को यह बात कड़क लगती है।

अहा! भगवान.....भगवान.......भगवान (सर्वत्र) ज्ञानी की दृष्टि में अकेला परमात्मा तरवरता है। तो जिसकी दृष्टि में ध्रुव तरवरता है, वह ज्ञानी ऐसा कहता है कि मैं जगत के प्राणियों को किस नय से हीन कहूँ ? किस नय से संसारी कहूँ ? गजब बात है! प्रभु! भले ही भाषा (शब्द) थोड़ी है; परन्तु उसके भाव का पार नहीं है। — इस भाषा की ऐसी गंभीरता है।

अहा! एक सैकेण्ड में....अरे! एक सैकेण्ड में नहीं, किन्तु एकसमय में अन्तर पड़ जाता है, इसलिए यह जो अन्तर पड़ता है, उसे मैं किसप्रकार अन्तर मानूँ ? — ऐसा कहते हैं। श्रीमद्जी ने ३१वें वर्ष में लिखा है कि ज्ञान एकसमय में जात्यातंर हो जाता है। पहले समय में मिथ्या और दूसरे समय में सम्यक् हो जाता है।

प्रश्न — अरे! अनन्तकाल से मिथ्यात्व का सेवन किया हो तो भी प्रभु! एकसमय में उसका नाश हो जाता है ?

उत्तर — परन्तु प्रभु! अन्दर स्वभाव में मिथ्यात्व ही कहाँ है ? (कि जिससे वह सदा रहे और नष्ट न हो।) और उसका नाश होने पर अन्दर स्वभाव में जो है वह प्रगट होता है, अन्दर जो माल भरा है, वह निकलता है। ये सब भगवान आत्मा माल से भरे हैं। गजब बात है! यह सब बात समझनी पड़ेगी।

कितने ही व्यवहार के आग्रहवालों को यह बात समझ में नहीं आती, इसलिए वे यह कहकर कि 'सोनगढ़ की बात एकान्त है' — इस बात को उड़ा देते हैं। वे कहते हैं कि लो, यह मन्दिर, शास्त्र आदि सब हैं न ? भाई! बापू! ये सब हैं अवश्य,

व्यवहारनय का विषय है अवश्य। व्यवहारनय है और उसका विषय भी है; परन्तु उसकी कोई गिनती नहीं है। अंतर के निश्चय स्वभाव के समक्ष उसकी क्या गिनती ? और इसीलिए तो समयसार कलश टीकाकार (पण्डित राजमलजी) ने यह कह दिया है कि व्यवहारनय तो कथनमात्र है। उन्होंने ५वें कलश में व्यवहारनय का यह अर्थ किया है कि जितना कथन। '**व्यवहारनय** :- जितना कथन।' कड़क लगे ऐसी बात है; परन्तु प्रभु! तेरे घर की बात ऐसी ही है।

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! तेरी त्रिकाली वस्तु में कुछ भेद नहीं है, इसलिए तू यह बाहर का शरीर, उसकी चेष्टाएँ, उसकी उम्र और उसके रंगरूप मत देख तथा अपने में हीनता भी मत देख। हम कहते हैं कि तुझमें किस नय से न्यूनता कहें ? गजब बात है। अहा! तू शरीरवाला नहीं है, रंगवाला भी नहीं है; क्योंकि तू परद्रव्य को तो कभी स्पर्श ही नहीं करता। तदुपरांत यहाँ तो कहते हैं कि मैं तुझमें हीनदशा किस नय से कहूँ ? तुझमें सिद्ध से अल्पदशा किस नय से कहूँ ? गजब है।

श्रोता — (पूज्य बहिनश्री की) जन्म-जयन्ती के उपलक्ष में आप प्रीतिभोज करा रहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री — यह (भोज तो) मुनिराज करा रहे हैं। वे यह कहते हैं कि यदि स्वयं का कोई भी मिथ्या आग्रह रहेगा तो अपनी चीज (भगवान आत्मा) ज्ञात नहीं होगी; और इसकारण पर की चीज (अन्य आत्मा) भी अपने जैसी है — ऐसा ज्ञात नहीं होता प्रभु!

यहाँ यह कहा है कि 'सिद्ध में और संसारी में कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ?' देखो, 'मैं किस नय से कहूँ' — यह नहीं कहा; परन्तु 'मैं किस नय से जानूँ ?' — यह कहा है। अहा! (अज्ञानी को) यह सब बात एकान्त लगती है; परन्तु प्रभु! इसमें तो अकेले आत्मा के माहात्म्य का ही वर्णन किया है। ●

प्रगट वस्तु को अप्रगट क्यों बनाते हो ? प्रगट वस्तु अप्रगट नहीं हो सकती। पूर्व भूल से प्रगट वस्तु को अप्रगट माना था (इसलिए) उसका अनादि दुःखरूप फल प्राप्त किया था, अब शरीर को आत्मा कैसे मानें ? वह तो रक्त से, वीर्य से, सात धातुओं का बना हुआ, जड़, विजातीय, नाशवान तथा पर है। वह (शरीर) मेरी चेतना नहीं है।

- श्री अनुभवप्रकाश

नियमसार गाथा–४८

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया॥४८॥

अशरीरा अविनाशा अतीन्द्रिया निर्मला विशुद्धात्मानः।
यथा लोकाग्रे सिद्धास्तथा जीवाः संसृतौ ज्ञेयाः॥४८॥

(हरिगीत)

विन देह अविनाशी, अतीन्द्रिय, शुद्ध निर्मल सिद्ध ज्यों।
लोकाग्र में जैसे विराजे, जीव है भवलीन त्यों॥४८॥

गाथार्थ :— जिसप्रकार लोकाग्र में सिद्धभगवन्त अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं, उसीप्रकार संसार में (सर्व) जीव जानना।

टीका :— और यह, कार्यसमयसार तथा कारणसमयसार में अन्तर न होने का कथन है।

जिसप्रकार लोकाग्र में सिद्धपरमेष्ठी भगवन्त निश्चय से पाँच शरीर के प्रपंच के अभाव के कारण 'अशरीरी' हैं, निश्चय से नर-नारकादि पर्यायों के त्याग-ग्रहण के अभाव के कारण 'अविनाशी' हैं, परमतत्त्व में स्थित सहजदर्शनादिरूप कारणशुद्धस्वरूप को युगपत् जानने में समर्थ ऐसी सहजज्ञानज्योति द्वारा जिसमें से समस्त संशय दूर कर दिये गये हैं — ऐसे स्वरूपवाले होने के कारण 'अतीन्द्रिय' हैं, मलजनक क्षायोपशमिकादि विभावस्वभावों के अभाव के कारण 'निर्मल' हैं और द्रव्यकर्मों तथा भावकर्मों के अभाव के कारण 'विशुद्धात्मा' हैं, उसीप्रकार संसार में भी यह संसारी जीव किसी नय के बल से (किसी नय से) शुद्ध है।

(अब ४८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं–)

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्यादृशि प्रत्यहं
शुद्धं कारणकार्यतत्त्वयुगलं सम्यग्दृशि प्रत्यहम्।
इत्थं यः परमागमार्थमतुलं जानाति सद्दृक् स्वयं
सारासारविचारचारुधिषणा वन्दामहे तं वयम्॥७२॥

www.vitragvani.com

(वीरछन्द)

मिथ्यादृष्टि को सदैव ये शुद्ध-अशुद्ध विकल्प रहें।
ज्ञानी को तो सदा कार्य अरु कारणत्व भी शुद्ध रहें॥
परमागम का अतुल अर्थ जो सम्यग्दृष्टि स्वयं जाने।
सारासार विचारक धी से, उनको हम वन्दन करते॥७२॥

श्लोकार्थ :— शुद्ध-अशुद्ध की जो विकल्पना* वह मिथ्यादृष्टि को सदैव होती है; सम्यग्दृष्टि को तो सदा (ऐसी मान्यता होती है कि) कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनों शुद्ध हैं। इसप्रकार परमागम के अतुल अर्थ को सारासार के विचारवाली सुन्दर बुद्धि द्वारा जो सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है, उसे हम वन्दन करते हैं।।७२।।

गाथा ४८ पर प्रवचन

देखो, कलश ७१ में जिनको कुबुद्धि कहा था और पूर्व गाथा ४७ में भवलीन संसारी कहा था और इसप्रकार (पर्याय की) बात तो की अर्थात् कलश ७१ में कुबुद्धि कहकर और गाथा ४७ में उनको भवलीन ऐसे संसारी बताकर जरा (पर्याय का) ख्याल तो कराया; परन्तु फिर कहा कि भव में लीन ऐसे संसारी जीव में और सिद्ध में मैं किसप्रकार भेद करूँ ? तात्पर्य यह है कि भव में लीनतावाले जीव भी सिद्ध जैसे हैं; क्योंकि अन्दर में पूर्ण सम्पदा का स्वामी चैतन्य भगवान आत्मा विराजमान है। अहा! तुझमें ऐसा वैभव है कि वैसा वैभव कहीं बाहर में/दुनिया में नहीं है।

बेन में (बहिनश्री के वचनामृत में) एक ऐसी बात आती है कि अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग को फेर दे, बारह अंग का पर्यटन कर दे — ऐसी आत्मा की (श्रुतकेवली की) ताकत है। गजब बात है। अहा! एकसमय में सब जानना यह अलग बात है; परन्तु यह तो असंख्यसमय में बारह अंग की बात फेर ले — ऐसा कहते हैं। यह बात बेन में (वचनामृत ३२४ में) है और गोम्मटसार शास्त्र में भी है।

अहा! (१) जितना केवलज्ञान में ज्ञात हुआ, उसके अनंतवें भाग कथन में आया। (२) जितनी बात कथन में आई, उसके अनंतवें भाग सुनने में (झेलने में) आई और (३) जितनी बात सुनने में आई है, उसके अनंतवें भाग रचना हुई। इसीलिए तो शास्त्र में यह कथन आता है कि बारह अंग में तो स्थूल पाठ है। ऐसा पाठ है। बारह अंग

* विकल्पना=विपरीत कल्पना; मिथ्यामान्यता; अनिश्चय, शंका; भेद करना।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

से विशेष श्रुतज्ञान क्या होगा ? (कुछ नहीं।) तो भी कहते हैं कि बारह अंग में स्थूल बात आई है। तीनलोक के नाथ की सूक्ष्म बातें तो उसमें रह गई हैं। वे तो अनुभवगम्य हैं। चैतन्य चमत्कारमय वस्तु तो अनुभवगम्य है। जो चैतन्य चमत्कार को देखता है, उसको ही पता पड़ता है। वरना वाणी के द्वारा उसका कथन नहीं हो सकता।

गाथा ४८ की टीका पर प्रवचन

'और यह, कार्यसमयसार तथा कारणसमयसार में अन्तर न होने का कथन है।' कार्यसमयसार अर्थात् सिद्ध और कारणसमयसार अर्थात् आत्मद्रव्य। यहाँ उन दोनों में अन्तर नहीं होने का कथन है।

'जिसप्रकार लोकाग्र में सिद्धपरमेष्ठी भगवंत निश्चय से पाँच शरीर के प्रपंच के अभाव के कारण 'अशरीरी' है।' सिद्धभगवान में पाँच शरीरों का प्रपंच नहीं है (और इससे वे अशरीरी हैं।) देखो, शरीर को 'प्रपंच' कहा है अर्थात् शरीर की अनेक पर्यायें होती हैं — ऐसा कहते हैं और वे आत्मा के आधीन नहीं है। (प्रपंच=विस्तार)

'निश्चय से नर-नरकादि पर्यायों के त्याग-ग्रहण के अभाव के कारण 'अविनाशी' है।' आत्मा को पैसा, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, मकान अथवा परमाणु का ग्रहण भी नहीं है और उनका त्याग भी नहीं है; क्योंकि एक रजकण से लेकर वैमानिक देव की ऋद्धि तक की दुनिया की किसी भी सम्पदा का अर्थात् अपने अतिरिक्त किसी भी पर चीज का ग्रहण-त्यागरहित ही उसका स्वभाव है। आत्मा के स्वरूप में पर वस्तु का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं; परन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि उसके स्वरूप में (तथा सिद्ध में) किसी भी गति का ग्रहण और त्याग नहीं है। एक गति का त्याग करना और दूसरी गति का ग्रहण करना आत्मा में नहीं है। समयसार की ४७ शक्तियों में यह बात आती है कि भगवान आत्मा त्याग-ग्रहण रहित है। (१६वीं त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति) अहा! श्री समयसारजी की एक-एक गाथा और एक-एक कलश में गजब बात है।

अहा! श्री समयसारजी में मंगलाचरण का पहला कलश ही यह है न कि **'नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।** आत्मा अन्तर के अनुभव से/अन्तर की अनुभूति से प्रकाशमान हो ऐसा है। भले ही अज्ञानी दूसरी लाख बात करे, तो भी इसके अतिरिक्त आत्मा को जानने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। 'छहढाला' में आता है न कि —

लाख बात की बात यहै, निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ।।(४/६)

द्वैतपना भी छोड़कर अन्दर में विराजमान परमात्मस्वरूप निज आत्मा को ध्याओ, उसका ध्यान करो। अर्थात् उसका लक्ष्य करके, उसमें रमो। यह द्वादशांग का सार है।

अहा.....! आत्मा में मनुष्यादि के शरीर का ग्रहण-त्याग है ही नहीं। मनुष्य का शरीर, नारकी का शरीर, देव का शरीर या तिर्यंच का शरीर आत्मा ने ग्रहण किया है अथवा छोड़ा है — ऐसा आत्मा में तीनकाल में भी नहीं है; क्योंकि आत्मा में परद्रव्य का ग्रहण-त्याग है ही नहीं। आत्मा में एक ऐसा गुण है कि जिससे आत्मा स्वभाव से ही तीनों काल परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित विराजमान है। तदुपरांत यहाँ तो यह कहते हैं कि आत्मा (और सिद्ध) में नर-नारकादि पर्यायों के ग्रहण-त्याग का अभाव है। नर-नारकादि की गति की पर्यायें, जो कि औदयिकभाव है उनका, आत्मा में अभाव है। आत्मा में गति मात्र का ग्रहण-त्याग नहीं है। गति अर्थात् उसकी पर्याय में गति की योग्यता है वह; परन्तु यह शरीर नहीं अर्थात् जो यह मनुष्य शरीर है सो मनुष्य गति नहीं है; क्योंकि यह शरीर तो जड़ है। यह शरीर तो पारिणामिकभाव से स्थित स्वयं सिद्ध स्वतंत्र जड़ वस्तु है। तात्पर्य यह है कि शरीर का द्रव्य (पुद्गलद्रव्य), उसके गुण (स्पर्शादि गुण) और यह पर्याय (शरीररूप पर्याय) पारिणामिकभावरूप है, जबकि यह मनुष्यादि गति औदयिकभावरूप है और वह औदयिकभाव आत्मा की पर्याय में है। अर्थात् यह मनुष्यादि पर्यायरूप औदयिकभाव आत्मा की पर्याय है। (इसलिए यह शरीर मनुष्यगति नहीं है।) यहाँ कहते हैं कि यहाँ शरीर के त्याग-ग्रहण की तो बात भी नहीं है; परन्तु इन मनुष्यादि भव को (गति को) ग्रहण किया है और छोड़ा है — यह भी प्रभु आत्मा में नहीं है — ऐसा कहकर व्यवहारनय की तो मस्करी की है। कड़क बात है।

अहा! यह परवस्तु ली और उसको छोड़ा — यह तो आत्मवस्तु में है ही नहीं; क्योंकि आत्मा अपने सिवा अन्य परवस्तुओं का तो स्पर्श ही नहीं करता, चुम्बन ही नहीं करता; इसलिए परवस्तु को ले या छोड़े — ऐसा आत्मा में है ही नहीं। गजब बात है। आत्मा अनन्त पदार्थों के मध्य में रहने पर भी, परवस्तु का स्पर्श नहीं करता और इसकारण उसमें पर का त्याग-ग्रहण नहीं है — उसकी ऐसी त्यागोपादानशून्यत्व

शक्ति है। अहा! आत्मा अनन्त पदार्थों के बीच रहने पर भी, वह अनन्त पदार्थों के त्याग-ग्रहण से रहित है। अनन्त पदार्थों के बीच रहता है अर्थात् उनका क्षेत्र एक है। यद्यपि वस्तुतः तो उनका क्षेत्र भी एक नहीं है, यह तो आकाश के क्षेत्र की अपेक्षा से उनका एक क्षेत्र कहा जाता है। बाकी तो उनका क्षेत्र भी अलग का अलग है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न है और इसलिए अपने को पर के साथ कोई संबंध नहीं है। गजब बात है। तदुपरांत आत्मा में राग के त्याग करने का और स्वरूप को ग्रहण करने का भी अभाव है; वह भी यथार्थतः आत्मा में नहीं है। अरे! चीज कहाँ पड़ी है और यह कहाँ परिभ्रमण कर रहा है। गजब बात है।

यहाँ कहते हैं कि अंतर में राग-द्वेष का त्याग करना और स्वरूप का ग्रहण करना — इससे प्रभु! तू शून्य है। जिसप्रकार सिद्धों में त्याग-ग्रहण का अभाव है; उसीप्रकार वैसा त्याग-ग्रहण का अभाव भगवान आत्मा में भी है। तात्पर्य यह है कि विकार का त्याग करना और निर्विकारी चीज का ग्रहण करना भी आत्मा में नहीं है। अरे! उस निर्विकारी चीज का ग्रहण करना नहीं है; क्योंकि उसका सदा ग्रहण ही है। (आत्मा सदा निर्विकारस्वरूप ही है।) इसलिए आत्मा में त्याग-ग्रहण नहीं है।

जैनदर्शन के दो मुख्य सिद्धान्त हैं —

(१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। अर्थात् एक पदार्थ किसी भी दूसरे पदार्थ को स्पर्श नहीं करता। इसलिए आत्मा इस शरीर का और शरीर आत्मा का स्पर्श नहीं करता। इसकारण ज्ञायकभावमय आत्मा पर के त्याग-ग्रहण से शून्य है।

(२) क्रमबद्ध। द्रव्य में एक के बाद एक — ऐसे क्रमसर/क्रमबद्ध पर्याय होती है। क्रमबद्ध कहो या क्रमवर्ती कहो या क्रमनियमित कहो — सबका एक ही अर्थ होता है; परन्तु क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले की दृष्टि ज्ञायकभाव पर होती है। तात्पर्य यह है कि राग से पृथक् हुए बिना यह बात अंदर में वास्तविकरूप से/यथार्थरूप से नहीं बैठती — ऐसी बात है।

प्रश्न — इसमें (इन दो सिद्धान्तों में) कन्दमूल और हरितकाय का भक्षण नहीं करना तथा ब्रह्मचर्यादि व्रत पालना इत्यादि तो आया ही नहीं ?

उत्तर — बापू! ये तो पर की बातें हैं। तथा खावे कौन और पीवे कौन ? पर को

जब यह स्पर्श ही नहीं करता, वहाँ उसको खावे-पीवे कैसे ? यहाँ कहा कि चाहे जितना प्रशस्त राग हो; परन्तु उस राग से प्रथक् हुए बिना अर्थात् राग के त्याग-ग्रहणरहित चैतन्यस्वरूप आत्मा के भान और अनुभव बिना समस्त क्रियाकाण्ड व्यर्थ है। अरे! अज्ञानी तो सवेरे जहाँ चाय मिलती है वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है, और अच्छा खाने को मिले तब तो.........

श्रोता — परन्तु जीव उसका स्पर्श कहाँ करता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री — जीव पर को स्पर्श नहीं करता, फिर भी मानता है न! अहा! जीव पर को स्पर्श नहीं करता — यह बात तीर्थंकर के घर की है और यह बात भगवान केवली के सिवा दुनिया में कहीं नहीं है। परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतराग जिनेश्वरदेव के सिवा किसी ने कहीं ऐसा नहीं कहा है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। अरे! सम्प्रदाय में भी यह बात नहीं चलती। सम्प्रदाय में तो यह करो और वह करो (ऐसी पर के कर्तृत्व की बात चलती है।) यह एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता — एक बात और दूसरी क्रमबद्ध की बात भगवान के अलावा किसी ने नहीं कही है। पर्याय प्रतिसमय क्रमसर/क्रमबद्ध/क्रमनियमित होती है। क्रम में जैसी पर्याय आना हो वैसी ही पर्याय आती है; परन्तु क्रमबद्ध को माननेवाले की दृष्टि द्रव्य पर होना चाहिए। अरे! सम्प्रदाय में क्रमबद्ध शब्द सुनने में भी नहीं आया था। सम्प्रदाय में तो यह शब्द भी नहीं है। यहाँ यह कहा है कि गति के त्याग-ग्रहण से शून्य होने के कारण सिद्धपरमेष्ठी अविनाशी है।

'परमतत्त्व में स्थित सहजदर्शनादिरूप कारण शुद्धस्वरूप को युगपत् जानने में समर्थ ऐसी सहज ज्ञानज्योति द्वारा जिसमें से समस्त संशय दूर कर दिये गये हैं ऐसे स्वरूपवाले होने के कारण 'अतीन्द्रिय' है।' (सिद्ध परमात्मा और) भगवान आत्मा अतीन्द्रिय स्वरूप है। भगवान आत्मा ने इन्द्रियों का स्पर्श भी नहीं किया है। तात्पर्य यह है कि आत्मा जड़ इन्द्रियों को स्पर्श भी नहीं करता। श्री समयसारजी की ३१वीं गाथा में कहा है कि **'जो इद्रिये जिणित्ता'** — भावेन्द्रिय, जड़ द्रव्येन्द्रिय और उसके भगवान आदि विषय — ये सब इन्द्रियाँ हैं, उनको जीतकर.....देखो, भगवान की वाणी, भगवान और सारा लोक इन्द्रिय है — ऐसा कहते हैं। **'णाण सहावाधियं मुणदि आदं'** — अपना ज्ञानस्वभाव अन्य से अधिक है — ऐसा जो जानता है अर्थात् इन्द्रियों की

www.vitragvani.com

ओर का लक्ष्य छोड़कर जो अपने अतीन्द्रियस्वरूप में आता है। **'तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू'** — उसको सर्वज्ञ जितेन्द्रिय कहते हैं। लो, ये बाहर के भोग नहीं भोगे, इसलिए इन्द्रियों को जीत ली — ऐसा नहीं है; परन्तु द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय — इन तीनों से भिन्न ज्ञानस्वभाव का जिसने अनुभव किया है, वह इन्द्रियों से पार है — ऐसा सर्वज्ञ कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि परमतत्त्व में स्थित अर्थात् भगवान आत्मा में स्थित सहजदर्शनादिरूप कारण शुद्धस्वरूप को अर्थात् कारणपरमात्मा को, सहज ज्ञानज्योति एकसाथ जानने में समर्थ है। जिसका जानने का स्वभाव है, वह किसको नहीं जाने ? और उसमें अवधि भी क्या हो कि जानने में दो समय लगें, तीन समय लगें ? — ऐसी समय मर्यादा भी नहीं है। वह एक ही समय में अपने क्षेत्र में रहकर, पर को स्पर्श किये बिना स्व-पर को जानता है। अपना क्षेत्र अर्थात् यह शरीर नहीं। यद्यपि जहाँ शरीर है, वहाँ आत्मा भी है; तथापि उन दोनों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। शरीर का क्षेत्र भिन्न है और आत्मा का क्षेत्र भिन्न है। इसकारण आत्मा कभी भी शरीर का स्पर्श नहीं करता।

अहा! यह कैसे होगा ? — ऐसे संशय की जिसमें गंध नहीं है — ऐसा प्रभु चैतन्य आत्मा निःसन्देह स्वरूप है और निष्कारण है अर्थात् पर के कारण बिना निज कारणपरमात्मा से ही वह सिद्ध-उसकी अस्ति है। उसकी दृष्टि करना, उसका ज्ञान करना तथा उसमें लीनता करना — यह सम्पूर्ण द्वादशांग का सार है। इसके सिवा अन्य सब तो बाहर की बातें हैं, धमाल...धमाल है। प्रभु! उसमें क्या है ? (तेरा हित कहाँ है ?) अरे! जब स्वरूप में राग का त्याग-ग्रहण भी नहीं है; तो फिर बाहर की वस्तु का त्याग-ग्रहण तो कहाँ रहा ? बर्तन नीचे पड़ा हो, उसको उठाना या बगल में रखना यह आत्मा में है ही नहीं। आत्मा के अलावा कोई भी चीज, चाहे तो अपने से नजदीक हो या दूर हो, उसका त्याग-ग्रहण आत्मा ने कभी नहीं किया। सम्पूर्ण दिन की इस बाह्यप्रवृत्ति में आत्मा का अधिकार है ही नहीं — ऐसा कहते हैं।

'मलजनक क्षायोपशमिकादि विभावस्वभावों के अभाव के कारण 'निर्मल' है।' औपशमिक, क्षायोपशमिक आदि समस्त भाव मलजनक और मलजनित हैं — ऐसा कहते हैं; क्योंकि (उनके लक्ष्य से राग उत्पन्न होता है, इसलिए मलजनक है और) उन भावों में कर्म की अपेक्षा लागू पड़ती है; इसलिए कर्मजनित (मलजनित) कहे गये हैं।

www.vitragvani.com

जबकि भगवान आत्मा के निजस्वरूप में पर की कोई अपेक्षा ही नहीं है। कर्म क्षय हों तो आत्मा के निजस्वरूप में केवलज्ञान उत्पन्न होता है — ऐसी अपेक्षा है ही नहीं। चार घातिकर्मों का नाश होता है तो केवलज्ञान होता है; घातिकर्म ने केवलज्ञान को रोका है, घातिकर्म ने आत्मा के ज्ञान का घात किया है — ऐसा अज्ञानी कहता है; परन्तु भाई! घातिकर्म ने आत्मा के ज्ञान का घात नहीं किया है, न रोका ही है। आत्मा ने चार घातिकर्मों को बाँधा भी नहीं है और उनका नाश भी नहीं करता — ऐसा निर्लेप-भिन्न स्वरूप भगवान आत्मा अन्दर में विद्यमान है।

अहा! पर का आश्रय तो एक ओर रहा; परन्तु अपनी पर्याय में जो क्षायोपशमिकादि परभाव हैं, उनके आश्रय से भी मल उत्पन्न होता है। (इसलिए वे मलजनक हैं।) शरीर-वाणी-मन, देव-शास्त्र-गुरु तो पर में रहे; परन्तु अपनी पर्याय में जो विभावभाव है, वह भी मलजनित है। उसमें कर्म की अपेक्षा लागू पड़ती है, इसलिए मलजनित है। भले ही औदयिकभाव में कर्म विद्यमानरूप निमित्त है और क्षायिकभाव में कर्म अभावरूप निमित्त है; तथापि इतनी अपेक्षा आती है, इसलिए वे मलजनित हैं और भगवान आत्मा में इतनी अपेक्षा लगाना भी दोष है — ऐसा मार्ग है।

अरे! अज्ञानी तो एकेन्द्रिय की दया पालो, हरितकाय को नष्ट नहीं करो और उसे भक्षण मत करो, बस, हो गया धर्म — ऐसा मानता है; परन्तु भाई! उसमें तो (दयादि के भाव में धर्म मानने में तो) मिथ्यात्व का पोषण होता है तथा प्रतिक्षण-प्रतिपल मैं परवस्तु का त्याग-ग्रहण करता हूँ — ऐसी बुद्धि में भी सत्स्वरूप भगवान आत्मा से विरुद्ध असत्य-मिथ्या अभिप्राय का अर्थात् मिथ्यात्व का पोषण होता है। आत्मा के सिवा मैं किसी भी परचीज का कर्त्ता हूँ, वह मुझमें है और मैं उसको छोड़ता हूँ — यह अभिप्राय मिथ्या है। भाई! जब तेरी चीज में पर चीज है ही नहीं, वहाँ उसको छोड़ूँ — यह कहाँ से आया ? अरे! कर्मों को छोड़ना भी तुझमें नहीं है।

देखो, यहाँ (नियमसार में) औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — इन चारों ही भावों को मलिन, आवरणसंयुक्त कहा है। (गाथा-४१) तथा इन चार भावों को आत्मा अगोचर-अगम्य भी कहा है। (गाथा-३८) इसका अर्थ क्या है ? कि इन चार भावों के आश्रय से आत्मा जानने में नहीं आता। तथा ये चार भाव आवरणसंयुक्त है; क्योंकि औदयिकभाव में कर्म सद्भावरूप निमित्त है और शेष तीन भावों में कर्म

www.vitragvani.com

अभावरूप निमित्त है। (इसप्रकार कर्म की अपेक्षा आती है, इसलिए ये आवरणसंयुक्त है।) जबकि आत्मवस्तु निरपेक्ष है। उसको किसी की अपेक्षा लागू नहीं पड़ती — ऐसा भगवान आत्मा अन्दर में विराजमान है। उस भगवान आत्मा का पता लगाकर, उसमें स्थान जमाकर, उसको धाम बनाकर उसमें लीन होना — यह वस्तु का स्वरूप है (करनेयोग्य है।) इसके सिवा सब बातें हैं।

अहा! आत्मा का संसार कोई स्त्री, कुटुम्ब, परिवार पैसा या मकान में नहीं हैं; परन्तु आत्मा की पर्याय में है। परवस्तु मेरी है और मैं उसका ग्रहण कर सकता हूँ — ऐसा जो मिथ्याभाव है, वह संसार है। वह मिथ्याभाव पर्याय के अलावा अन्य कहीं नहीं रहता; इसलिए आत्मा का संसार आत्मा की एकसमय की पर्याय से दूर नहीं रहता। जबकि ये शरीर-मन-वाणी और कर्म तो दूरक्षेत्रवर्ती हैं। उनका द्रव्य दूर, क्षेत्र दूर, काल दूर और भाव भी दूर है, वे ऐसे भिन्नरूप वर्तते हैं। इससे आत्मा के अतिरिक्त यह देह, मन, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार आदि उनके स्वयं के कारण वर्तते हैं; (परन्तु वे आत्मा का संसार नहीं हैं।)

यहाँ कहा कि सिद्ध में क्षायोपशमिकादिक तीन विभाव स्वभाव नहीं हैं, इससे वे निर्मल हैं, जबकि आत्मा में औदयिकादि चारों विभाव स्वभाव नहीं हैं, इससे वह निर्मल है। लो, क्षायिकभाव और क्षायोपशमिकभाव भी आत्मा में नहीं हैं — ऐसा कहते हैं। वे पर्याय है न ? और पर्याय द्रव्य में कहाँ है ?

'द्रव्यकर्मों तथा भावकर्मों के अभाव के कारण 'विशुद्धात्मा' है।' द्रव्यकर्म अर्थात् जड़कर्म और भावकर्म अर्थात् रागादिभाव। इन दोनों के अभाव के कारण सिद्धपरमात्मा विशुद्धात्मा हैं। यद्यपि विशुद्ध तो शुभभाव को भी कहते हैं; परन्तु यहाँ तो सिद्ध और आत्मा शुद्ध उपरांत विशुद्ध/विशेषप्रकार से शुद्ध हैं — ऐसा कहते हैं अर्थात् उनको कोई भी कर्म नहीं हैं।

अहा! दया, दान, आदि का राग करना तो आत्मा में है ही नहीं; परन्तु दया, दानादि के राग का त्याग करना भी आत्मा में नहीं है। अपूर्व बात है! प्रभु! आत्मा तो चैतन्यबिम्ब है। वह किसका त्याग करे और किसका ग्रहण करे ? उसने कभी किसी परचीज का स्पर्श भी नहीं किया, चुम्बन भी नहीं किया; तो फिर किसका त्याग-ग्रहण करे ? ऐसी आत्मवस्तु पर दृष्टि गये बिना मिथ्यात्वभाव का नाश नहीं होता। फिर बाहर

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

से भले ही वह कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु को छोड़े और सुदेव-सुशास्त्र-सुगुरु को मानें। यों तो अभव्य भी नौवें ग्रैवेयक गया था, तब सुदेव-सुशास्त्र-सुगुरु को मानता था; परन्तु वह स्व की श्रद्धा नहीं है अर्थात् सुदेव-सुशास्त्र-सुगुरु की श्रद्धा भी आत्मश्रद्धा नहीं है — यह कहते हैं; क्योंकि पर की श्रद्धा और पर का ज्ञान कोई आत्मश्रद्धा और आत्मज्ञान नहीं है।

'उसीप्रकार संसार में भी यह संसारीजीव किसी नय के बल से (किसी नय से) शुद्ध है।' देखो, नय का नाम नहीं दिया; परन्तु भाषा ऐसी की है कि 'किसी नय के बल से।'

स्पष्ट क्यों नहीं कहा ?

क्योंकि नय ही शुद्धनय है। एक शुद्धनय ही नय है। अपने को परमात्मस्वरूप से पकड़नेवाला शुद्धनय ही नय है। जिसको वास्तविक नय कहते हैं, वह शुद्धनय ही है और उसी को नय कहते हैं। जबकि अशुद्धनय या व्यवहारनय तो तुच्छ है। वह नय ही नहीं है, कथनमात्र है। यहाँ 'किसी नय के बल से (किसी नय से)' — ऐसा कहा है; तो 'किसी नय' का अर्थ यह है कि शुद्धनय। यद्यपि व्यवहारनय और उसका विषय है; परन्तु वह आश्रय करनेयोग्य बिलकुल नहीं है।

प्रश्न — व्यवहारनय है या नहीं ?

उत्तर — है; परन्तु वह सब कथनमात्र है, कहनेमात्र है। उसका अर्थ यह है कि वह जाननेमात्र है; परन्तु आदर करनेयोग्य नहीं। आदरणीय तो एक शुद्ध त्रिकाली ज्ञायकभाव है।

यहाँ कहा कि संसारी जीव भी किसी नय से अर्थात् अपने स्वरूप की दृष्टि से शुद्ध है। अहा! आत्मा शुद्ध ही है तो फिर उसको नय क्या लागू पाड़ना ? ऐसे त्रिकाली आनन्दकन्द आत्मा का सम्यग्दर्शन प्रगट करो कि जिससे जन्म-मरण का अन्त आवे। यों सम्यग्दर्शन के बिना लाख क्रियाकाण्ड करे, महीने के उपवासादि करे और करोड़ों रुपये खर्च करके लाखों मन्दिर बनावे तो भी कुछ धर्म नहीं होता। अहा! कोई पाँच--दस लाख रुपयों का दान करे तो लोगों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं; परन्तु उसमें क्या है प्रभु ? वह पैसा तो धूल है और उसको तो आत्मा कभी स्पर्श नहीं भी नहीं करता।

www.vitragvani.com

अब उस चीज को आत्मा छूता भी नहीं; तो फिर आत्मा ने उस चीज को छोड़ा। आत्मा ने पैसा दिया — यह कहाँ से आया ? जिस चीज को आत्मा छूता ही नहीं, उस चीज को आत्मा दूसरे को दे — ऐसा कैसे हो सकता है ? पैसा तो पैसे कारण आता—जाता है। प्रभु! वस्तुस्वरूप ऐसा अपूर्व है। वीतराग का मार्ग बहुत अपूर्व है।

कलश ७२ पर प्रवचन

अहो! मुनिराज की भाषा तो देखो! कि '**शुद्ध-अशुद्ध की जो विकल्पना वह मिथ्यादृष्टि को सदैव होती है.....**' त्रिकाली एकरूप भगवान आत्मा शुद्ध-अशुद्ध है — ऐसा भेद, जिसको पर्यायदृष्टि है, वह मानता है। वह मूढ़ है। देखो, आत्मा में (पर्यायरूप) शुद्धता भी नहीं है — ऐसा कहते हैं; क्योंकि वह शुद्धता अशुद्धता की (अशुद्धता के अभाव की) अपेक्षा रखती है। आत्मा अशुद्ध था सो शुद्ध हुआ — ऐसा मानने में अशुद्धता की अपेक्षा आती है। कारण कि अशुद्धता का त्याग हुआ न इसलिए। आत्मा अशुद्धता का त्याग करता है और शुद्धता का ग्रहण करता है — ऐसी जो शुद्ध-अशुद्ध की विकल्पना/विपरीत कल्पना/मिथ्या मान्यता/अनिश्चय/शंका/खेद है, वह मिथ्यादृष्टि को हमेशा होती है। बहुत कड़क बात है।

बापू! अज्ञानी की दृष्टि एकसमय भी पर की कर्त्ताबुद्धि और रागादि के त्याग-ग्रहण की बुद्धि बिना नहीं रही; परन्तु वह पर की कर्ताबुद्धि और रागादि के त्याग-ग्रहण की बुद्धि तो मिथ्याबुद्धि है। प्रत्येक समय ज्ञायकभाव की दृष्टि का अभाव होने से परचीज की कर्ताबुद्धि और राग के त्याग-ग्रहण की बुद्धि, जो कि पर्यायबुद्धि है, वह मिथ्यादृष्टि को होती है। तदुपरान्त यहाँ तो यह कहा है कि आत्मा शुद्ध-अशुद्ध है — ऐसे जो पर्याय की अपेक्षावाले भेद हैं, वे मिथ्यादृष्टि को सदा होते हैं।

श्रोता — दुनिया में अधिकांश भाग ऐसा ही है।

पूज्यगुरुदेवश्री — दुनिया में यही है न! दुनिया किसको कहते हैं ? यहाँ कहते हैं कि आत्मा शुद्ध-अशुद्ध है — ऐसी जो विपरीत कल्पना है, वह मिथ्यादृष्टि को हमेशा होती है।

अरे! 'शुद्ध हूँ' — ऐसा मानना भी विपरीत कल्पना है ? (हाँ), क्योंकि शुद्धपर्याय की अपेक्षा से आत्मा को, द्रव्य को शुद्ध मानता है न ? तो उस अपेक्षा से 'शुद्ध हूँ'

www.vitragvani.com

— ऐसा मानने से उसमें अशुद्धपने की अपेक्षा रहती है और पर्यायबुद्धि होती है। देखो, यह शुद्धभाव अधिकार है। यह शुद्धभाव अर्थात् शुद्धपर्याय की बात नहीं है। यह शुद्धपर्याय का अधिकार नहीं, परन्तु ध्रुव का अधिकार है। अर्थात् यह जो शुद्धभाव अधिकार है, वह (त्रिकाल शुद्ध) ध्रुव का अधिकार है। आकरा काम है प्रभु! अरे! जहाँ यह बात कान में पड़ना भी मुश्किल है वहाँ जिसमें पर्याय या भेद कुछ भी नहीं है ऐसे चैतन्य के अन्दर रहना — यह तो कहाँ रहा ?

यहाँ यह कहा है कि जिसमें शुद्ध-अशुद्ध के भेद नहीं हैं — ऐसी चीज में-आत्मा में जो नहीं रहता, वह मिथ्यादृष्टि है। फिर देखो 'हमेशा' शब्द का प्रयोग किया है। आशय यह है कि अज्ञानी को पर के त्याग और ग्रहण की बुद्धि (तथा शुद्ध-अशुद्ध की विकल्पना) प्रतिक्षण-प्रतिपल/सदा/निरंतर रहती है। आत्मा पर के त्याग-ग्रहण से रहित होने पर भी, अज्ञानी को पर के त्याग-ग्रहण की बुद्धि रहती है।

प्रश्न — आत्मा राज-पाट को और कुटुम्ब-कबीले को छोड़े तो उसने संसार छोड़ा कहलाता है न ?

***उत्तर* —** प्रभु! राज-पाट और कुटुम्ब-कबीले को संसार कहते ही नहीं। संसार तो एक मलिन अवस्था है और वह मलिन अवस्था अपने द्रव्य के सिवा अन्य कहीं नहीं रहती। इसकारण स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब या व्यापारादि संसार नहीं है। ये सब तो पर वस्तुएँ हैं और उस पर को आत्मा किसी भी काल स्पर्श नहीं करता। अरे! एक परमाणु भी दूसरे परमाणु का स्पर्श नहीं करता।

देखो, ये सब परमाणुओं के पिण्ड (स्कंध) पड़े हैं न ? उनमें प्रत्येक परमाणु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भिन्न-भिन्न रूप काम करता है। एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ एकपना नहीं है। प्रत्येक परमाणु का द्रव्य भिन्न, क्षेत्र भिन्न, काल भिन्न और भाव भी भिन्न है। यद्यपि ये सभी परमाणु स्कंधरूप से एकरूप देखने में आते हैं, तथापि अन्दर रहे हुए परमाणु भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् स्कंध में स्थित प्रत्येक परमाणु का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भिन्न है। अहा! स्कंध/पिण्ड में रहने पर भी प्रत्येक परमाणु अपनी परिणति को/पर्याय को करता है, अपना काम करता है; परन्तु पर को छूता या स्पर्श नहीं करता। तथा एक परमाणु में दूसरे परमाणु के कारण कुछ होता है — ऐसा भी नहीं है। जैसे कि एक परमाणु में दो गुण स्निग्धता से चार गुण स्निग्धता हुई; तो वह

www.vitragvani.com

स्निग्धता चार गुण स्निग्धतावाले परमाणु के सम्बन्ध के कारण हुई है — यह बात अत्यन्त झूठ है। अब इसीप्रकार परमाणु जड़ होने पर भी यदि उन जड़ परमाणुओं के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भी एक-दूसरे से पृथक् है; तो फिर प्रभु! तू तो आत्मा है न ? इसलिए तू तो परमाणुओं से भिन्न ही है। देखो, इधर हारमोनियम बजता है, तो उसको हाथ छूता है इसकारण बजता है — ऐसा नहीं है। अरे! हाथ तो उसको छूता ही नहीं। अहा! यह कौन माने ? यह बात तो पागल जैसी लगती है। अरे! जहाँ ऐसी बात कान में पड़ना भी मुश्किल है, तो अन्दर बैठना तो मुश्किल होगी ही।

'सम्यग्दृष्टि को तो सदा (ऐसी मान्यता होती है कि) कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनों शुद्ध हैं।' देखो, मिथ्यादृष्टि के लिए जैसे 'सदा' शब्दा था, वैसे ही अब सम्यग्दृष्टि के लिए भी 'सदा' शब्द कहा है। तो कहा कि सत्यदृष्टिवंत को सदा ऐसी मान्यता होती है कि कारणतत्त्व-त्रिकाली शुद्धतत्त्व भी शुद्ध है और कार्यतत्त्व-केवलज्ञान और वर्तमान पर्याय भी शुद्ध है। अर्थात् पूर्ण सिद्धपर्यायरूप मोक्ष और उसका कारण मोक्ष का मार्ग भी शुद्ध है। फिर भी मोक्ष और मोक्ष का मार्ग पर्यायनय का विषय है, व्यवहारनय का विषय है। अहा! एक तो परिभ्रमण के कार्य के कारण फुरसत नहीं मिलती, उसमें वहाँ तक अर्थात् मोक्ष भी व्यवहारनय का विषय है, वहाँ तक ज्ञान को ले जाना बहुत मुश्किल है।

अहा! कहते हैं कि कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व में अशुद्धता है और मिटाना है — ऐसा नहीं है। इससे उसमें अशुद्धता की अपेक्षा भी नहीं है, यह तो शुद्ध ही है। देखो न, यहाँ ऐसा कहा है न कि कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनों शुद्ध हैं — ऐसा आया है न ? तो शुद्ध है इसका अर्थ यह है कि कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व अशुद्ध हैं और अब अशुद्धता मिटाना है — ऐसा नहीं है। इसप्रकार यहाँ कहा है कि त्रिकाली प्रभु आत्मा भी शुद्ध है और उसकी पर्याय भी शुद्ध है। अहा! अशुद्धता को तो आत्मा स्पर्श भी नहीं करता। यद्यपि (अज्ञानदशा में) पर्याय में अशुद्धता है; तो भी द्रव्य उसको स्पर्श नहीं करता। द्रव्य तो शुद्धाशुद्ध पर्यायों से रहित है।

परन्तु यह माने कौन ?

कि **'इसप्रकार परमागम के अतुल अर्थ को सारासार के विचारवाली सुन्दर बुद्धि द्वारा जो सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है।'** और मानता है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

अहा! त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव जिनेश्वरदेव अरिहन्त परमात्मा वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में मौजूद हैं। उस महाविदेहक्षेत्र में भगवान के समवशरण में यह आत्मा अनन्तबार गया है; परन्तु इसने अपनी ओर दृष्टि नहीं की, इसकी दृष्टि पर की ओर ही रही कि भगवान ऐसे बाह्यवैभववाले हैं तथा भगवान की ओर दृष्टि करने से लाभ होगा; परन्तु यह दृष्टि तो मिथ्या है। अपूर्व बात है, कड़क लगे ऐसा है; क्योंकि सम्प्रदाय में तो ऐसी बात चलती ही नहीं कि पंचपरमेष्ठी का स्मरण भी अशुद्ध, मलिन और बंध का कारण है।

'मुख ॐकार ध्वनि सुनि, अर्थ गणधर विचारै।
रची आगम उपदेश, भविक जीव संशय निवारै॥'

(श्री बनारसीदासजी)

परमागम जो कि भगवान की वाणी है, उसका ज्ञान करके भी जिसको ऐसी पर्यायबुद्धि रहती है कि अशुद्धता से लाभ होता है और मुझमें अशुद्धता है, उसने परमागम के सार को नहीं जाना है।

अहा! एकावतारी इन्द्र भी वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि सुनने के लिए उनकी सभा में जाता है। तो वह दिव्यध्वनि कैसी होगी ? यह इन्द्र भी किसको कहते हैं ? कि उसके ३२ लाख तो विमान होते हैं। उनमें से बहुत से विमान में तो असंख्यदेव हैं, कितने ही विमानों में थोड़े देव हैं — ऐसे ३२ लाख विमानों का स्वामी वह इन्द्र है। फिर भी वह अन्तर में उनका स्वामीपना बिलकुल नहीं मानता। ये विमान और देव मेरी चीज है और मैं उनका स्वामी हूँ — इन्द्र ऐसा बिलकुल नहीं मानता। ऐसा इन्द्र भी भगवान के समवशरण में वाणी सुनने जाता है; तो वह वाणी कैसी होगी?

एकबार एक भाई ने किसी मुमुक्षु से प्रश्न किया कि पर से (निमित्त से) कुछ नहीं होता तो सोनगढ़ सुनने किसलिए जाना ? तुम निमित्त को (कर्तारूप) तो मानते नहीं और फिर भी बारम्बार निमित्त के पास जाते हो, तो यह बात तो विरुद्ध हुई ? एक ओर निमित्त से कार्य नहीं होना मानो और दूसरी ओर बारम्बार सोनगढ़ जाओ — ऐसा क्यों ? निमित्त से कुछ लाभ हुए बिना तुम यों ही सोनगढ़ क्यों जाते हो ? तब उस मुमुक्षु भाई ने कहा कि हम निमित्त से उपादान में कुछ नहीं होता — यह दृढ़ करने के लिए सोनगढ़ जाते हैं।

www.vitragvani.com

***प्रश्न* —** निमित्त दृढ़ता तो कराता है न ?

***उत्तर* —** बिलकुल नहीं, बिलकुल नहीं। क्योंकि निमित्त उपादान को स्पर्श ही नहीं करता। निमित्त की (ज्ञानी की) वाणी इस आत्मा को छूती ही नहीं और निमित्त की वाणी कान में पड़ी तो अन्दर ज्ञान सम्यक् हुआ — ऐसा भी नहीं है। अपूर्व बात है बापू! अहा! वीतराग जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ की वाणी दिगम्बर संतों के सिवा अन्यत्र कहीं नहीं है। अरे! दूसरों की विपरीत वाणी ने तो जगत को मिथ्यामार्ग में चढ़ा दिया है।

'इसप्रकार परमागम के अतुल अर्थ को सारासार के विचारवाली सुन्दर बुद्धि द्वारा जो सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है, उसे हम वन्दन करते हैं।' क्या कहते हैं ? कि कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनों शुद्ध हैं — ऐसा परमागम का अतुल अर्थ है। परमागम के इस अतुल अर्थ को, परमागम में से सार-असार जानकर, चतुर-ज्ञानी पुरुष जानता है। लो, परमागम ने ऐसा कहा है तो उसमें से ज्ञानी ने ऐसा ही ग्रहण किया है। ज्ञानी ने परमागम में से ऐसा निकाला तो उसका अर्थ यह हुआ कि परमागम में भी ऐसा ही कहा है। अहा! आगम सुनकर, अन्तर में निज अवलम्बन से लाभ मानना सो सम्पूर्ण आगम का सार है। तात्पर्य यह है कि द्वादशांग का सार अनुभूति करना ही है। वरना कोई द्वादशांग पढा, इसलिए कोई विशेषता है — ऐसा कुछ नहीं है। श्री समयसार कलश टीका में (कलश-१३) यह बात आती है कि कोई द्वादशांग पढ़ा इसलिए कुछ विशेषता है — ऐसा नही है, क्योंकि वह तो विकल्प है। जिसने अन्दर में अनादि से एकरूप सत्ता रखनेवाले पूर्णानन्द प्रभु भगवान आत्मा का पता लिया, उसने वह पता परमागम में से सार-असार का विचार करके लिया है। कारण कि परमागम में यही सार कहना था, शास्त्र का यही कहना था।

कहते हैं कि वीतराग की वाणी में से यह सार है और यह असार है — ऐसे सार-असार के विचारवाला सुधर्मी सुन्दर बुद्धि द्वारा-सुन्दर मति और श्रुतज्ञान द्वारा वाणी के अतुल अर्थ को जानता है। अहो! द्वादशांग में लाखों-करोड़ों बातें आती हैं अर्थात् प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग में अनेक बातें आती हैं; तो भी सार-असार का विचार करनेवाला सुधर्मी उसमें से यह सार निकालता है कि आत्मा स्वयं तीनों काल शुद्ध है — ऐसा परमागम कहता है। लो चाहे कितना ही सुने तो भी उसमें से यह सार निकालना चाहिए कि आत्मा शुद्ध है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

अहा...! भगवान आत्मा को अशुद्धता थी और फिर अशुद्धता टलकर शुद्धता हुई — इतनी अपेक्षा भी नहीं है, क्योंकि पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा तो त्रिकाल एकरूप शुद्ध ही है। आत्मद्रव्य तो शुद्धस्वरूप भगवान परमेश्वर ही है। अरे! अज्ञानी गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्व का सेवन करे तो भी आत्मद्रव्य में कोई अशुद्धता नहीं है। देखो, परमागम में से ज्ञानी ने यह सार निकाला है। इसका अर्थ यह है कि परमागम में भी यही कहा है। देखो, अकेले 'आगम' शब्द का प्रयोग नहीं करके 'परमागम' कहा है। सो दिगम्बर शास्त्र ही परमागम हैं अर्थात् वीतराग का परमागम है। इनके अतिरिक्त कोई शास्त्र वीतराग के परमागम नहीं हैं। दूसरे मतवाले स्वयं के कहे हुए को आगम कहते हैं; परन्तु वह वीतरागता के आगम का (परमागम का) कथन है ही नहीं। अहा! इस बात से दूसरों को बहुत दुःख लगता है; परन्तु क्या कहे ? (क्योंकि सत्य ही ऐसा है।)

प्रभु! तू कौन है ? कि जिसको अशुद्धता कहना भी नहीं शोभता। अरे! अशुद्धता का अभाव हुआ कहना भी नहीं शोभता। प्रभु! तुझको अशुद्धता थी और मिटी — यह कहना शोभता नहीं है नाथ! अब इससे विरुद्ध बातें करनेवाले कदाचित् जैन सम्प्रदाय के नाम से बातें चलावे तो भी उन्होंने आगम का सार नहीं जाना है। यहाँ कहते हैं कि परमात्मा के द्वारा कहे हुए आगम में से-त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि में से सार-असार का विचार करनेवाली सुन्दर बुद्धिवाला सम्यग्दृष्टि है, वह स्वयं जानता है कि मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ। लो, ऐसा सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है। मेरे में अशुद्धता थी सो मिटी — ऐसा भी नहीं जानता। ऐसी बात है। देखो न, कितनी सरस बात की है! कि सर्वज्ञदेव ने ऐसा कहा है, वाणी में (परमागम में) भी ऐसा कहा है और वाणी में से सार-असार का विचार करके ज्ञानी ने भी यह निकाला है। इसप्रकार तीन बातें हुईं —

(१) सर्वज्ञदेव की वाणी में यह सार कहा है कि शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा को शुद्धता-अशुद्धता होने की बात छोड़ दे — ऐसा भगवान ने कहा है।

(२) भगवान की वाणी में (परमागम में) भी ऐसा ही कहा है और

(३) सम्यग्दृष्टि ने भी परमागम में से ऐसा निकाला है।

इसलिए जो जीव आगम में से यह बात निकलता है, वही आगम को जानता है। बाकी कोई अन्यप्रकार (अन्य सार) निकाले, तो वह आगम को तथा भगवान को भी

www.vitragvani.com

नहीं जानता तथा जो आगम और भगवान को नहीं जानता, वह आत्मा को तो जानता ही नहीं।

अहा! हम सम्प्रदाय में २१-२१ वर्ष रहे थे, तो भी ये शब्द कान में नहीं पड़े थे। यों हमारे सम्प्रदाय के गुरु तो बहुत शांत, नरम, निरभिमानी थे और उनकी कषाय भी मन्द थी; फिर भी अरे भगवान! यह बात कान में नहीं पड़ी। इसलिए उनकी तुलना में तो यह बात सुननेवाले जीव भाग्यशाली हैं कि उनके कान में यह बात पड़ती है।

यहाँ भगवान ऐसा कहते हैं कि प्रभु! तू शुद्ध-अशुद्ध के भेद को छोड़ दे और मैं त्रिकाल शुद्ध एकरूप हूँ — ऐसा निर्णय कर — ऐसा मैंने (भगवान ने) कहा है। परमागम में भी ऐसा कहा है और प्रभु! तू भी आगम में से ऐसा निकाल। फिर देखो, 'सुन्दर बुद्धि द्वारा' — ऐसा कहा है अर्थात् अपनी कल्पना द्वारा नहीं; परन्तु भगवान की वाणी और आगम में जो कहा है, उसमें से सुन्दर बुद्धि द्वारा सार निकालकर सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है — ऐसा कहते हैं। अहा! सम्यग्दृष्टि स्वयं यह जानता है कि मैं तो अनादि-अनन्त चैतन्यमूर्ति आत्मा में से कभी हटा ही नहीं और मेरे द्रव्य में कभी अशुद्धता आई नहीं। अशुद्धता मेरे द्रव्य को छूती भी नहीं। अरे! पर्यायरूप शुद्धता भी मेरे द्रव्य को नहीं छूती। अहा! भगवान ने ऐसा कहा है, वाणी में (परमागम में) ऐसा आया है और सुन्दर बुद्धिवाले सम्यग्दृष्टि ने भी आगम में से ऐसा निकाला है। '**उसे हम वंदन करते हैं।**'

देखो, 'सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है' — ऐसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी पर की, गुरु अथवा शास्त्र की अपेक्षा बिना सम्यग्दृष्टि स्वयं से जानता है। यद्यपि उसने सार तो आगम में से निकाला है; फिर भी वह सार सम्यग्दृष्टि ने स्वयं निकाला है — ऐसा कहते हैं, उसे हम वन्दन करते हैं। अहा! बहुत सरस बात आई है।

लो, यह कलश पूर्ण हुआ। ●

यह अज्ञानी प्राणी, अमुक मर गये, अमुक मृत्यु के सन्मुख हैं और अमुक निश्चितरूप से मरेंगे ही - इसप्रकार सदा दूसरों के विषय में गिनती करता रहता है; परन्तु शरीर, धन, स्त्री आदि वैभव में महामोह से ग्रसित मूर्ख मनुष्य अपने समीप आयी हुई मृत्यु को देखता भी नहीं है।

- **श्री सुभाषितरत्नसंदोह**

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

नियमसार गाथा–४९

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा॥४९॥

एते सर्वे भावा व्यवहारनयं प्रतीत्य भणिताः खलु।
सर्वे सिद्धस्वभावाः शुद्धनयात् संसृतौ जीवाः॥४९॥

(हरिगीत)

व्यवहारनय से हैं कहे सब जीव के ही भाव ये।
है शुद्धनय से जीव सब भवलीन सिद्ध स्वभाव से॥४९॥

गाथार्थ :— यह (पूर्वोक्त) सब भाव वास्तव में व्यवहारनय का आश्रय करके (संसारी जीवों में विद्यमान) कहे गये हैं; शुद्धनय से संसार में रहनेवाले सर्व जीव सिद्ध स्वभावी हैं।

टीका :— यह, निश्चयनय और व्यवहारनय की उपादेयता* का प्रकाशन (कथन) है।

पहले जो विभावपर्यायें ''विद्यमान नहीं हैं'' ऐसी प्रतिपादित की गई हैं वे सब विभावपर्यायें वास्तव में व्यवहारनय के कथन से विद्यमान हैं। और जो (व्यवहारनय के कथन से) चार विभावभावरूप परिणत होने से संसार में भी विद्यमान हैं वे सब शुद्धनय के कथन से शुद्धगुणपर्यायों द्वारा सिद्धभगवन्त समान हैं। (अर्थात् जो जीव व्यवहारनय के कथन से औदयिकादि विभावभावोंवाले होने से संसारी हैं, वे सब शुद्धनय के कथन से शुद्ध गुण तथा शुद्ध पर्यायोंवाले होने से सिद्ध सदृश हैं)।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में पाँचवें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

* प्रमाणभूत ज्ञान में शुद्धात्मद्रव्य का तथा उसकी पर्यायों का — दोनों का सम्यग्ज्ञान होना चाहिए। ''स्वयं को कथंचित् विभावपर्यायें विद्यमान हैं'' ऐसा स्वीकार ही जिसके ज्ञान में न हो उसे शुद्धात्मद्रव्य का भी सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए ''व्यवहारनय के विषयों का भी ज्ञान तो ग्रहण करनेयोग्य है'' ऐसी विवक्षा से ही यहाँ व्यवहारनय को उपादेय कहा है, ''उनका आश्रय ग्रहण करनेयोग्य है'' ऐसी विवक्षा से नहीं। व्यवहारनय के विषयों का आश्रय (आलम्बन, झुकाव, सन्मुखता, भावना) तो छोड़नेयोग्य है ही ऐसा समझने के लिए ५०वीं गाथा में व्यवहारनय को स्पष्टरूप से हेय कहा जायेगा।
जिस जीव के अभिप्राय में शुद्धात्मद्रव्य के आश्रय का ग्रहण और पर्यायों के आश्रय का त्याग हो, उसी जीव को द्रव्य तथा पर्यायों का ज्ञान सम्यक् है ऐसा समझना, अन्य को नहीं।

www.vitragvani.com

(मालिनी)

''व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित्॥''

(वीरछन्द)

**प्रथम भूमिका में ही जिनने अपना कदम बढ़ाया है।
अरे अरे रे ! उन जीवों को यह व्यवहार सहारा है॥
मात्र एक चित् चमत्कारमय पर से भिन्न परमपद को।
निज अन्तर में लखें जीव जो उन्हें न किञ्चित् यह नय हो॥**

श्लोकार्थ :— यद्यपि व्यवहारनय इस प्रथम भूमिका में जिन्होंने पैर रखा है — ऐसे जीवों को, अरे रे! हस्तावलम्बनरूप भले हो, तथापि जो जीव चैतन्यचमत्कारमात्र, पर से रहित ऐसे परम पदार्थ को अन्तरंग में देखते हैं, उन्हें यह व्यवहारनय कुछ नहीं है।

और (इस ४९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) —

(स्वागता)

**शुद्धनिश्चयनयेन विमुक्तौ
संसृतावपि च नास्ति विशेषः।
एवमेव खलु तत्त्वविचारे
शुद्धतत्त्वरसिकाः प्रवदन्ति॥७३॥**

(वीरछन्द)

**शुद्धतत्त्व के रसिक, तत्त्व का चिन्तवन करके यही कहें।
मुक्त और संसार दशा में अन्तर नहीं शुद्धनय से॥७३॥**

श्लोकार्थ :— ''शुद्धनिश्चयनय से मुक्ति में तथा संसार में अन्तर नहीं है;'' ऐसा ही वास्तव में, तत्त्व विचारने पर (परमार्थ वस्तुस्वरूप का विचार अथवा निरूपण करने पर), शुद्धतत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं।।७३।।

गाथा ४९ की टीका पर प्रवचन

'यह निश्चयनय और व्यवहारनय की उपादेयता का प्रकाशन (कथन) है।'

www.vitragvani.com

यहाँ दोनों नयों के उपादेयपने का कथन है। उसमें व्यवहारनय उपादेय है अर्थात् व्यवहार का विषय है — ऐसा जानता। व्यवहारनय का विषय है — इतना बतलाने के लिए व्यवहारनय को उपादेय कहा है। इसका अर्थ फुटनोट में इसप्रकार किया है —

'प्रमाणभूत ज्ञान में शुद्धात्मद्रव्य का तथा उसकी पर्यायों का — दोनों का सम्यग्ज्ञान होना चाहिए।' किसी भी वस्तु का प्रमाणज्ञान जब उसके द्रव्य और पर्याय — दोनों का ज्ञान साथ हो तब होता है, क्योंकि प्रमाणज्ञान में द्रव्य और पर्याय — दोनों का ज्ञान साथ होता है। निश्चयनय में सामान्य का (त्रिकाली द्रव्य का) ज्ञान होता है और व्यवहारनय में विशेष का-पर्याय का ज्ञान होता है। जबकि प्रमाणज्ञान में सामान्य और विशेष का ज्ञान साथ ही होता है।

'स्वयं को कथंचित् विभाव पर्यायें विद्यमान हैं' — ऐसा स्वीकार ही जिसके ज्ञान में न हो उसे शुद्धात्मद्रव्य का भी सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता।' आत्मा में विकारी पर्यायें हैं, विद्यमान है; क्योंकि व्यवहारनय है तो उसका विषय भी है। इसप्रकार जो विद्यमान है, उसका जिसके ज्ञान में स्वीकार न हो उसको अर्थात् पर्याय में विकारीभाव नहीं है — ऐसी मान्यतावाले को, आत्मद्रव्य-वस्तु का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता। पर्याय में विकारीभाव है — ऐसा जो नहीं मानता, उसको आत्मद्रव्य का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता; क्योंकि द्रव्य और पर्याय मिलकर प्रमाणज्ञान का विषय बनता है; इसलिए प्रमाणज्ञान के विषय में दोनों नयों का विषय आ जाता है।

'इसलिए व्यवहारनय के विषयों का भी ज्ञान तो ग्रहण करने योग्य है — ऐसी विवक्षा से ही यहाँ व्यवहारनय को उपादेय कहा है।' देखो, व्यवहारनय के विषयों का ज्ञान ग्रहण करनेयोग्य है — ऐसा कहते हैं। व्यवहारनय के विषय जानने के लिए ग्रहण करनेयोग्य है। आशय यह है कि व्यवहारनय का विषय है — ऐसा जानना। समयसार की १२वीं गाथा में जो यह आता है कि 'व्यवहारनय जाना हुआ प्रयोजनवान है' — वही बात यहाँ कहते हैं कि व्यवहारनय के विषयों का ज्ञान तो ग्रहण करनेयोग्य है और ऐसी विवक्षा से ही अर्थात् उनका ज्ञान करने के लिए ही यहाँ व्यवहारनय को उपादेय कहा है।

''उनका आश्रय ग्रहण करनेयोग्य है' — ऐसी विवक्षा से नहीं।'' आशय यह है कि व्यवहारनय के विषयों का आदर करने के लिए व्यवहारनय को उपादेय नहीं कहा है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

पर्याय में विकार है (व्यवहारनय का विषय है) — ऐसा ज्ञान में स्वीकार करने के लिए व्यवहारनय को उपादेय कहा है; परन्तु व्यवहारनय के विषय उपादेय हैं (इसलिए व्यवहारनय को उपादेय कहा है) — ऐसा नहीं है। अहा! जीव को व्यवहारनय के विषय जानने योग्य हैं कि पर्याय में संसार है, विकार है। अरे! समकिती को भी पर्याय में राग है — ऐसा जानना। इसप्रकार व्यवहारनय के विषय जानने के लिए ग्रहण करनेयोग्य है और इसी अपेक्षा से व्यवहारनय को उपादेय भी कहते हैं; परन्तु उसका आश्रय ग्रहण करनेयोग्य है — यह कहने के लिए व्यवहारनय उपादेय नहीं कहा गया है।

'व्यवहारनय के विषयों का आश्रय (आलम्बन, झुकाव, सन्मुखता, भावना) तो छोड़नेयोग्य ही है — ऐसा समझाने के लिए ५०वीं गाथा में व्यवहारनय को स्पष्टरूप से हेय कहा जाएगा।' इन व्यवहारनय के विषयों का आश्रय तो छोड़नेयोग्य ही है और यह समझाने के लिए ५०वीं गाथा में व्यवहारनय को प्रगटरूप से हेय कहेंगे। यद्यपि व्यवहारनय और उसके विषय 'हैं' — ऐसा जाननेयोग्य है; तथापि वे हेय हैं।

'जिस जीव के अभिप्राय में शुद्धात्मद्रव्य के आश्रय का ग्रहण और पर्यायों के आश्रय का त्याग हो, उसी जीव को द्रव्य तथा पर्यायों का ज्ञान सम्यक् है — ऐसा समझना, अन्य को नहीं।' टीका में व्यवहारनय के लिए 'उपादेय' शब्द आया है न, इसलिए फुटनोट में यह स्पष्टीकरण करना पड़ा है। निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों को उपादेय कहा है तो उसका अर्थ क्या है ? कि पर्याय, विकार आदि व्यवहारनय के विषय हैं — ऐसा जानने के लिए व्यवहारनय को उपादेय कहा है; परन्तु पर्याय के सन्मुख होकर, व्यवहारनय के विषय आश्रय करनेयोग्य हैं या आदर करनेयोग्य हैं — इस अपेक्षा से व्यवहारनय को उपादेय नहीं कहा है।

इस गाथा के अर्थ में अभी बहुत विवाद-गड़बड़ चलता है। अज्ञानी कहता है कि व्यवहार निश्चय का कारण है, इसलिए व्यवहारनय भी आदरणीय है — यहाँ ऐसा कहना है। परन्तु भाई! यहाँ यह कहना ही नहीं है। यहाँ तो यह कहना है कि व्यवहारनय का विषय है और वह जाननेयोग्य है; परन्तु आदरणीय है — ऐसा नहीं कहना है तथा व्यवहार से निश्चय होता है — यह भी यहाँ नहीं कहना है। अब मूल टीका......

'पहले जो विभाव पर्यायें 'विद्यमान नहीं हैं' ऐसी प्रतिपादित की गई हैं वे सब

विभावपर्यायें वास्तव में व्यवहारनय के कथन से विद्यमान हैं।' पूर्व में विभाव पर्यायें हेय हैं (अर्थात् विद्यमान नहीं हैं) ऐसा कहा था। विकारी विभाव पर्यायों की तो क्या बात करना, परन्तु क्षायिकभाव भी हेय है (अर्थात् विद्यमान नहीं है) — ऐसा कहा था। चारों ही पर्यायरूप भावों को हेय कहा था और यहाँ वे सब भाव व्यवहारनय से 'वर्तमान विद्यमान हैं' — ऐसा ज्ञान कराने के लिए कहा गया है।

'और जो (व्यवहारनय के कथन से) चार विभावभावरूप परिणत होने से संसार में भी विद्यमान है।' देखो, आत्मा व्यवहारनय से चार विभावभावों से परिणत है — ऐसा कहते हैं तथा यहाँ औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — इन चारों भावों को विभावभाव कहा गया है। अहा! जो त्रिकाली पारिणामिक स्वभावभाव है, वह एक ही सनातन द्रव्य है, जबकि ये औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और क्षायिक चारों भाव पर्याय हैं और ये चारों पर्यायें हेय हैं।

यह आत्मा का द्रव्य (ध्रुवत्व) है, वह त्रिकाली द्रव्य है और उसकी वर्तमान पर्याय सो वर्तमान अवस्था है। तो उस अवस्था को जानना — ऐसा यहाँ कहा गया है; परन्तु वह अवस्था आश्रय करनेयोग्य है — यह यहाँ नहीं कहा गया है। लो, औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — इन चारों ही भावों को यहाँ विभावभाव कहा गया है। ये चारों ही भाव पर्याय है और वह पर्याय आश्रय करनेयोग्य नहीं; परन्तु वह 'है' — ऐसा जाननेयोग्य है। आदरणीय तो त्रिकाली परम स्वभावभावरूप पंचमभाव ज्ञायकभाव है, जो कि समकित का विषय है। वह एक ही समकित का विषय है और वह समकित का विषय ही आदरणीय है। ये औदयिकादि चार पर्याय समकित का विषय नहीं है (और आदरणीय भी नहीं है।) ऐसी सूक्ष्म बात है।

अहा! देह और वाणी की क्रियारूप बाहर के क्रियाकाण्ड तो कहीं दूर रह गये; क्योंकि वे तो जड़ हैं और जड़ को तो आत्मा कभी स्पर्श ही नहीं करता। चैतन्यतत्त्व कभी जड़ का स्पर्श नहीं करता। अरे! जड़ पुद्गल का एक परमाणु भी दूसरे परमाणु का कभी स्पर्श नहीं करता; तो फिर आत्मा परमाणु का स्पर्श करे — यह कैसे हो सकता है ? अब ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी अज्ञानी "यह करो और वह करो" — इसप्रकार बाह्य क्रियाकाण्ड में रुक गया है। परन्तु प्रभु! तू पर का क्या कर सकता है ? (कुछ भी नहीं।) यहाँ कहते हैं कि प्रभु! तू कौन है ? कैसा है ? कि तेरी चीज तो ज्ञायकभाव

www.vitragvani.com

है। तू तो ज्ञायक-जानने के स्वभाव का पिण्ड है और वही आदरणीय है, ग्रहण करने-योग्य है। उसके सिवा जो कोई पर्याय प्रगट होती है, वह सब जाननेयोग्य है। पर्याय 'है' — ऐसा जाननेयोग्य है; परन्तु आश्रय करनेयोग्य नहीं। अब अज्ञानी को ऐसी बात कड़क लगती है; परन्तु क्या हो सकता है ? (क्योंकि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है।)

'और जो (व्यवहारनय के कथन से) चार विभावभावरूप परिणत होने से संसार में भी विद्यमान हैं वे सब शुद्धनय के कथन से शुद्धगुणपर्यायों द्वारा सिद्ध भगवंत समान हैं।' कहते हैं कि संसारी प्राणी को दया-दान, राग-द्वेष आदिरूप औदयिकभाव भी हैं, समकित और चारित्र का औपशमिकभाव भी है, ज्ञानादिक का क्षायोपशमिकभाव भी है और समकित, ज्ञान आदि का क्षायिकभाव भी है। जबतक ये औदयिकादि चार विभावभाव हैं, तबतक वह संसारी है। सो वे भाव जाननेयोग्य हैं, परन्तु आदरणीय नहीं। यहाँ विभावभाव का अर्थ विकार नहीं, अपितु विशेषभाव है। त्रिकाली स्वरूप भगवान आत्मा सामान्यभाव है और उसकी पर्याय/अवस्था/हालत में ये चार भाव विशेषभाव हैं। ये विशेषभाव संसार अवस्था में हैं। तथा 'है' पने मानने योग्य भी है।

अब कहते हैं कि संसार अवस्था में ये चार पर्यायें होने पर भी, शुद्धनय के कथन से तो सभी (संसारी) आत्मा सिद्धसमान ही हैं।

अहा! संसारी आत्मा को औदयिकादि चार पर्यायें (भाव) हैं; किन्तु वे तो जाननेयोग्य हैं, आदरणीय नहीं। संसारदशा में दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि के भाव आते हैं; परन्तु वे आश्रय करनेयोग्य नहीं हैं तथा उनसे लाभ माननेयोग्य भी नहीं है। मात्र 'है' रूप से जाननेयोग्य है। बात कठिन लगे ऐसी है! देखो, यहाँ यह कहा है न कि चार विभावभाववाले संसारी जीव तो हैं; परन्तु निश्चय दृष्टि के कथन से अन्दर में वे सब सिद्ध समान हैं। दूसरे प्रकार से कहें तो त्रिकालीस्वभाव का ज्ञान कराने के लिए और त्रिकाली ज्ञायकभाव एक ही आदरणीय है — ऐसा कथन करने के लिए, ये चार भाववाले संसारी जीव भी निश्चयनय से सिद्धसमान ही हैं — ऐसा कहा है। यहाँ तो चार भावोंवाले समस्त जीवों को संसारी जीव कहा है और वे (संसारी जीव) विद्यमान हैं — ऐसा भी कहा है; तो भी शुद्धनय से/निश्चयनय से/परमसत्यदृष्टि से/त्रिकाली परमपारिणामिक स्वभाव का स्वीकार करनेवाली दृष्टि से देखा जाए तो सभी संसारी जीव

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

सिद्धसमान हैं अर्थात् वे चारों विभाव पर्यायें वस्तु में नहीं हैं।

अहा! जगत को ऐसी बात कठिन पड़ती है। परन्तु क्या हो ? अरे! चौरासी लाख योनियों में अवतार करते-करते अनन्तकाल गया, फिर भी इसको यह बात नहीं मिली। इसने एक-एक योनि में अनन्तबार अवतार किया है। जिनकी गिनती नहीं — ऐसे अनन्त भव इसने किये हैं और इसप्रकार एक-एक योनि में अनन्तबार अवतार धारण किये हैं, एक आत्मज्ञान बिना। आत्मज्ञान के बिना अनन्तबार क्रियाकाण्ड तो बहुत किये हैं; परन्तु वह तो राग की क्रिया है। उस राग से तो पुण्यबंध होता है और पुण्यबंध से तो संसार मिलता है; परन्तु उससे जन्म-मरण का अन्त नहीं आता।

यहाँ यह कहा है कि पर्यायदृष्टिवाले और चार विभावभावोंवाले संसारी हैं अर्थात् संसारी जीव चार भावोंवाले हैं। कोई जीव संसारी है ही नहीं — ऐसा नहीं है। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — इन चार भावोंवाले संसारी जीव हैं; परन्तु शुद्धनय की दृष्टि से देखें तो वे संसारी जीव चार भावोंवाले नहीं हैं; परन्तु अकेले शुद्धभाववाले हैं। जगत को यह कठिन पड़ता है; परन्तु क्या हो ? एक तो पूरे दिन इसको व्यापार के पाप के कारण निवृत्ति नहीं मिलती, उससे कदाचित् निवृत्ति मिले तो धर्म के नाम पर चलनेवाले बाह्य क्रियाकाण्ड में धर्म मान लेता है। इसप्रकार इसकी पूरी जिन्दगी चली जाती है। भाई! मृत्यु का अवसर समीप आता है।

यहाँ परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ऐसा कहते हैं कि प्रभु! संसारी प्राणी की एकसमय की पर्याय में चार भाव भले ही हों; परन्तु शुद्धनय से देखा जाए तो ये चार भाव ज्ञात नहीं होते; परन्तु वह तो सिद्धसमान त्रिकाली सनातन चैतन्यस्वरूप है/त्रिकाली पंचमभाव स्वरूप है — ऐसा ज्ञात होता है।

प्रश्न — शुद्ध गुण-पर्याय अर्थात् ?

उत्तर — संसारी की पर्याय नहीं, अपितु सिद्ध के गुण और पर्याय। समस्त संसारी जीव सिद्ध के गुण और पर्याय जैसे (निर्मल स्वभाववाले) हैं। देखो, पहले इस क्षायिकभाव की पर्याय को निकाल दिया था कि वह विद्यमान नहीं है; तो भी अब यह कहते हैं कि शुद्धनय के कथन से जो सिद्ध की पर्याय है, जो क्षायिकभाव है—उसवाले होने से संसारी जीव सिद्धसमान हैं। यद्यपि सिद्ध की पर्याय है तो क्षायिकभाव, तथापि

www.vitragvani.com

यहाँ उसको क्षायिकभावरूप नहीं लेना है। (त्रिकाली शुद्धस्वभावरूप लेना है।)

अहा! यहाँ यह कहते हैं कि औदयिकादि चार भावोंवाले संसारी जीव हैं। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — इन चार पर्यायोंवाले संसारी प्राणी हैं; परन्तु उनको शुद्धनय से देखा जाए तो वे सिद्धसमान हैं। सिद्ध के गुण और पर्यायों के समान (निर्मल स्वभाववाले) सिद्ध ही हैं। सिद्ध समान सदा पद मेरौ — ऐसा आता है न ? अर्थात् अन्दर निर्मलानन्द प्रभु भगवान आत्मा विद्यमान है। संसारी की अवस्था/पर्याय को न देखो तो अन्दर भगवान आत्मा सर्वांग परिपूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द से भरा ही है। वह अन्दर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण वीतरागता, पूर्ण शान्ति आदि से परिपूर्ण भरा है। उसको देखने (जानने) वाले नय से देखें तो ये औदयिकादि चार भाव, जो कि संसारी में होते हैं वे, उसमें (संसारी में) नहीं है, किन्तु वह सिद्धसमान है।

अहा! सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली द्रव्य ही है। वर्तमान क्षायिकपर्याय भी, भले ही वह क्षायिक समकित हो या क्षायिक यथाख्यातचारित्र हो तो भी, सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, सम्यग्दर्शन का ध्येय नहीं है। इससे चौथे गुणस्थानवाला/धर्म की पहली शुरुआत वाला/धर्म की पहली सीढ़ी या सोपानवाला सम्यग्दृष्टि आत्मा को सिद्धसमान मानता है। सम्यग्दृष्टि=सम्यक्+दृष्टि=सत्य (सच्ची) दृष्टि। त्रिकाली परम सत्यस्वभावी भगवान आत्मा का/पंचमभाव का/त्रिकाली ज्ञायकभाव का स्वीकार जो दृष्टि करती है, वह दृष्टि सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शन का विषय, उसका लक्ष्य, उसका ध्येय त्रिकाली वस्तु ज्ञायकभाव आत्मा है; परन्तु ये औदयिकादि चारप्रकार की पर्यायें उसका विषय नहीं हैं। अरे! ऐसा निर्णय कब करेगा ? इसको फुरसत-निवृत्ति कहाँ है ? यह तो बाह्य क्रियाकाण्ड की प्रवृत्ति में पड़ा है और जिन्दगी चली जा रही है।

यहाँ अरिहन्तदेव, सर्वज्ञदेव परमात्मा की यह पुकार है, उनकी यह वाणी है कि अन्तर में महाप्रभुमय वस्तु आत्मा पड़ा है। तेरी चीज तीनोंकाल सिद्धसमान ही है। इसलिए प्रभु! तेरी संसार पर्याय में—दशा में औदयिकादि चार भाव दिखते हैं, वे हेय हैं। अरे! शरीर, वाणी, मन, कर्म, पैसा, स्त्री और परिवारादि तो कहीं पर में रहे। वे तो उनके कारण आते और जाते हैं। उनके साथ आत्मा का कोई संबंध नहीं है; क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चुम्बन नहीं करता, स्पर्श नहीं करता — ऐसा तीनलोक के नाथ केवलज्ञानी का फरमान है।

www.vitragvani.com

श्री समयसारजी की गाथा ३ में आता है कि सर्वद्रव्य अर्थात् जितने अनन्त पदार्थ हैं, वे सब अपने गुण और पर्यायरूपी धर्मों को अर्थात् स्वभावों को स्पर्श करते हैं; परन्तु परद्रव्य को स्पर्श नहीं करते। लो, अन्दर यह आत्मा है, वह शरीर को स्पर्श नहीं करता — ऐसा कहते हैं। अहा! यह कौन माने ? लोग पागल ही कहे — ऐसी बात है न ? अरे ! लोग पागल हैं और वे सत्य को पागल (खोटा) कहें ऐसा सत्य है। यहाँ तो त्रिलोकनाथ अरिहन्त भगवान का यह फरमान है कि इस आत्मा ने भूतकाल में शरीर का स्पर्श नहीं किया; इसीतरह इस चैतन्यस्वरूप आत्मा ने अन्दर रहे हुए आठ कर्मों का भी स्पर्श नहीं किया, चुम्बन नहीं किया, क्योंकि वे दोनों वस्तुएँ (कर्म और आत्मा) अत्यन्त भिन्न है। अहा! सनातन सत्य द्रव्य-वस्तु है वह निश्चय से एकत्व-एकपने को प्राप्त हो तो सुन्दर है और वह द्रव्य दूसरे द्रव्य को नही छूता। तीनकाल में भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता — ऐसा समयसार की तीसरी गाथा की टीका में कहा है।

प्रश्न — एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श करे तो क्या भिट जायेगा ?

उत्तर — वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। (इसलिए भिटने का प्रश्न ही नहीं रहता।) एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का अत्यन्त अभाव है इसलिए अर्थात् एक-दूसरे में अभाव होने से एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का स्पर्श कभी नहीं करता। इसकारण एक आत्मा ने दूसरे आत्मा को या शरीर को या वाणी को या कर्म को कभी स्पर्श ही नहीं किया। अरे! यह बात बैठना बहुत कठिन है। अहा! भाई! कठिन लगे ऐसी सूक्ष्म बात है।

यहाँ कहते हैं कि संसारी प्राणी औदयिकादि चार पर्यायोंवाले हैं अर्थात् चार गतियों में जो जीवों का अस्तित्व है, वे इन चार पर्यायोंवाले हैं; परन्तु उनको वस्तुदृष्टि से देखें तो-नित्य रहनेवाले परमात्मस्वरूप आत्मा की दृष्टि से देखें तो वे सब चारों भाव हेय हैं अर्थात् संसारी जीव चार भावोंवाले नहीं दिखते; अपितु वे तो सिद्धसमान ही हैं — ऐसा दिखता है और वह सिद्धसमान आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है। समकित-चौथा गुणस्थान प्रगट होता है, उसका विषय यह एकरूप ज्ञायकभाव एक ही है; परन्तु औदयिकादि चार भाव समकित का विषय नहीं हैं। अरे! यह बात अज्ञानी को समझ में नहीं आती, परन्तु क्या हो ? उसको तो दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो और पूजा

www.vitragvani.com

करो — ऐसी प्रवृत्ति के कारण निवृत्ति ही नहीं मिलती है और उस प्रवृत्ति में ही धर्म मान लिया है। परन्तु भाई! वह तो राग है, औदयिकभाव है; उसमें धर्म नहीं है। देखो, यहाँ तो कहते हैं कि औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव भी संसारी जीव को होते हैं। अहा! वे भाव आत्मा में नहीं हैं; क्योंकि आत्मा तो त्रिकाली ज्ञायक आनंदकंद प्रभु है। अनाकुल आनंद के नाथ आत्मा को सर्वज्ञ भगवान ने जैसा जाना, अनुभव किया और प्रगट किया, वैसा ही आत्मा सबके अन्दर है। इसलिए कहते हैं कि आत्मा का और औदयिकादि चार भावों का संबंध नहीं है और तब शरीर, वाणी, मन, तथा बाहर के धूल-पैसा आदि को अपना मानना तो मिथ्यात्व व अज्ञान है ही।

प्रश्न — चक्रवर्ती तो अपने राज्य को अपना मानते थे न ?

उत्तर — नहीं मानते थे। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती राज्यादिक का एक रजकण भी मेरा है — ऐसा नहीं मानते थे। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान के पुत्र भरत चक्रवर्ती को छियानवें हजार रानियाँ और छियानवें करोड़ सेना इत्यादि थे; तथापि वे यह मानते थे कि मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ और ज्ञानानन्दस्वरूप से भिन्न कोई परचीज मेरी नहीं है। अरे! वे राग के एक कण को भी अपना नहीं मानते थे। बेन में (बहिनश्री के वचनामृत बोल नं. ३२३ में) दृष्टान्त आता है कि जैसे अग्नि और बर्फ के बीच खड़ा प्राणी अग्नि की ओर नहीं, किन्तु बर्फ की ओर जाता है; इसीप्रकार पुण्य-पाप के भाव/ शुभाशुभभाव अग्नि है। जबकि शुभाशुभभाव से रहित प्रभु भगवान आत्मा अन्दर में बर्फवत् शीतल है अर्थात् अविकारी शान्तरसमय है। तो धर्मी जीव अविकारी शान्तरस की ओर जाएगा, किन्तु अग्नि के समान इन विकारीभावों की ओर नहीं जाएगा। लो, ऐसी बात है। अहा! अज्ञानी ने कभी ऐसी बात सुनी नहीं होने से बाह्यक्रिया करके धर्म होना मान लेता है। परन्तु अरे प्रभु! ऐसी क्रियाकाण्ड करते-करते तो अनन्तकाल बीत गया है। नाथ! ऐसे तो अनन्तभव किये हैं; फिर भी एक भी भव कम नहीं हुआ।

'**(अर्थात् जो जीव व्यवहारनय के कथन से औदयिकादि विभावभावोंवाले होने से संसारी हैं, वे सब शुद्धनय के कथन से शुद्धगुण तथा शुद्धपर्यायोंवाले होने से सिद्ध सदृश हैं।**' देखो, यहाँ ऐसा कहा है न कि औदयिकादि विभावभावोंवाले होने से संसारी हैं अर्थात् संसारी जीव हैं; तो भी वे सब, उनमें औदयिकादि विभावभाववाले भी आ जाते हैं, शुद्धनय के कथन से अर्थात् पवित्र दृष्टि से और उसके कथन से-

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

वास्तविक वस्तु की दृष्टि से और उसके कथन से शुद्धगुणों और शुद्धपर्यायोंवाले होने से सिद्ध सदृश हैं। कड़क बात है।

अहा! यह शरीर तो अनन्त रजकणों से बना हुआ जड़-मिट्टी-धूल है। उसका एक रजकण भी आत्मा का नहीं है। यह अँगुली हिलती है, जीभ चलती है सो आत्मा से नहीं चलती — ऐसा कहते हैं। अरे! कौन माने ? परन्तु भाई! जो यह चलती है वह अँगुली और जीभ जड़ है, अत: वह जड़ से चलती है, आत्मा से नहीं। आत्मा तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप है और वह भगवान आत्मा अपने स्वरूप में विराजमान है। परचीज की क्रिया का अभिमानी संसार में/चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता है। यहाँ भी यही कहा न कि 'चार विभावभावरूप परिणत होने से संसार में भी विद्यमान है।' — औदयिकादि विभावभावोंवाले होने से संसारी जीव हैं; परन्तु वे व्यवहारनय के कथन से हैं। शुद्धनय के कथन से तो वे सब 'शुद्ध गुण-पर्यायों द्वारा सिद्ध भगवंत समान हैं।' सिद्ध भगवान समान हैं; क्योंकि यदि अन्दर में सभी आत्माएँ सिद्ध भगवानस्वरूप न हों तो पर्याय में सिद्ध भगवान होंगे कहाँ से ? प्राप्त की प्राप्ति है। अन्दर में सिद्धस्वरूप है तो पर्याय में प्रगट होता है। जैसे कुएँ में जल हो, तब ही बर्तन में आता है; वैसे ही अन्दर में अनन्तज्ञान, आनन्द, शान्ति आदि अनन्त-अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु आत्मा है, जिसमें राग की गंध भी नहीं है — ऐसी वस्तु की दृष्टि करने से अन्दर में विद्यमान अनन्त ज्ञानादि गुण प्रगट होते हैं।

यहाँ कहा है कि वस्तु की दृष्टि से/शुद्धनय से संसारी जीव सिद्धसमान जानने में आते हैं। कड़क बात है प्रभु! अहा! यह एक बात बैठ जाए तो इसको सम्यग्दर्शन हो जाए। वरना तो उपवास करके, रात्रि भोजन का त्याग करके, शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन आदि क्रियाकाण्ड करके मर जाए तो भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। यह सब तो इसने अनन्तबार किया है। अनन्तबार ऐसी क्रियाएँ की हैं और अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक भी गया है; परन्तु अन्दर में जो पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा है, उस पर इसने दृष्टि नहीं की अर्थात् उसका स्वीकार/सत्कार/आदर नहीं किया। इसने तो इस रागभाव का आदर किया है।

'रजकण तारा रखड़शे, जेम रखड़ती रेत।
पछी नर तन पामीश क्याँ ? चेत, चेत नर चेत।।'

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

यह पैसा-धूल तो कहीं रह गया, परन्तु यह शरीर भी मिट्टी/धूल का बना हुआ है और श्मशान में राख बनकर उड़ जाएगा, इसलिए यदि इस वस्तुस्वरूप को नहीं समझा, तो भाई! चारगति में परिभ्रमण करना पड़ेगा। जैसे सुई में डोरा नहीं पिरोया होगा तो सुई खो जाएगी, उसीप्रकार यदि आत्मारूपी सुई में सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा नहीं पिरोया होगा अर्थात् मैं औदयिकादि चार भावों से भिन्न अकेला ज्ञायक हूँ — ऐसा ज्ञान नहीं किया होगा तो वह खो जाएगा। यदि इसने अन्दर में ऐसा भावश्रुतज्ञान प्रगट नहीं किया तो यह चारगति में परिभ्रमण करेगा — ऐसी बात है।

यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु! सुन तो सही! कि संसारी की पर्याय में औदयिकादि चार भाव हैं। दया, दान और राग-द्वेषादि रूप औदयिकभाव हैं, अन्दर में आंशिक शान्ति प्रगट होना औपशमिक भाव है, थोड़ा उघाड़ हो और थोड़ा उघाड़ न हो, वह क्षायोपशमिक भाव है और जो प्रगट होने के बाद कभी अभाव न हो, वह क्षायिकभाव है — इन चार भावोंरूप संसारी प्राणी परिणत हैं — ऐसा यहाँ कहते हैं। इसप्रकार व्यवहारनय का विषय है — ऐसा सिद्ध करते हैं; परन्तु वह आदरणीय नहीं है।

अहा! दया, दान, भक्ति, भगवान का स्मरण आदि जो राग है, वह समस्त औदयिकभाव है और उन रागादि परिणामों को करनेवाले अर्थात् विभावभाववाले समस्त प्राणी संसारी हैं; तो भी वे सब शुद्धनय के कथन से सिद्ध सदृश हैं। अरे! यह बात (अज्ञानी को) कैसे बैठे ? क्योंकि वह पूरे दिन स्त्री-पुत्रादि को संभालने और उनको प्रसन्न रखने तथा छह-सात घण्टे नींद में — इसप्रकार पूरे दिन पाप का धंधा करता है। अरे रे! मनुष्यपने का अवसर/समय चला जा रहा है और वह मृत्यु के समीप जा रहा है और मृत्यु का क्षण बदलनेवाला नहीं है। जो पल भगवान के ज्ञान में ज्ञात हुआ कि इस पल में यह देह छूटना है, वह छूटेगी ही। जहाँ-जिस क्षेत्र में, जिस काल में/समय में और जिस रीति से देह छूटना निश्चित हो गया है, वहाँ—उस क्षेत्र में, उस काल में और उसी रीति से एकदम देह छूट जानेवाली है और आत्मा अपनी कायम सत्ता के कारण चला जानेवाला है; परन्तु वह जाएगा कहाँ ? स्वयं ने जैसे भाव किये होंगे, वैसे भावों को साथ लेकर चला जाएगा। यदि रागादि को अपना भाव माना होगा अर्थात् दया, दान का भाव जो कि राग है; वह भी मेरा है और मुझे लाभदायक है — ऐसी मिथ्यादृष्टि (विपरीत मान्यता) होगी, तो उसे साथ लेकर, मिथ्यादृष्टिरूप रहकर चारगति में भटकने

www.vitragvani.com

चला जाएगा; परन्तु यहाँ तो उसे निकाल दिया है। (अर्थात् यहाँ मुख्यरूप से मिथ्यादृष्टि की बात नहीं है।) यहाँ तो यह कह दिया है कि औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव रूप से परिणत भी संसारी है।

प्रश्न — औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक पर्याय तो निर्मल है न ?

उत्तर — भले ही वह निर्मल हो; तो भी यहाँ कहते हैं कि उस रूप संसारी प्राणी परिणत है।

यहाँ कहा है कि भगवान आत्मा में सर्वांग में पूर्णज्ञान और आनन्द भरा है और उस दृष्टि से आत्मा को देखें तो ये औदयिक आदि चार भाव अन्दर में/आत्मा में नहीं हैं; अपितु आत्मा सिद्धसमान है। तात्पर्य यह है कि अपना त्रिकाली आत्मा सिद्धसमान है।

(अब टीकाकार मुनिराज समयसार कलश ५ को आधाररूप प्रस्तुत करते हैं।)

'यद्यपि व्यवहारनय इस प्रथम भूमिका में जिन्होंने पैर रखा है — ऐसे जीवों को, अरे रे! हस्तावलम्बनरूप भले हो........' प्रथम भूमिका में जिन्होंने पैर रखा है अर्थात् जिनको रागादि भाव हैं — ऐसे जीव; आचार्यदेव कहते हैं कि अरे रे! खेद है कि पुण्य-पाप में पड़े हैं। वे प्राणी महादुःखी हैं, चार गतियों में परिभ्रमण करनेवाले हैं। देखो न! यह करोड़पति और अरबपति हो सो मरकर सूकर होता है। इस जीव ने ऐसे अवतार अनन्तबार किए हैं। अनन्तबार यह अरबपति हुआ और वहाँ से मरकर अनन्तबार सूकर भी हुआ है। यहाँ अरबपति हो तो गन्दे पानी को छुए भी नहीं और सूकर होकर विष्ठा खाता है। अरे! अनन्त-अनन्तकाल के समय गये, काल में इसके अनन्त....अनन्त भव का कहीं अन्त नहीं है — इतने अनन्त भव इसने किये हैं।

यहाँ कहते हैं कि निमित्तरूप से व्यवहार (शुभराग) भले हो, **'तथापि जो जीव चैतन्यचमत्कारमात्र, पर से रहित ऐसे परमपदार्थ को अंतरंग में देखते हैं, उन्हें यह व्यवहारनय कुछ नहीं है।'** अहा! आत्मा चैतन्यचमत्कारमात्र है अर्थात् भगवान आत्मा ज्ञायक स्वरूप है, प्रभु आत्मा चैतन्य के प्रकाश का पिण्ड है, आत्मा चैतन्य के नूर से भरा पूर है। पानी का पूर ऐसे (तिर्यक् प्रवाहरूप) बहता है और यह चैतन्य पूर ऐसे (उर्ध्व प्रवाहरूप) ध्रुव है, अनादि-अनन्त ऐसा का ऐसा ध्रुव...ध्रुव....ध्रुवरूप रहता है। तो इस चैतन्य के नूर का पूर अन्दर प्रभु आत्मा है। परन्तु अरे! इसने कभी उसके सन्मुख देखा नहीं है।

www.vitragvani.com

आचार्यदेव कहते हैं कि अरे रे! भगवान! तू कहाँ है ? और यह क्या करता है प्रभु! इन दया, दान के विकारीभावों को अपना मानकर तू चौरासी लाख योनियों के अवतार में भटक मरा है। अब कहते हैं कि व्यवहार भले ही निमित्तरूप हो; तो भी जो जीव चैतन्यचमत्कारमात्र परमपदार्थ को अर्थात् अपने क्षेत्र में रहकर स्व और पर को पूर्णरूप से जानने के स्वभाववाले भगवान आत्मा को अंतरंग में देखता है, उसको यह व्यवहारनय कुछ नहीं है। अहा! अंतरंग में रागादि से रहित चैतन्यचमत्कारमात्र भगवान आत्मा है। देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा अपने क्षेत्र और भाव में रहकर, अपने और पर को जानने के स्वभाववाला है — यह उसका चैतन्यचमत्कार है और 'मात्र' कहने से आत्मा में चैतन्यपने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। दया, दान का विकल्प भी राग, विकार, दुःख और आकुलता है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम पुण्य हैं और वह बंध का/संसार का/परिभ्रमण का कारण है। इसप्रकार आत्मा विकल्प से रहित चैतन्य चमत्कारमात्र है। आशय यह है कि आत्मा अकेला चैतन्य....चैतन्य....चैतन्य-प्रकाश का पिण्ड है। जैसे चन्द्रमा शीतलता का पिण्ड है; वैसे ही अंदर यह प्रभु आत्मा अविकारी शीतल चैतन्य का पिण्ड है और पर से रहित है। शरीर, वाणी, मन, लक्ष्मी-धूल, स्त्री, पुत्र, परिवार तो कहीं दूर ही रह गये; परन्तु अन्दर में होनेवाले दया, दान के परिणाम भी पर हैं — ऐसा यहाँ कहते हैं और प्रभु आत्मा अन्दर में उनसे भी भिन्न है। लो, यहाँ ऐसे आत्मा को ही आत्मा कहते हैं।

अहा! अन्दर में आत्मा चैतन्य-चमत्कारिक वस्तु है। वह अपने क्षेत्र में रहकर सबको जानने-देखने के स्वभाववाला है; परन्तु किसी पर का करने या भोगनेवाला नहीं। — ऐसी जो वस्तु अपने में है, वह भगवान आत्मा परमपदार्थ है और जो जीव अंतरंग में उस परमपदार्थ को देखता है, वह समकिती है। लो, समकिती अन्तर में आत्मा को इसप्रकार देखता है — यह कहते हैं। अहा! श्रावक तो पंचमगुणस्थान में होता है और उसकी बात तो कोई अलौकिक है; परन्तु यह तो अभी श्रावक होने के पूर्व जिसको चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन हुआ है, वह समकिती आत्मा को अंतरंग में परमपदार्थरूप देखता है — यह कहते हैं। परमपदार्थ अर्थात् ? जो सनातन सत्य ज्ञायकमूर्ति प्रभु आत्मा है, वह परमपदार्थ है और उसको पर की ओर का लक्ष्य छोड़कर सम्यग्दृष्टि अंतरंग में देखता है। उस सम्यग्दृष्टि को व्यवहारनय कुछ नहीं है अर्थात् उसको व्यवहारनय का कोई काम नहीं है। (हाँ), व्यवहारनय का विषय है, पर्याय में राग है,

www.vitragvani.com

पर्याय के भाव हैं; परन्तु अन्तर आत्मा में देखने पर वहाँ वे रागादि कुछ नहीं हैं तथा व्यवहारनय का विषय आत्मा को जरा भी शरणरूप नहीं है; क्योंकि दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि समस्त राग-विकारभाव दु:खरूप और अशरण हैं। शरणरूप तो अंतरंग में रागादि से भिन्नरूप विराजमान भगवान आत्मा है। कड़क बात है प्रभु!

अहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता — यह जैन परमेश्वर की बात सुनना भी कठिन पड़े ऐसी है। यह बात तो त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वर ही कहते हैं। देखो, यह एक अँगुली दूसरी अँगुली को स्पर्श नहीं करती; क्योंकि उनका एक-दूसरे में अभाव है। इसीतरह एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को कभी स्पर्श नहीं करता; क्योंकि अन्दर में एक-दूसरे में अभाव है। ऐसे वस्तुस्वरूप को देखनेवाले को व्यवहारनय कुछ नहीं है। मतलब कि उसकी पर्याय में राग है और व्यवहार है — ऐसी कोई गिनती नहीं है। कड़क बात है भाई! अहा! एक तो यह बात ही सुनने को नहीं मिलती। अन्य सब जगह तो गड़बड़ हो गई है। कोई यह सत्य बात कहे तो अज्ञानी कहता है कि 'यह एकान्त है.....एकान्त है...निश्चय है....' ठीक प्रभु! (तुझे उचित लगे वैसा कह, परन्तु वस्तु तो ऐसे ही है।) अहा! महाविदेह में जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ प्रभु सीमन्धरस्वामी आदि बीस तीर्थंकर भगवंत और लाखों केवली विराजमान हैं और वहाँ से यह वाणी आई है। दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द दो हजार वर्ष पूर्व संवत् ४९ में वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे और वहाँ से आकर इन शास्त्रों की रचना की है। वे कहते हैं कि त्रिलोक के नाथ का कथन तो यह है, परमात्मा का फरमान तो यह है। यहाँ यह कहा है कि जो अन्दर में आत्मा को राग और पर्यायरहित शुद्ध पूर्णानन्दमय देखता है, उसको व्यवहारनय कुछ नहीं है अर्थात् उसको व्यवहारनय की कुछ गिनती नहीं है। लो, सुनने में भी कठिन पड़े ऐसी बात है।

अहा! सारे दिन इसका परद्रव्य के साथ ही सम्बन्ध है और यहाँ कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। यह बात कैसे बैठे ? किन्तु यह तो त्रिलोक के नाथ का फरमान है। भगवान के अनन्त द्रव्य जाने हैं। अनन्त आत्माएँ, अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु आदि जाति अपेक्षा से छहद्रव्य और संख्या अपेक्षा से अनन्त द्रव्य जाने हैं। अब ये अनन्त द्रव्य अनन्तरूप किस तरह रह सकते हैं ? कि यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श/चुम्बन नहीं करे तो; क्योंकि यदि ऐसा नहीं होगा तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

के भावरूप (अस्तिरूप) हो जाएगा। एक द्रव्य का भाव दूसरे द्रव्य के भावरूप हो जाए तो वे एक-दूसरे में भावरूप हों; परन्तु उनका एक-दूसरे में तो अभाव है। (इसकारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता होने से द्रव्य अनन्तरूप रहते हैं।) अरे! यह बात बैठना बहुत कठिन है।

यहाँ तो कहा है कि जो कोई चैतन्यचमत्कारमात्र और पर से रहित भगवान आत्मा को अंतरंग में देखता है, उसको व्यवहारनय कुछ है ही नहीं। अहा...! चैतन्यचमत्कारमात्र अर्थात् जानन........जानन......जाननस्वभाव। ऐसे जाननहार स्वभाव का पूर जिसमें भरा है — ऐसे चैतन्यचमत्कारमात्र को देखनेवाला अंतरंग में परमपदार्थ को देखता है और उसको व्यवहारनय कुछ गिनती में नहीं है। हाँ, व्यवहारनय का विषय है — ऐसा वह जानता है; परन्तु उसको आदरणीय नहीं मानता। लो, वीतराग का मार्ग ऐसा है।

कलश ७३ पर प्रवचन

'शुद्ध निश्चयनय से मुक्ति में तथा संसार में अन्तर नहीं है।' शुद्धनिश्चयनय से अर्थात् परमार्थदृष्टि से/वस्तु के सनातन स्वभाव की दृष्टि से मुक्ति में तथा संसार में अन्तर नहीं है। अहा! सनातन सत्य वस्तु आत्मा में एकसमय की पर्याय भी नहीं है। ऐसी त्रिकाली अखण्ड आनन्दमय पूर्ण आत्मवस्तु की/अनादि अनन्त शुद्धसत्ता एकरूप आत्मवस्तु की दृष्टि से मुक्त अवस्था में और संसार अवस्था — दोनों में कोई अन्तर नहीं है। आत्मवस्तु सनातन सत्तत्त्व है, जबकि उसकी मुक्त और संसार — दोनों अवस्थाएँ पर्यायनय का/व्यवहारनय का विषय है, इसलिए वे दोनों दशाएँ समान हैं अर्थात् उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अहा! कहाँ निगोद की दशा और कहाँ सिद्ध की दशा ? फिर भी कहते हैं कि शुद्ध निश्चयनय से अर्थात् अन्तर के वस्तुस्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो उन दशाओं में कोई अन्तर नहीं है। त्रिकाली सहजात्मस्वरूप की दृष्टि से देखा जाए तो मुक्ति में और संसार में अन्तर नहीं है। यह सुनकर किसी को ऐसा लगता है कि यह क्या कहते हैं ? (यह कैसी बात करते हैं कि मुक्ति और संसार में अन्तर नहीं है ?) इसलिए अब कहते हैं कि भाई!

'ऐसा ही वास्तव में, तत्त्व विचारने पर (परमार्थ वस्तुस्वरूप का विचार अथवा निरूपण करने पर) शुद्धतत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं।' अहा! वास्तव में, ज्ञायकतत्त्व को विचारने पर अर्थात् ज्ञायकस्वभावमय त्रिकाली/नित्य आत्मवस्तु को

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

विचारने पर द्रव्यस्वभाव के अर्थात् त्रिकाली स्वभावभाव के रसिक पुरुष मुक्ति और संसार में कोई अन्तर नहीं कहते। अहा! त्रिकाली वस्तुस्वरूप को देखने पर, वस्तुस्वभाव को देखने पर अर्थात् सनातन सत् एकरूप ध्रुव की दृष्टि से देखने पर तो मुक्ति/सिद्ध अवस्था और संसारी अवस्था — इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

***प्रश्न* —** यह बात अवस्थादृष्टि से है या द्रव्यदृष्टि से ?

***उत्तर* —** द्रव्यदृष्टि से; और द्रव्यदृष्टि कहो या शुद्ध निश्चयनय कहो — दोनों एक ही हैं। यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली ज्ञायकभाव की दृष्टि से देखने पर दोनों पर्याय में, संसार और मुक्ति में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वे दोनों पर्यायें व्यवहारनय का विषय हैं। वे दोनों पर्यायें हैं अवश्य; परन्तु व्यवहारनय का विषय हैं। अहा! शुद्ध निश्चयनय का विषय एकरूप प्रभु आत्मा है। वह सनातन अर्थात् अनादि-अनन्त ऐसा जो त्रिकाल एकरूप रहनेवाला आत्मतत्त्व है। उसकी दृष्टि से देखने पर मुक्त और संसार में कोई अन्तर नहीं दिखता; क्योंकि वे दोनों पर्याय हैं।

अब अज्ञानी को यह बात कैसे बैठे ? क्योंकि कहाँ तो निगोद के अनन्तानन्त जीव, जो कि कभी बाहर नहीं निकलना है और कहाँ सिद्ध ? फिर भी यहाँ कहते हैं कि वे दोनों — निगोद की पर्याय और सिद्ध की पर्याय व्यवहारनय का अर्थात् पर्यायनय का विषय है; इसकारण त्रिकाल ज्ञायक की दृष्टि से देखने पर मुक्ति और संसार में कोई अन्तर नहीं है। यद्यपि वे पर्यायें हैं अवश्य — ऐसी बात है।

अहा! निगोद की पर्याय में अनन्त-अनन्त जीव हैं। कन्दमूल के एक टुकड़े में असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में जो अनन्त जीवों की संख्या है उसके अनन्तवें भाग जीव मुक्ति को प्राप्त हैं। इसप्रकार सिद्ध से अनन्त-अनन्तगुने जीव संसार में रह गये हैं। यह सब भेद पर्याय में है, जबकि वस्तु-आत्मा तो सनातन भगवान ही है। (वस्तुरूप से तो सभी आत्माएँ भगवानस्वरूप ही हैं) अर्थात् व्यवहारदृष्टि से जो अन्तर है, वह निश्चयदृष्टि में नहीं है; क्योंकि वस्तु की दृष्टि से देखने पर आत्मवस्तु में पर्याय नहीं है, फिर भले ही वह पर्याय संसारपर्याय हो या सिद्धपर्याय हो और ऐसी दृष्टि हुए बिना पूर्ण सत् का स्वीकार हो ही नहीं सकता।

पर्याय एकसमय की है। भले ही मुक्ति की पर्याय हो; तो भी वह पर्याय है, इससे

एकसमय की है और वह पर्याय एक के बाद एक होती है। जबकि यह आत्मवस्तु तो अनादि-अनन्त एकरूप रहनेवाली चीज है। अतः उस त्रिकाली वस्तु की अपेक्षा से अर्थात् उसकी दृष्टि से देखने पर एकसमय की मुक्तपर्याय या एकसमय की संसारपर्याय व्यवहारनय का विषय होने से दोनों में कोई अन्तर नहीं हैं। ये दोनों पर्यायें एकसमय की ही हैं। 'ऐसा ही वास्तव में' देखो, कलश में है कि '**एवमेव खलु.....**' ऐसा ही वास्तव में तत्त्व का, पूर्णानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का विचार करने पर अर्थात् ज्ञान करने पर अथवा कथन करने पर शुद्धतत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं।

अहा! शुद्धतत्त्व के रसिक अर्थात् जिनको निमित्त का रसिकपना तो नहीं, राग का रसिकपना तो नहीं; किन्तु पर्याय का रसिकपना भी नहीं है। अहा! किसी भी संयोगी वस्तु का — अरे! साक्षात् भगवान संयोगरूप हों तो उनके भी-रसिकपने भी बात यहाँ नहीं है। (यहाँ तो जो शुद्धतत्त्व के रसिक हैं उनकी बात है।) और वे रसिक पुरुष कहते हैं कि परमार्थ से आत्मा में बंध और मोक्ष नहीं है; क्योंकि वह बंध और मोक्ष तो पर्याय है। ●

''मुझे ज्ञानवन्त को यह विषयाशारूप शत्रु कुछ भी नहीं कर सकता।'' इसप्रकार के ज्ञानमद से उन्मत्त होकर उस आशारूपी शत्रु से किंचित् भी उपेक्षित रहना योग्य नहीं है। तीनों लोकों को जिसने वश में कर रखा है - ऐसे आशारूपी शत्रु को अल्प गिनना योग्य नहीं है। तीन जगत का महा भयंकर तथा अद्वितीय शत्रु वही है। उसे तो सम्यक्प्रकार से विचार कर-करके मूल से सर्वथा क्षीण करना चाहिए।

देखो, अनन्त और अगाध समुद्र में रहा हुआ वडवानल महान समुद्र को भी बाधा उत्पन्न करता है अर्थात् शोषण करता है, उसीप्रकार छोटी-सी विषयाशा आत्मा के अगाध ज्ञानसमुद्र को भी मलिन करती है, आवरण करती है, उससे तो निरन्तर सावधान रहना चाहिए तथा जगत में भी देखा जाता है कि जिसको शत्रु ने दबा रखा हो, उसे शान्ति कहाँ से होगी ?

- श्री आत्मानुशासन

नियमसार गाथा–५०

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा॥५०॥

पूर्वोक्तसकलभावाः परद्रव्यं परस्वभावा इति हेयाः।
स्वकद्रव्यमुपादेयं अन्तस्तत्त्वं भवेदात्मा॥५०॥

(हरिगीत)

पर-द्रव्य हैं परभाव हैं पूर्वोक्त सारे भाव ही।
अतएव हैं ये त्याज्य, अन्तस्तत्त्व हैं आदेय ही॥५०॥

गाथार्थ :— पूर्वोक्त सर्व भाव पर स्वभाव हैं, परद्रव्य हैं, इसलिए हेय हैं, अन्तःतत्त्व ऐसा स्वद्रव्य–आत्मा उपादेय है।

टीका :— यह, हेय–उपादेय अथवा त्याग–ग्रहण के स्वरूप का कथन है।

जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं, वे पहले (४९वीं गाथा में) व्यवहारनय के कथन द्वारा उपादेयरूप से कही गई थीं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय के बल से (शुद्धनिश्चयनय से) वे हेय हैं। किसकारण से ? क्योंकि वे परस्वभाव हैं और इसीलिए परद्रव्य हैं। सर्वविभाव–गुणपर्यायों से रहित शुद्ध–अन्तःतत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य उपादेय है। वास्तव में सहजज्ञान–सहजदर्शन–सहजचारित्र–सहजपरमवीतरागसुखात्मक शुद्ध–अन्तःतत्त्वस्वरूप इस स्वद्रव्य का आधार सहजपरमपारिणामिकभावलक्षण (सहज परम पारिणामिक भाव जिसका लक्षण है ऐसा) कारणसमयसार है।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद्अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में १८५ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

(शार्दूलविक्रीडित)

''सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्ध चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्॥
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा–
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि॥''

www.vitragvani.com

(वीरछन्द)

हे उदात्तचित् चरित् मुमुक्षु ! यह सिद्धान्त करो सेवन।
शुद्ध एक चैतन्यमात्र घन हूँ सदैव मैं ज्योति परम॥
यह जो मुझसे सदा विलक्षण विविध विभाव प्रगट होते।
इन स्वरूप मैं नहीं कभी भी मेरे लिए सभी पर ये॥

श्लोकार्थ :— जिनके चित्त का चरित्र उदात्त (उदार, उच्च, उज्ज्वल) है ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करो कि मैं तो शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही सदैव हूँ; और यह जो भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सब मुझे परद्रव्य हैं।

और (इस ५०वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) —

(शालिनी)

न ह्यस्माकं शुद्धजीवास्तिकाया-
दन्ये सर्वे पुद्‌गलद्रव्यभावाः।
इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदी
सिद्धिं सोऽयं याति तामत्यपूर्वाम्॥७४॥

(वीरछन्द)

शुद्ध जीव से अन्य सभी पुद्‌गलमय भाव नहीं मेरे।
तत्त्वविज्ञ जो यह कहते वे अति अपूर्व सिद्धि पाते॥७४॥

श्लोकार्थ :— ''शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य ऐसे जो सब पुद्‌गलद्रव्य के भाव, वे वास्तव में हमारे नहीं हैं'' — ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से कहते हैं, वे अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं॥७४॥

गाथा ५० पर प्रवचन

श्री नियमसार की यह ५०वीं गाथा जरा कड़क है, सख्त है। यहाँ तो क्षायिकभाव को भी व्यवहारनय के विषय में ले लिया है। ज्ञायकभावरूप परमपारिणामिकभाव की अपेक्षा से औदयिकभाव और क्षायिकभाव — दोनों व्यवहारनय का विषय है; परन्तु वे कोई निश्चयनय के विषय में नहीं आते। (इसकारण उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है।) ऐसा सूक्ष्म है! दूसरे प्रकार से कहें तो एक ओर एक ही प्रभु आत्मा है और दूसरी

www.vitragvani.com

ओर विकल्प-पर्याय से लेकर सब है, जो कि लोक में और पर में जाता है। इसकारण एक स्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि में उसकी दो जाति की पर्यायों में भी अन्तर नहीं है; तब फिर प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग में अन्तर है — ऐसा कैसे हो सकता है ? ऐसा है ही नहीं। (अर्थात् अन्तर नहीं है।)

गाथा ५० की टीका पर प्रवचन

'यह हेय-उपादेय अथवा ग्रहण-त्याग के स्वरूप का कथन है।' — यह छोड़नेयोग्य और आदर करनेयोग्य के स्वरूप का कथन है।

'जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं वे पहले (४९वीं गाथा में) व्यवहारनय के कथन द्वारा उपादेयरूप से कही गई थीं; किन्तु शुद्धनिश्चयनय के बल से (शुद्धनिश्चयनय से) वे हेय हैं।'

जो कोई विभावगुणपर्यायें अर्थात् चार भाव। (१) नरकादि गति आदि का औदयिकभाव, (२) समकित आदि का औपशमिकभाव, (३) मतिज्ञानादिक का क्षायोपशमिकभाव और (४) केवलज्ञानादिक का क्षायिकभाव — ये सब विभावगुणपर्यायें हैं। जबकि त्रिकाली आत्मा सहज सनातन सत् है, जिसमें कोई घालमेल (मिलावट) नहीं है तथा जिसमें उपजना या विनशना — ऐसा भी कुछ नहीं है। यहाँ कहते हैं कि औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — इन चारों भावों को ४९वीं गाथा में जाननेयोग्य उपादेय कहा गया था। उसका कारण यह है कि वे अस्तिरूप हैं अर्थात् वे 'हैं' — ऐसा जाननेयोग्य है; परन्तु आदर करनेयोग्य नहीं। इसप्रकार ४९वीं गाथा में उन चारों भावों को जानने के लिए उपादेय कहा गया था, परन्तु अब कहते हैं कि अन्तरदृष्टि के बल से वे हेय हैं अर्थात् आदर करनेयोग्य नहीं है। ध्रुवस्वरूप शाश्वत टंकोत्कीर्ण भगवान आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप स्वभाव है उसकी दृष्टि से, जिनको व्यवहारनय के कथन द्वारा उपादेय कहा गया था, वे सब चारों भाव हेय हैं।

अभी अज्ञानी को तो शुभराग को हेय मानना कठिन पड़ता है। दया, दान, व्रत, भगवान की भक्ति, पूजा, नाम-गुण स्मरण आदि का जो राग-व्यवहार है — उसको हेय मानना अज्ञानी को कठिन पड़ता है और अज्ञानी व्यवहार-राग को हेय माननेवाले को मिथ्यादृष्टि मानता है। जबकि यहाँ तो कहते हैं कि पूर्व में औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — ऐसे जो चार भाव कहे थे, वे सब शुद्धनिश्चयनय के

www.vitragvani.com

बल से हेय हैं। अकेले ज्ञायकभाव के अवलम्बन में इन चारों भावों का अवलम्बन नहीं है। इसलिए इस अपेक्षा से ये चारों भाव हेय हैं। तात्पर्य यह है कि ये चारों भाव आश्रय करनेयोग्य नहीं हैं। यद्यपि ज्ञानी को भी शुभराग — दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजादि का भाव होता है; परन्तु वह आदर करनेयोग्य नहीं है; क्योंकि वह भाव मलिन है। जब निर्मलभाव को भी हेय कहा है तो फिर मलिनभाव हेय है — यह बात तो कहीं रह गई! (अर्थात् मलिनभाव तो हेय है ही।)

अहा! मलिनभाव (औदयिकभाव) तो आदर करनेयोग्य नहीं है; परन्तु तदुपरांत अब ऐसा कहते हैं कि जो औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव है, जो कि निर्मलभाव हैं, वे भी हेय हैं। लो, निर्मलज्ञानमय केवलज्ञान आदिरूप जो अनन्तचतुष्टय की पर्याय प्रकट होती है वह पर्याय भी निश्चयनय की दृष्टि से हेय है — ऐसा यहाँ कहते हैं। अरे! अज्ञानी को तो अभी शुभराग छोड़नेयोग्य है — ऐसा सुनना कठोर लगता है। परन्तु भाई! त्रिकाली आत्मवस्तु के एकरूप रहनेवाले चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो वे (पर्याय के) शुद्ध और अशुद्ध दोनों भाव हेय हैं, छोड़नेयोग्य हैं, निषेध करनयोग्य है। अहा! यह ५०वीं गाथा बहुत ऊँची है।

अहा! भगवान आत्मा एक ही समय में परिपूर्ण प्रभुरूप विराजमान है। परिपूर्ण आनन्द, परिपूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण स्वच्छता, परिपूर्ण श्रद्धा, परिपूर्ण शान्ति-उपशम रस आदि परिपूर्णभाव से वह भरा पड़ा है। उसके ऐसे त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो बंध और मोक्ष की दोनों पर्यायें हेय हैं। अरे! केवलज्ञान और केवलदर्शन भी हेय है; क्योंकि साधक को केवलज्ञान नहीं है और जो पर्याय नहीं है, उसका लक्ष्य करने जाएगा तो राग होगा। अहा! भाई! आज कड़क विषय है। अरे! अज्ञानी तो झगड़ा-विवाद करता है कि निमित्त से कार्य होता है और निमित्त से कार्य नहीं होना माननेवाला एकांतिक मिथ्यादृष्टि है — इसप्रकार अज्ञानी कहता है। अरे! जगत कहाँ रुका हुआ है ? यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि निमित्त तो कहीं एक ओर रहा अर्थात् निमित्त से बंध और मोक्ष होता है — ऐसा तो है ही नहीं। क्योंकि बंध और मोक्ष तो अपनी योग्यता से होता है। अब अपनी योग्यता से होनेवाले बंध और मोक्ष को भी यहाँ त्रिकाली आत्मा की दृष्टि से हेय कहा है। कारण कि अन्तर्मुख दृष्टि करने पर, उसमें वे नहीं आते। वे आश्रय करनेयोग्य नहीं हैं, इसलिए वे चारों ही भाव हेय हैं। गजब बात है!

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

तथा अज्ञानी ऐसी बात भी करता है कि ऐसा तो सोनगढ़वाले ही कहते हैं; परन्तु भाई! यह नियमसार क्या सोनगढ़ का सूत्र है ? यह तो श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव का है; और वे कहते हैं कि यह नियमसार तो मैंने अपने लिए बनाया है। यद्यपि उन्होंने दूसरे शास्त्रों की प्ररूपणा भी की है; परन्तु 'यह नियमसार तो मैंने अपने लिए बनाया है' — ऐसा वे कहते हैं। तो ये पंचमकाल के साधु श्री कुन्दकुन्दाचार्य पंचमकाल के प्राणी को, श्रोता को — ऐसा कहते हैं कि चारों ही भाव हेय हैं। गजब बात है!

अहा! आठ वर्ष की बालिका हो या कोटि पूर्व की आयुवाला पुरुष हो; तैंतीस सागर की आयुवाला देव हो या अन्तर्मुहूर्त की स्थितिवाला निगोद का जीव हो — ये सब पर्यायें (पर्यायों के भेद) हैं और ये सब पर्यायें त्रिकाली ज्ञायकभाव की अपेक्षा से हेय हैं, छोड़नेयोग्य हैं; लक्ष्य करनेयोग्य नहीं हैं, सन्मुखता करनेयोग्य नहीं हैं, शरण करनेयोग्य नहीं हैं, उत्तम माननेयोग्य नहीं है — ऐसी बात है।

यहाँ कहते हैं कि शुद्धनिश्चयनय के बल से चारों ही भाव हेय हैं। यद्यपि जबतक ज्ञानी पूर्ण वीतराग न हो, तबतक उसको औदयिकभाव/राग और दुःख-होता है; तथापि वह हेय है — ऐसा यहाँ कहते हैं। देखो, महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान साक्षात् विराजमान हैं; तथापि वहाँ जन्म नहीं हुआ और जहाँ भगवान का विरह है ऐसे यहाँ जिसका जन्म हुआ है — ऐसे अल्प पुण्य को लेकर आए पंचमकाल के प्राणियों को परमात्मा की वाणी ऐसा कहती है कि राग-शुभराग भी हेय है, छोड़नेयोग्य है। परमात्मा की वाणी कहती है कि प्रभु! अन्दर में एकरूप आत्मवस्तु है। तेरी वर्तमान पर्याय-अवस्था त्रिकाली एकरूप वस्तु पर जाए, आत्मवस्तु का लक्ष्य करे — इस अपेक्षा से यह एक आत्मवस्तु ही आदरणीय है और जो पर्याय आत्मवस्तु पर जाती है, वह पर्याय भी लक्ष्य करनेयोग्य नहीं है, इस अपेक्षा से हेय है — ऐसा हम कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो पर्याय/अवस्था अन्तर में त्रिकाली ज्ञायकभाव पर जाती है, वह पर्याय भी हेय है। यद्यपि स्वद्रव्य का आश्रय करती है पर्याय; तथापि वह पर्याय भी हेय है। जबकि उस पर्याय का विषय जो त्रिकाली अखण्डानन्द प्रभु आत्मा है, वह उपादेय है। सनातन ज्ञानघन, ज्ञान का हीरा ऐसा जो चैतन्य प्रभु भगवान आत्मा है, उसकी दृष्टि में आत्मा में स्वीकार करनेवाली दृष्टि भी हेय है। गजब बात है! अरे! ऐसी बात अन्यत्र कहाँ है ? क्या पहले यह बात कान में पड़ी थी ? सुनी थी ?

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

श्रोता — ऐसी बात अन्यत्र तो पहले भी नहीं थी और अभी भी नहीं है। सम्पूर्ण भारत में यह बात कहाँ थी ?

पूज्य गुरुदेवश्री — बहुत कड़क बात है बापा! कड़क अर्थात् अपूर्व। अहा! कहते हैं कि एकस्वरूप विराजमान पूर्णानन्द के नाथ आत्मा को अनेकपने का आरोप नहीं देना; क्योंकि त्रिकाली भगवान आत्मा में अनादि-सांत ऐसे संसार का और सादि-अनन्त ऐसे मोक्ष — दोनों का अभाव है। इसकारण इस त्रिकाली आत्मा की अपेक्षा वे संसार और मोक्ष दोनों हेय हैं। लो, टीका में बहुत संक्षिप्त कर दिया है; परन्तु उसका विस्तार यह है।

अहा! (प्रवाह अपेक्षा से) संसारपर्याय अनादि-सांत है और मोक्षपर्याय सादि-अनन्त है। तथापि वे दोनों पर्यायें हैं, इसलिए उनकी अवधि एकसमय की ही है। भले ही मोक्ष (प्रवाह अपेक्षा से) सादि-अनन्तकाल रहे, तो भी उसकी अवधि एकसमय की है। इसप्रकार बंध तथा मोक्ष की अवधि एकसमय की है। तात्पर्य यह है कि यह बंध की पर्याय भी एकसमय की है और उसका अभाव होकर दूसरे समय जो मोक्ष की पर्याय होती है। वह भी एकसमय की मर्यादावाली है।

क्या कहा ? कि 'क' बोलने में असंख्य समय लगते हैं। उसमें के एकसमय जितनी स्थिति राग के बंध की (संसार की) हैं कि जो प्रवाहरूप अनादि से अज्ञानरूप है। वह बंध रूपान्तर होकर, उसका अभाव होकर मोक्ष होता है तो उसकी स्थिति भी एकसमय की है। अब कहते हैं कि यह संसार भले ही अनादि-सांत हो और यह मोक्ष भी भले ही सादि-अनन्तकाल रहे; तथापि ये दोनों आत्मवस्तु के स्वरूप में नहीं है। लो, मुम्बई में यह कहाँ सुनने मिलता है ? वहाँ तो पूरे दिन पैसा-धूल की बात होती है। अरे! मुम्बई में तो क्या, यहाँ देश में भी यह बात सुनने मिलना कठिन है।

देखो न, अज्ञानी यहाँ का कितना विरोध करता है कि निमित्त से कार्य होता है। निमित्त से कार्य होना नहीं माननेवाला एकान्ती मिथ्यादृष्टि है — ऐसा अज्ञानी कहता है। परन्तु बापू! प्रत्येक द्रव्य पर्याय सहित ही होता है। क्या कोई द्रव्य किसी समय पर्याय रहित होता है ? क्या तीनकाल में भी कोई द्रव्य पर्यायरहित होता है ? (नहीं होता।) तो फिर वह पर्याय दूसरा द्रव्य करे — यह कहाँ से आया ? इसलिए पर से पर्याय नहीं होती, किन्तु स्वयं से ही होती है अर्थात् राग में अटकनेरूप बंधपर्याय और

www.vitragvani.com

केवलज्ञान होनेरूप मोक्षपर्याय भी अपने से होती है; परन्तु यहाँ तो उस पर्याय को भी उड़ा देते हैं और कहते हैं कि वह हेय है।

अहा! एकसमय में बंध और मोक्ष का अन्तर पड़ जाता है अर्थात् पहले समय बंध हो और दूसरे समय में उसका अभाव होकर मोक्ष प्रगट होता है; परन्तु वे दोनों (बंध और मोक्ष) एकसमय की स्थितिवाले हैं, इसलिए उनको त्रिकाली स्थितिवाले आत्मद्रव्य की अपेक्षा से हेय और छोड़नेयोग्य कहा गया है।

'किसकारण से ?' अब वे (विभाव गुण-पर्यायें) हेय हैं, उसका कारण देते हैं। वे किसकारण से हेय हैं, वह कहते हैं।

'क्योंकि वे परस्वभाव हैं।' गजब गाथा है! अहा! राग, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम तो विकार और परस्वभाव हैं ही; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि केवलज्ञान भी परस्वभाव है, त्रिकाली स्वभाव नहीं। जैसे राग की एकता का भाव परभाव/परस्वभाव है; वैसे ही मुक्ति की पर्याय भी परस्वभाव है। गजब बात है प्रभु! अरे! ऐसी बात कान में पड़ना भी मुश्किल है। अहा! आचार्य महाराज कहते हैं कि मैंने तो अपने लिए नियमसार बनाया है। (उसमें यदि तुझे सुनने मिले तो) तू सुन और तुझे बैठे तो बैठा बापू! परन्तु इसका अनादर मत करना। क्या सत्य ऐसा कठिन है ? बापू! ऐसा मानकर उसका अनादर मत कर; क्योंकि भाई! तेरा नाथ भगवान आत्मा ही ऐसा (महान) है कि उसकी कीमत के समक्ष एकसमय की पर्याय की भी कीमत नहीं है। त्रिकाली ध्रुव की कीमत के समक्ष केवलज्ञान की एकसमय की पर्याय की भी कीमत नहीं है।

अरे! (ऐसा स्वरूप होने पर भी) अज्ञानी ऐसे विवाद करता है कि क्या गुरु की भक्ति आदरणीय/करनेयोग्य नहीं है ? भगवान! सुन बापू! भक्ति का भाव आता है, शुभभाव होता है; परन्तु वह दुःखरूप है। इसकारण वह छोड़नेयोग्य है, आश्रय करनेयोग्य नहीं तथा उसका अभाव होकर जो आनन्दरूप दशा होती है-द्रव्यस्वभाव में जो आनन्द है, वह प्रगट होता है — यहाँ तो कहते हैं कि वह भी हेय है।

अहा! भगवान आत्मा अनादि-अनन्त आनन्द की मूर्ति है, जिसमें एकसमय के लिए भी दुःख या आकुलता नहीं है। जबकि शुभभाव तो आकुलतामय है। अरे! भले ही तीर्थंकर नामकर्म बाँधने का शुभभाव हो; तो भी प्रभु! वह दुःखरूप है। क्योंकि प्रभु आत्मा आनन्दस्वभाव है और शुभभाव उससे विरुद्ध है। यहाँ कहते हैं कि वह संसार

www.vitragvani.com

की आकुलता की पर्याय है और दूसरे समय उसका अभाव होकर जो निराकुलता प्रगट होती है, वह भी पर्याय है। ये दोनों आकुलता की पर्याय और उसका अभाव होकर प्रगट होनेवाली निराकुलता की पर्याय, त्रिकाल निराकुल आनन्दस्वरूप आत्मा के समक्ष हेय है। किसकारण से ? कि वह परस्वभाव है। गजब बात है! लो, ऐसी बात है, इसलिए लोग तो सोनगढ़ के नाम से यही कहते हैं कि सोनगढ़वाले व्यवहार को उड़ाते हैं। व्यवहार से लाभ होना नहीं कहते और अकेले निश्चय की ही बात करते हैं। कहें, बिचारे कहें; क्योंकि उनको जैसा बैठा होगा वही तो कहेंगे न ? जो बैठा हो वह आत्मा अर्थात् जैसा अभिप्राय बैठा हो वैसा ही आत्मा पर्याय में हो गया होता है, इसलिए अब वे करें भी क्या ?

अहा! बंध और मोक्ष, उत्पाद और व्यय मात्र एकसमय का है, इसलिए बंध का व्यय और मोक्ष का उत्पाद होता है वह भी एकसमय की स्थिति है। भले ही दूसरे समय मोक्ष (ऐसा का ऐसा) रहे; तो भी उसकी मर्यादा एकसमय की ही है और भगवान आत्मा तो त्रिकाली है, जिसमें उपजना-विनशना है ही नहीं। अहा..! भगवान आत्मा त्रिकाल मुक्तस्वरूप है। अरे! उसको 'मुक्त' कहना भी अपेक्षित बात है; क्योंकि उसको कोई बंध की अपेक्षा थी और फिर उससे छूटा — ऐसा भी नहीं है; परन्तु वह तो त्रिकाल मुक्तस्वरूप ही है। कड़क लगे ऐसा है! यदि कोई अपरिचय (तत्त्व से अपरिचित) वाला व्यक्ति यह प्रवचन पहली-पहली बार ही सुनें तो उसे ऐसा लगता है कि क्या यह जैनधर्म है ? क्या जैनधर्म ऐसा होगा ? ऐसा जैनधर्म कहाँ से निकाला ?

यहाँ कहते हैं कि पर्याय है, उसमें बंध भी है और मोक्ष भी है; परन्तु वे दोनों — बंध और मोक्ष एकसमय की मर्यादावाले हैं। अरे! केवलज्ञान भी एकसमय रहता है और दूसरे समय दूसरा केवलज्ञान होता है। जबकि अन्दर जो भगवान आत्मा है, वह तो त्रिकाल/अनादि-अनन्त एकरूप रहता है। आत्मा सनातन टंकोत्कीर्ण वस्तु है। जैसे टाँकी से एकाकार मूर्ति निकली हो; वैसी ही त्रिकाल चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा एकाकार वस्तु है। उसका आदि-अन्त नहीं है तथा उसको उपजना या व्यय होना भी नहीं है। अर्थात् उसमें उत्पाद-व्यय का अभाव है। यद्यपि (उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य) तीनों को सत् कहा जाता है। '**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।**' उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य — ये तीनों ही सत् हैं — ऐसा तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय-५, सूत्र ३०) में कहा है; परन्तु वह उत्पाद

www.vitragvani.com

और व्यय एकसमय का सत् है और ध्रौव्यस्वरूप प्रभु आत्मा अनादि-अनन्त नित्य सत् है। (इसलिए उस ध्रौव्यस्वरूप प्रभु आत्मा पर दृष्टि दे।)

अरे रे! जो इस दुनिया की माथापच्ची में पड़ा है, उसको यह बात कैसे बैठे ? अज्ञानी पूरे दिन स्त्री, पुत्र, व्यापार धंधे की माथापच्ची में पड़ा है — वहाँ यह बात कैसे बैठे ? यहाँ प्रभु कहते हैं कि तेरे में मुक्ति भी नहीं है, क्योंकि मुक्ति की पर्याय एकसमय की है और इसलिए दूसरे समय मुक्ति की दूसरी पर्याय होती है और तीसरे समय उसकी तीसरी पर्याय होती है। इसप्रकार, भले ही वह मुक्ति की पर्याय है तो भी, उसके टिकने का काल एकसमय ही है। जबकि तेरा एकाकी ज्ञायकस्वभाव तो त्रिकाली सत् है कि जिसमें न्यूनाधिकता अर्थात् हीनपना या अधिकपना नहीं है तथा उत्पाद-व्यय भी नहीं है। उसमें तो त्रिकाल एकरूपता है। भगवान कहते हैं कि ऐसे त्रिकाली सत् स्वरूप की दृष्टि कर। अहा! ५०वीं गाथा में तो गजब किया है।

श्रोता — आपने (उसका अर्थ समझाकर) गजब किया है!

पूज्य गुरुदेवश्री — प्रभु! तू कौन है ? और प्रभु! तुझे कहाँ दृष्टि देना है ? जो सनातन एकरूप रहे वहाँ दृष्टि देना है या जो बदले वहाँ दृष्टि देना है ? जो बदलता है वहाँ दृष्टि देना हो तो, वह बदलता तत्त्व तो पलट जाएगा, व्यय हो जाएगा (और इससे दृष्टि किसके आधार पर टिकेगी ?) तथा वह व्यय ध्रौव्य में पारिणामिकभाव में जाएगा। इसलिए बदलते तत्त्व की अर्थात् उत्पाद-व्यय की दृष्टि छोड़ दे। यद्यपि है तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-तीनों ही सत्, तथापि ज्ञानी की दृष्टि एक ध्रौव्य सत् पर ही होती है। वह दृष्टि करनेवाला तो उत्पाद ही है। अर्थात् दृष्टि जिसको हेय मानती है, वह उत्पाद ही दृष्टि करनेवाला है। उत्पाद-व्यय को जो हेय मानता है, वह है तो उत्पाद (पर्याय) ही। अहा! उत्पाद-व्यय हेय है — ऐसा कौन मानता है ? पर्याय मानती है या कोई अद्धर से (जिसका अस्तित्व नहीं है वह) मानता है। पर्याय मानती है। (तथापि पर्याय का विषय जो ध्रौव्य है, उसकी दृष्टि कर — ऐसा कहते हैं।)

अहा! तीनकाल में कभी पर्यायरहित द्रव्य नहीं होता; क्योंकि यदि पर्यायरहित द्रव्य हो तो वह तो गधे के सींगवत् होगा। (परन्तु ऐसा तो नहीं होता।) इसलिए जैसे गधे के सींग नहीं होते, वैसे ही तीनकाल में किसी भी समय पर्यायरहित द्रव्य भी नहीं होता;

www.vitragvani.com

फिर यहाँ कहते हैं कि उस एकसमय की पर्याय की कीमत नहीं है। पर्याय भले ही हो तथा भले ही वह पर्याय एकसमय में रूपान्तर भी हो जाए; तथापि वह पर्याय हेय है।

अहा! कहाँ बँध का भाव और कहाँ मोक्ष का भाव ? तो भी वह एकसमय में रूपान्तर होता है। (बंध मिटकर मोक्ष होता है।) अरे! बंध की पर्याय तो राग को भी नही जानती अर्थात् राग जाननेयोग्य है — बंध को तो यह भी पता नहीं है। जबकि मोक्षपर्याय तो तीनकाल-तीनलोक को जानती है। एकसमय में बंध रूपान्तर होकर केवलज्ञानरूप मोक्ष प्रगट होता है। वह मोक्ष भी त्रिकाल एकरूप प्रभु आत्मा के आश्रय में जाने पर हेय है — ऐसा यहाँ कहते हैं। बापू! बात कठिन लगे ऐसी तो है; परन्तु क्या हो सकता है ? (कारण कि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है।)

अरे! बहुत से अज्ञानी तो कहते हैं कि यह सब सोनगढ़वालों ने अपने घर का निकाला है, घर का धर्म निकाला है, नया धर्म निकाला है। हम जिस परम्परा में चलते हैं, हमारी जो परम्परा चलती है कि यह करना या वह करना, उससे तो यह सब अलग ही प्रकार की बात निकाली है। परन्तु भाई! तेरे स्वरूप में ही यह (इतनी बड़ी महानता) है प्रभु! प्रभु! प्ररूपणा में/कथन में तो ऐसा स्वरूप कहा ही है अर्थात् शास्त्र में तो ऐसा ही है; परन्तु तुझमें भी जैसा आत्मा कहलाता है, वैसा है। यह आत्मा वर्तमान एकसमय में ही त्रिकाली (पूर्ण) है। भले ही यह भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा, तथापि वह वर्तमान में ही त्रिकाली एकरूप है और उसको जाननेवाली पर्याय है। अहा! जाननेवाला कोई ध्रौव्य नहीं है; परन्तु पर्याय है; सो वह जाननेवाली पर्याय भी हेय है — ऐसा यहाँ कहते हैं। अरे! द्रव्य को और तीनकाल-तीनलोक को जाननेवाली केवलज्ञानरूप मोक्ष की पर्याय, जो कि द्रव्य का आश्रय लेकर प्रगट होती हे, वह भी हेय है — ऐसा कहते हैं। गजब बात है प्रभु! अहा! ऐसी बात अन्य कहीं सुनने मिलना मुश्किल है और कदाचित् सुनने मिले तो उसे समझना मुश्किल है।

अहा! लोग तो कुछ न कुछ दूसरे रास्ते चढ़ गये हैं; इसकारण सोनगढ़ की बात का तिरस्कार करते हैं। वे कहते हैं कि सोनगढ़वाले तो एकान्त मिथ्यात्वी हैं। अरे प्रभु! तेरी यह विपरीत मान्यता एकसमय की है। इसलिए प्रभु! इस एकसमय की विपरीत मान्यता को पलटने में समय नहीं लगेगा। अन्दर में निजस्वरूप का नाथ त्रिकाली प्रभु

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

आत्मा विराजमान है। उसका आश्रय लेने पर एकसमय की पर्याय मिथ्यात्वरूप नहीं रह सकेगी। अहा! इस ५०वीं गाथा में गजब बात है! यह गाथा ही गजब है।

देखो, इस गाथा में तीन बोल कहे हैं — (१) बंध और मोक्षपर्याय — दोनों हेय हैं। हेय होने का कारण क्या है ? (२) कारण कि वह परस्वभाव है, परन्तु त्रिकाली स्वभाव नहीं। जिसको कुछ पलटना नहीं है, उपजना नहीं है और बदलना नहीं है — ऐसा जो सनातन सत् है, उसमें कोई पर्यायरूप भाव नहीं है। अत: त्रिकाली सत् की अपेक्षा से ये केवलज्ञानादि भाव परस्वभाव हैं — ऐसा कहा है। अहा! केवलज्ञानादि भावों को हेय तो कहा ही, तदुपरान्त वे हेय होने का कारण क्या है — यह भी कहा कि वे परस्वभाव हैं और (३) **'और इसीलिए परद्रव्य हैं।'** अरे! अभी तो अज्ञानी को विकार को परस्वभाव मानने में ही परेशानी होती है कि क्या विकार परस्वभाव है ? यहाँ कहते हैं कि केवलज्ञान भी परस्वभाव है।

***प्रश्न* —** अरे प्रभु! केवलज्ञान भी परस्वभाव है ?

***उत्तर* —** (हाँ) यह गजब बात है भाई! अहा! अज्ञानी कहता है कि पर निमित्त के बिना विकार हो तो वह स्वभाव हो जाएगा। इसलिए पर के निमित्त से ही विकार होता है — ऐसा कहो। परन्तु भाई! पर के निमित्त बिना स्वयं से ही विकार होता है — यह आत्मा का स्वयं का विभावस्वभाव है अर्थात् बंध स्वयं से होता है। अब यहाँ यह कहते हैं कि बंधपर्याय की मर्यादा एकसमय की है प्रभु! भले ही समयान्तर (प्रतिसमय नया) होते-होते अनन्तकाल व्यतीत हुआ, इससे वह बंधपर्याय (प्रवाह अपेक्षा से) अनादि की है; तथापि उसकी मर्यादा एकसमय की ही है। अब जब पर्याय गुलाँट खाकर द्रव्य की दृष्टि करती है, तब प्रगट होनेवाली मुक्ति की पर्याय भी एकसमय की ही है। अत: वह द्रव्य का आश्रय करनेवाली मुक्ति की पर्याय भी हेय और परस्वभाव है — ऐसा यहाँ कहते हैं। लो, परस्वभाव स्वस्वभाव का आश्रय करता है; हेय है, वह उपादेय का आश्रय करता है — ऐसा कहते हैं। ऐसी बात है! लोगों को कठिन लगे ऐसी है; परन्तु क्या हो सकता है ? क्योंकि **'शुद्धतत्त्व रसिका: प्रवदन्ति।'** शुद्धतत्त्व के रसिक पुरुष तो ऐसा ही कहते हैं। (कलश ७३)

अहा! प्रभु! तू अनादिकाल से राग-द्वेष और अज्ञान में रहा है और वह अनन्तकाल एक-एकसमय करके व्यतीत हुआ है; इसलिए उस अज्ञान की मर्यादा एकसमय की

www.vitragvani.com

ही है। प्रभु! अब उसका रूपान्तर होने में भी एकसमय ही लगता है और उसका रूपान्तर होकर प्रगट होनेवाला मोक्ष भी एकसमय का ही है, जबकि द्रव्य तो त्रिकाल रहता है। अरे! मोक्ष की पर्याय भी एकसमय ही रहती है। दूसरे समय वह दूसरी होती है। दूसरे समय वैसी ही पर्याय होती है; परन्तु वह की वह पर्याय नहीं रहती — ऐसा वस्तुस्वरूप है।

यहाँ कहते हैं कि स्वद्रव्य के आश्रय की अपेक्षा से सभी चारों ही भाव हेय हैं। वे हेय हैं उसका कारण ? उसका कारण यह है कि वे परस्वभाव हैं और वे परस्वभाव हैं '**इसीलिए परद्रव्य हैं।**' गजब बात है। सुनना भी कठिन पड़े ऐसी गजब बात है। प्रभु! तेरा स्वरूप ही ऐसा है। भाई! अनादि-अनन्त चैतन्यसमुद्र अनन्तगुणरत्नों से भरा नित्य ध्रुव है। उसकी दृष्टि की अपेक्षा चारों भाव हेय हैं; क्योंकि वे परस्वभाव हैं। लो, केवलज्ञान भी परस्वभाव है और त्रिकाली आत्मद्रव्य स्वस्वभाव है — ऐसा कहते हैं। केवलज्ञान तो नया उत्पन्न होता है, जबकि स्वभावरूप त्रिकाली आत्मद्रव्य तो अनादि-अनन्त सत् है। अतः उस त्रिकाली स्वस्वभाव की अपेक्षा से नया उत्पन्न होनेवाला केवलज्ञानरूपी भाव भी परस्वभाव है — ऐसी बात है।

अहा! क्या पचासवीं गाथा! अहा! देखो न, श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं ही लिखा है कि '**पुव्वुत्तसयल भावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।**' टीका में तो टीकाकार (मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव) कहते ही हैं, परन्तु मूल गाथा में स्वयं श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त सर्व भाव परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं; इसलिए हेय हैं। और अन्तिम गाथा (१८७वीं) में स्वयं श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि मैंने तो यह नियमसार मेरे लिए बनाया है। प्रभु! मेरी दृष्टि द्रव्य पर ही पड़ी है, इसलिए मैं ऐसा कहता हूँ कि बंध और मोक्षपर्याय हेय है। उसका कारण मैं यह कहता हूँ कि वे परस्वभाव हैं और इसलिए परद्रव्य हैं। अहा! 'परद्रव्य' कहने से यहाँ परद्रव्य की बात नहीं है; अपितु अपनी ही पर्याय की बात है कि वह परद्रव्य है अर्थात् यहाँ अपनी बंध और मोक्ष की पर्याय की बात है और वह परद्रव्य है — ऐसा यहाँ कहते हैं। क्यों ? क्योंकि जैसे परद्रव्य में से आनन्द की नई निर्मल पर्याय नहीं आती, वैसे ही मोक्ष की पर्याय हो तो भी उसमें से आनन्द की नई निर्मल पर्याय नहीं आती, (इसलिए मोक्ष पर्याय भी परद्रव्य है।) गजब बात है! भाग्यवान के कान में पड़े ऐसी बात है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अहा! राग तो दुःखदायक है, संसार है और वह तो एकसमय की अवस्था होने से पलट सकता है तथा संसार पलटकर मोक्ष हो, वह अवस्था भी एकसमय की ही है। इसप्रकार मोक्ष पर्याय एकसमय की है, जबकि आत्मद्रव्य त्रिकाली है। इसलिए (१) त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा वह पर्याय हेय है, (२) त्रिकाली स्वस्वभाव की अपेक्षा से वह पर्याय परस्वभाव है और (३) इसीलिए वह पर्याय परद्रव्य है। अहा! मोक्ष की पर्याय भी हेय है, कारण कि वह परस्वभाव है और इसीलिए परद्रव्य है। लो, अपनी केवलज्ञानपर्याय, सिद्धपर्याय या पर्याय में प्रगट होनेवाले अनन्तचतुष्टय भी परद्रव्य हैं — ऐसा कहते हैं। शक्ति में जो अनन्तज्ञान-दर्शन-आनन्द-वीर्य है, वह पर्याय में अनन्त चतुष्टय रूप से प्रगट होते हैं; तो भी कहते हैं कि वह अनन्त चतुष्टय परद्रव्य हैं; क्योंकि उसमें से नई पर्याय नहीं आती। जैसे परद्रव्य में से आनन्द की नई पर्याय नहीं आती, वैसे ही प्रगट अनन्तचतुष्टय की पर्याय से भी आनन्द की नई पर्याय नहीं आती। आनन्द की नई पर्याय तो त्रिकाली भगवान आत्मा में से आती है। इसलिए जिसमें से आनन्द की पर्याय आती है उसको (त्रिकाली आत्मा को) हम स्वद्रव्य कहते हैं और जिस पर्याय में से आनन्द की नई पर्याय नहीं आती, उसको हम त्रिकाली स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य कहते हैं। गजब बात है।

यह अधिकार सूक्ष्म है, क्योंकि यह मूल अधिकार है न! ये तीर्थंकर सर्वज्ञदेव परमात्मा के अन्तरपेट की बाते हैं। जो अनादिकालीन सनातन धर्म है, वह कैसा है — यह उसकी बात है। टीका फिर से लेते हैं।

'यह हेय-उपादेय अथवा त्याग-ग्रहण के स्वरूप का कथन है।' यह छोड़नेयोग्य और आदरनेयोग्य अथवा त्याग-ग्रहण का अधिकार है अर्थात् उनके स्वरूप का कथन है।

'जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं वे पहले (४९वीं गाथा में) व्यवहारनय के कथन द्वारा उपादेयरूप से कही गई थीं; किन्तु शुद्धनिश्चयनय के बल से (शुद्ध निश्चयनय से) वे हेय हैं।' कड़क बात है। आत्मा में चार प्रकार की पर्यायें होती हैं —

(१) दया, दान, व्रत, भक्ति आदिरूप औदयिकभाव।

(२) राग (मोह) के उपशमरूप औपशमिकभाव।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

(३) ज्ञानादिक का किंचित् उघाड़ और किंचित् आवरणरूप क्षायोपशमिकभाव और

(४) क्षायिक समकित, केवलज्ञान आदिरूप क्षायिकभाव।

ये चार भाव आत्मद्रव्य की पर्याय है। इन चार पर्यायों को गाथा ४९ में व्यवहारनय के कथन द्वारा उपादेयरूप कहा गया था; परन्तु अन्दर आत्मस्वभाव की शक्ति के बल से अथवा शुद्ध चैतन्य को प्राप्त करने के बल से (अपेक्षा से) ये चारों ही पर्याय हेय है — ऐसा यहाँ कहते हैं।

अहा! औदयिकभाव तो हेय है ही। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि तो राग होने से बंध का कारण है और इसकारण हेय है ही; परन्तु राग का उपशम हो, वैसा औपशमिकभाव भी हेय है — ऐसा कहते हैं। जैसे पानी में मैल नीचे बैठ जाने से पानी निर्मल होता है, वैसे ही विकार का मैल नीचे बैठ जाना औपशमिकभाव है। वह भाव भी हेय है-त्यागनेयोग्य है — ऐसा यहाँ कहते हैं। यदि इसको आत्मज्ञान, सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म की पहली श्रेणी, जो कि अनन्तकाल में प्रगट नहीं हुई — ऐसी अपूर्वदशा है, वह प्रगट करना हो तो औदयिकभाव, औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव और क्षायिकभाव — इन चारों भावों को हेय मानना पड़ेगा। यद्यपि व्यवहारनय के कथन द्वारा इन चारों भावों को उपादेय कहा गया था; तथापि शुद्धनिश्चयनय के बल से वे हेय हैं। अहा! इस ५०वीं गाथा में अद्भुत बात है।

अहा! सम्यग्दृष्टि को अन्दर में विराजमान अनादि-अनन्त एकरूप परमपारिणामिक-भावमय स्वभावभाव/ध्रुवभाव/नित्यभाव ही, वह एक ही, उपादेय है। तथा जिसको धर्म की पहली सीढ़ी (सम्यग्दर्शन) प्रगट करना है, उसको भी अनादि-अनन्त चैतन्य स्वरूप शुद्ध परम पारिणामिकभावरूप त्रिकाली ज्ञायकभाव ही एक आदरणीय है अर्थात् वहाँ दृष्टि करनेयोग्य है। कड़क बात है। अहा! ये शरीरादि तो जड़/मिट्टी हैं तथा यह हलन-चलनादि क्रिया भी जड़ की है। आत्मा उस जड़ में कुछ नहीं कर सकता; क्योंकि आत्मा जड़ को स्पर्श नहीं करता है न! श्री समयसार गाथा ३ में कहा है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। गजब बात है!

इन शरीर, वाणी, मन और कर्म को तो एक ओर रखो; क्योंकि ये तो पर हैं और आत्मा उसको स्पर्श नहीं करता। शरीर रूपी है। आत्मा उसको स्पर्श नहीं करता।

www.vitragvani.com

इसीतरह कर्म जड़/रूपी है। आत्मा उसको भी स्पर्श नहीं करता; क्योंकि आत्मा अरूपी है और शरीर व कर्म रूपी है। अरे! इस जड़ को तो आत्मा स्पर्श नहीं करता और यह जड़ भी आत्मा को स्पर्श नहीं करता; परन्तु यह अँगुली जो अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है, उसमें का प्रत्येक परमाणु भी दूसरे परमाणु का स्पर्श नहीं करता, न करेगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक परमाणु अपने-अपने अस्तित्व में है; परन्तु वे पर के अस्तित्व का स्पर्श नहीं करते। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य-वस्तु अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में अस्तित्व रखता है। वह अस्तित्व पर के कारण बिलकुल नहीं है। प्रत्येक पदार्थ-परमाणु हो या आत्मा-उसका अस्तित्व (१) अपने त्रिकाली द्रव्य-वस्तु में है, (२) अपनी शक्ति-गुण में है और (३) अपनी वर्तमान अवस्था/हालत/पर्याय में है — इन तीनों में पदार्थ का अस्तित्व है और इसकारण वह दूसरे पदार्थ को स्पर्श नहीं करता। लो, ऐसा किसी दिन सुना था ? अरे प्रभु! वीतराग का मार्ग जगत से अलग है। अभी महाविदेहक्षेत्र में तीनलोक के नाथ वीतराग परमेश्वर बीस तीर्थंकर और लाखों केवली विराजमान हैं, भूतकाल में भी ऐसे अनन्त तीर्थंकर हुए थे और भविष्य में भी होंगे। भविष्य में भी अनन्त केवली और जैनदर्शन के सच्चे संत-मुनि होंगे। सो उन सबका यह कथन है। अहा! परन्तु उसका ज्ञान करना कठिन है। प्रभु! वीतराग मार्ग ऐसा है! दुनिया को (अज्ञानी को) यह मार्ग रुचे या न रुचे तथा वह इस मार्ग का विरोध करे; तो भी मार्ग तो यही है। दुनिया को वस्तुस्वरूप का पता नहीं है, इससे यह मार्ग नहीं रुचता और विरोध करती है; तो भी वह विरोध करनेवाला भी अन्दर में तो भगवान है; परन्तु उसे भगवान आत्मा का पता नहीं है।

यह शरीर, वाणी, मन, स्त्री, लक्ष्मी, कुटुम्ब-परिवार आदि तो आत्मा से भिन्न हैं ही। ये तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं हैं। आत्मा की पलटती दशा/अवस्था/पर्याय है, उसमें भी ये परपदार्थ नहीं हैं; इसलिए परपदार्थ आत्मा का संसार नहीं है अर्थात् स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा आदि संसार नहीं है; परन्तु शुद्ध द्रव्य-गुण से 'संसरणात्' — हटकर विकार में रहना संसार है। वह संसार आत्मा की पर्याय में है, पर में नहीं है; इसलिए पर को हटाने की बात ही नहीं है। भाई! बात तो ऐसी है। इसने यह बात न तो कभी सुनी है और न इस अनुसार किया है। अरे! चौरासी के अवतार करते-करते अनन्तकाल व्यतीत हुआ है। चौरासी लाख योनियाँ हैं और उस एक-एक योनि में इसने अनन्तबार अवतार धारण किये हैं, एक आत्मज्ञान और आत्मदर्शन-समकित के बिना। अहा! इसने

एक आत्मज्ञान और आत्मदर्शन नहीं किया, अन्य सब क्रियाएँ इसने की हैं। छहढाला में आता है न कि —

'मुनिव्रत धार अनन्तबार, ग्रीवक उपजायो.......' इसने बहुत बार मुनिव्रत धारण किया है अर्थात् नग्न दिगम्बर मुनि होकर जंगल में वास किया है और इसप्रकार मुनिव्रत धारण करके ग्रैवेयक में उत्पन्न हुआ है।

'पै नित आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' परन्तु सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के ज्ञान बिना यह जरा भी सुख प्राप्त नहीं कर सका। जिनेश्वर परमेश्वर भगवान ने जैसा अतीन्द्रिय आननन्दकन्द आत्मा देखा है अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का दल, अतीन्द्रियज्ञान का कस, अतीन्द्रिय शान्ति का सागर — ऐसा जो प्रभु आत्मा है, उसका कभी अनन्तकाल में एक सैकण्ड भी इसने अनुभव नहीं किया है और पर्यायदृष्टि में ही रहा है। पर्यायरहित अर्थात् वर्तमान बदलती अवस्था के सिवाय जो त्रिकाली ध्रुव-स्वरूप है, जो पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा है, इसने उसके सन्मुख एकसमय भी झुकाव नहीं किया।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा का औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव भी आदरणीय नहीं है। क्यों ? क्योंकि उस पर्याय में से नई पर्याय नहीं आती। नई निर्मलपर्याय/वीतराग आनन्द की दशा द्रव्य में से आती है। इसकारण क्षायिकादि पर्यायों को हेय कहा है। ऐसी कड़क बात है। अज्ञानी को तो ऐसा लगता है कि यह निकाला कहाँ से ? ऐसा नया मार्ग कहाँ से निकाला ? अरे प्रभु! यह कोई नया मार्ग नहीं है। ये शास्त्र कोई अभी के नहीं हैं। ये तो कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा कथित हैं और तब के (प्राचीन) हैं। उसमें इस नियमसार की ५०वीं गाथा में ऐसा कहते हैं कि नियम का सार ऐसा है कि जो चारप्रकार की पर्यायें होती हैं, उनकी स्थिति एकसमय की हैं। राग (औदयिकभाव) हो या औपशमिकभाव हो या क्षायोपशमिकभाव हो या अरे! क्षायिकभाव-केवलज्ञान हो; तो भी एकसमय ही रहता है। पहले समय का केवलज्ञान दूसरे समय नहीं रहता। दूसरे समय दूसरा केवलज्ञान होता है। हाँ, दूसरे समय पहले समय जैसा केवलज्ञान होता है; परन्तु वह का वह केवलज्ञान नहीं रहता। तो, कहते हैं कि शुद्ध निश्चयनय के बल से अर्थात् त्रिकाली ज्ञायकभाव के ज्ञान के बल से, सत्यार्थ वास्तविक दृष्टि से, त्रिकाल रहनेवाले सत्यस्वरूप आत्मा की दृष्टि से देखें तो जिन्हें व्यवहारनय

से आत्मा का कहा था, वे सभी चारों ही क्षायिकादिभाव हेय हैं। गजब बात है! जैनमार्ग ऐसा अद्‌भुत है! अरे! अभी तो सब सच्ची परम्परा ही टूट गई है और इसकारण अकेला बाहर का चारगति में परिभ्रमण का मार्ग रह गया है। पुण्य की क्रिया करो, दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, पूजा करो, मन्दिर बनवाओ तो जाओ मोक्ष होगा — ऐसा बाहर का मार्ग अभी रह गया है; परन्तु अरे! (यदि आत्मज्ञान नहीं किया तो) अरे रे! इसने जिन्दगी में क्या किया ? कुछ भी नहीं।

अहा! श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि यह शास्त्र मैंने अपने लिए बनाया है। श्री समयसार, प्रवचनसार आदि शास्त्र तो उन्होंने सबको लाभ हो, इसप्रकार उपदेशरूप में बनाये हैं। जबकि इस ग्रंथ की अन्तिम गाथा में कहते हैं कि यह नियमसार तो मैंने निज भावना के लिए बनाया है। यद्यपि यह नियमसार भी सबको लाभप्रद हो इसप्रकार बना है; तथापि कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं के लिए बनाया है। वे श्री कुन्दकुन्दाचार्य, परमात्मा त्रिलोकनाथ का कहा हुआ, स्वयं सीधा सुना हुआ तथा निजहित के (भावना के) लिए बनाये हुए इस नियमसार शास्त्र द्वारा जगत के समक्ष जाहिर करते हैं कि प्रभु! तेरे अस्तित्व के दो प्रकार हैं — (१) द्रव्य और (२) पर्याय। उसमें जो पर्यायरूप चारों भाव हैं, वे हेय हैं। अरे! क्षायिक समकित आदि क्षायिकभाव भी हेय हैं; क्योंकि वह पर्याय है न! तथा वर्तमान में साधक को केवलज्ञान तो है नहीं और दूसरे के केवलज्ञान का लक्ष्य करने जाए तो राग-विकल्प होता है, इसलिए केवलज्ञानरूप क्षायिकभाव भी हेय है।

ये स्त्री, कुटुम्ब, परिवार शरीर, कर्म तो पररूप अस्तित्व है। आचार्यदेव कहते हैं कि हम यहाँ पर के अस्तित्व की अर्थात् पर की हयाती की बात तो करते ही नहीं, क्योंकि वह पर की हयाती तो पर के कारण है और अपनी (स्व की) हयाती स्वयं के कारण है। इसकारण पर की और अपनी हयाती का कोई सम्बन्ध नहीं है; परन्तु अपनी/आत्मा की हयाती (अस्तित्व) के दो प्रकार हैं — (१) त्रिकाली द्रव्य और (२) वर्तमान पर्याय। उसमें वर्तमान पर्याय में —

(१) दया, दान, व्रतादि होते हैं, वह औदयिकभाव है।

(२) राग को उपशम करने से जो शान्ति होती है, वह औपशमिकभाव है।

www.vitragvani.com

(३) ज्ञानादिक में किंचित् उघाड़ और किंचित् विघ्न (आवरण) रहे, वह क्षायोपशमिकभाव है और

(४) ज्ञानादि की विघ्न (आवरण) रहित पर्याय होती है, वह क्षायिकभाव है।

यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली आत्मद्रव्य में ये चारों पर्यायें नहीं है और इसकारण ये चार पर्यायरूप भाव हेय हैं। ऐसी गजब बात है प्रभु! यहाँ ऐसी सूक्ष्म बात है प्रभु!

अहा! यहाँ स्त्री-पुत्रादिक की तो बात ही नहीं है। वे तो परद्रव्य हैं और उनके स्वयं के कारण आकर पर के अस्तित्वरूप रहे हैं; परन्तु उस पर का अस्तित्व कोई आत्मा के अस्तित्वरूप नहीं रहा है। तथा इस शरीर का अस्तित्व भी उसके स्वयं के कारण है। अर्थात् शरीर के द्रव्य-गुण-पर्याय के कारण शरीर का अस्तित्व है।

***प्रश्न* —** इसमें हमारा पैसा कहाँ गया ? (पैसे की बात तो नहीं आई ?)

***उत्तर* —** यह पैसा-धूल तो अजीव है और उस अजीव की सत्ता में जीव की सत्ता का प्रवेश ही नहीं है तथा अजीव की सत्ता जीव की सत्ता को नहीं छूती।

यह सुनकर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह क्या कहते हैं ?

भगवान! तीनलोक के नाथ श्री सीमन्धर भगवान ने यह कहा है। श्री सीमन्धर परमात्मा महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं और यह उनकी कही हुई बात है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री सीमन्धर भगवान के पास गये थे, वहाँ आठ दिन रहे थे और आठ दिन तक परमात्मा की वाणी साक्षात् सुनी थी तथा जो श्रुतकेवली थे, भले ही वे थे छद्मस्थ, परन्तु श्रुत में पूरे थे; उनके साथ चर्चा करके कितनी ही बातों का निर्णय किया था। वह सब ज्ञान लेकर श्री कुन्दकुन्दाचार्य यहाँ भारत में पधारे और इन शास्त्रों की रचना की। उसमें वे कहते हैं कि प्रभु! एक बार सुन! कि क्या पर के अस्तित्व के कारण तेरा अस्तित्व है ? या शरीर या वाणी के अस्तित्व के कारण तेरा अस्तित्व है? इसीप्रकार क्या तेरे अस्तित्व के कारण शरीर या वाणी का अस्तित्व है ? (नहीं।) यह शरीर-वाणी जड़ है, मिट्टी है, परमाणुओं की स्कन्धरूप पर्याय है। इसलिए तेरे अस्तित्व के कारण उनका अस्तित्व नहीं है और उनके अस्तित्व के कारण तेरा अस्तित्व नहीं है। यह हाथ की-शरीर की जो हलन-चलनादिरूप क्रिया होती है, वह तेरे/आत्मा के कारण बिल्कुल नहीं होती; परन्तु हाथ के (शरीर के) अस्तित्व के कारण उसका

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

हलन-चलन होता है — ऐसा यहाँ कहते हैं। उसका कारण यह है कि जड़ की क्रिया जड़ की हयाती-जड़ के अस्तित्व के कारण, जड़ की मौजूदगी के कारण उसमें (जड़ में) होती है।

प्रश्न — आत्मा पैसा कमाने का काम तो करता है न ?

उत्तर — अरे! कौन कमाये ? और किसका पैसा ? जीव अज्ञान से मानता है कि मैं पैसा कमाता हूँ और पैसा मेरा है। वरना पैसा तो जड़-मिट्टी-धूल है। प्रभु! पैसा अस्तित्ववाली चीज है या अन-अस्तित्ववाली ? यदि वह अस्तित्ववाली चीज है तो वह उसके कारण है या तेरे कारण है ? पैसे का अस्तित्व पैसे के द्रव्य-गुण-पर्याय के कारण है या तेरे कारण ? इसीप्रकार तू जिसे 'मेरी स्त्री' मानता है....मात्र मानता है, वरना वह तेरी स्त्री है नहीं; क्योंकि आत्मा के स्त्री नहीं होती। अत: उस स्त्री का अस्तित्व उसके द्रव्य-गुण-पर्याय के कारण उसमें है तथा तेरे पास जो कर्म है, उनका अस्तित्व भी कर्म के कारण है, आत्मा के कारण नहीं। अरे रे! इस न्याय से बात सुनी नहीं है प्रभु!

प्रश्न — पुत्र के सन्दर्भ में क्या है ?

उत्तर — पुत्र भी पुत्र के कारण पुत्र के अस्तित्व में है। न तो इस जीव के कारण पुत्र का अस्तित्व है और न पुत्र के कारण इस जीव का अस्तित्व है।

देखो, इस अँगुली का एक-एक परमाणु भी उसके स्वयं के अस्तित्व के कारण है; परन्तु आत्मा के कारण उनका अस्तित्व नहीं है; क्योंकि यह अँगुली तो जड़-मिट्टी है। इसकारण उस जड़ का अस्तित्व जड़ के कारण है; परन्तु आत्मा के कारण बिलकुल नहीं है। तात्पर्य यह है कि जड़ पदार्थ आत्मा से अत्यन्त भिन्न होने के कारण, उस जड़ की बात तो यहाँ की ही नहीं है अर्थात् शरीर, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा हेय है — यह बात तो यहाँ की ही नहीं है। कारण कि जब जड़ आत्मा में है ही नहीं, तो उसको हेय किसप्रकार करना ? हेय तो जो अपने में हो उसे किया जा सकता है; परन्तु जो पर में है उसको हेय-उपादेय किसप्रकार किया जा सकता है ? क्योंकि पर तो पर की चीज है। अरे रे! परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ भगवान का ऐसा नाद (ध्वनि) कौन सुनेगा ? कौन समझेगा ? कौन उसकी हाँ करेगा ? दुनिया तो अज्ञान में पागल हो

www.vitragvani.com

रही है। उसमें इस बात का स्वीकार कौन करेगा ? श्रीमद्‌जी भी एकबार कहते थे कि अरे रे! मेरी यह बात कौन सुनेगा ?

यहाँ तो तीनलोक के नाथ द्वारा दिव्यध्वनि में जो बात आई है वह है। उसमें प्रभु ऐसा कहते हैं कि मेरे कारण दिव्यध्वनि का अस्तित्व नहीं है। यह दिव्यध्वनिरूप आवाज जड़ है और जड़ का अस्तित्व जड़ के कारण है, मेरे आत्मा के कारण नहीं।

यह कारखाना चलता है, वह जड़ के कारण चलता है; परन्तु मजदूर के कारण नहीं और इस जीव के कारण तो नहीं ही।

प्रश्न — यह बात तो सत्य है; परन्तु कारखाना चलता है, उसके कारण पैसा तो मिलता है न ?

उत्तर — अरे प्रभु! पैसा किसको मिलता है ? पैसा, वह कोई स्वतन्त्र वस्तु है या नहीं ? (हाँ है।) तो फिर क्या वह वस्तु इस जीव को छूती या मिलती है ? प्रभु! यह बात दूसरी है, जगत से अलग है। वीतराग त्रिलोकनाथ जिनेश्वर का मार्ग दुनिया से अत्यन्त न्यारा है। अहा! जीव लक्ष्मी को छूता ही नहीं; तो फिर जीव को लक्ष्मी कहाँ से मिली ?

प्रश्न — तो फिर जीव को क्या मिलता है ?

उत्तर — यह लक्ष्मी नजदीक आने पर इसको ऐसा लगता है कि मुझे लक्ष्मी मिली। जीव को ऐसी ममता मिलती है और वह ममता पर्याय में जीव ने स्वयं की है; परन्तु लक्ष्मी ने नहीं कराई है। अरे! दुनिया से बात-बात में अन्तर है।

प्रश्न — दुनिया में रहना और दुनिया से अलग मानना ?

उत्तर — भाई! तू कहाँ दुनिया में है ? (तू तो अपने असंख्यप्रदेशों में रहता है।)

प्रश्न — दया पालें, व्रत करें, भक्ति करें इत्यादि करें तो धर्म होता है न ?

उत्तर — अरे भगवान! कदाचित् उसमें राग की मंदता हो तो पुण्य होता है। उस पुण्य से तो चारगति में परिभ्रमना होता है; क्योंकि पुण्यभाव स्वयं संसार है। '**संसरणम् इति संसारः**' — त्रिकाली आनन्द के नाथ आत्मा में से हटकर विकार में आना संसार है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

यहाँ कहते हैं कि परचीज तो पर के अस्तित्व के कारण है; परन्तु तेरे अस्तित्व के कारण इस लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब, मकान, आबरु, वस्त्राादि का अस्तित्व है ही नहीं। इसलिए भगवान! तेरे अस्तित्व के अतिरिक्त अर्थात् जो तेरे अस्तित्व में नहीं है, उस अन्य पदार्थ के त्याग–ग्रहण की बात तो हम यहाँ करते ही नहीं कि वह छोड़नेयोग्य है या ग्रहणयोग्य है। पर का ग्रहण–त्याग तो आत्मा में, आत्मा की पर्याय में भी है ही नहीं। क्योंकि आत्मा में एक त्याग–उपादानशून्यत्व नाम का गुण है, शक्ति है। इसलिए प्रभु! तू एक रजकण से लेकर इन दाल, भात, रोटी, साग, पैसा, कपड़ा आदि के त्याग और ग्रहण से तो शून्य–रहित है। अब रही बात तेरी दशा में/अवस्था में/पर्याय में होनेवाले राग–द्वेष, दया–दानादिरूप औदयिकभाव, औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव और क्षायिकभाव की, जो कि तेरे अस्तित्व में है अर्थात् ये सब भाव तेरी पर्याय के अस्तित्व में हैं; परन्तु वह (पर्यायरूप अस्तित्व) हेय है अर्थात् उस पर नजर नहीं करना है। क्योंकि उस पर नजर करने से तो राग होगा और उससे संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। अहा! यह तीनलोक के नाथ अनन्त तीर्थंकरों का नाद है। परन्तु अरे रे! इस नाद को कौन झेले प्रभु! अभी तो यह सब नाद छुप गया है और लोग कुछ का कुछ मानते हैं और इसकरण वे बिचारे रखड़ मरते हैं।

अहा! यह त्रिलोक के नाथ अनन्त तीर्थंकर, भगवंतों की आवाज (वाणी) है। अरे! तीर्थंकर की आवाज कहना भी निमित्त से कथन है; क्योंकि आवाज आवाज से है, आत्मा से नहीं। तो उस आवाज में ऐसा आया कि प्रभु! तू आत्मा है, तेरे में, तेरे अस्तित्व में दो प्रकार हैं — (१) त्रिकाली द्रव्य–ध्रुव और (२) वर्तमान पर्याय–बदलती अवस्था — ये दो प्रकार का अस्तित्व तुझमें है; परन्तु इसके अतिरिक्त किसी पर का अस्तित्व तुझमें नहीं है। अब जो तेरी पर्याय–अवस्थारूप अस्तित्व है, उसमें चारप्रकार हैं — (१) औदयिकभाव, (२) औपशमिकभाव, (३) क्षायोपशमिकभाव और (४) क्षायिकभाव। ये तेरे पर्यायरूप अस्तित्व के चार भाव हैं, जो कि पर के अस्तित्व के कारण नहीं है तथा पर के अस्तित्व में नहीं है। यहाँ कहते हैं कि ये चारभाव भी हेय है — छोड़नेयोग्य हैं। जिसको धर्म की पहली सीढ़ी–सोपान सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, उसके लिए ये चार भाव भी हेय हैं — ऐसा कहते हैं।

प्रभु यहाँ दो बात हुई — (१) तेरे अस्तित्व में अर्थात् आत्मा में द्रव्य अर्थात्

www.vitragvani.com

त्रिकाली वस्तु है, गुण अर्थात् ज्ञान-दर्शनादि शक्तियाँ है और पर्याय अर्थात् बदलती-पलटती अवस्था है — ये तीन तेरे आत्मा के अस्तित्व में है। इसके अतिरिक्त अन्य चीज तेरे अस्तित्व में नहीं है। दूसरे प्रकार से कहें तो इन तीन में आत्मा का अस्तित्व है। बाकी बाह्य चीजों में आत्मा का अस्तित्व नहीं है। अर्थात् बाह्य-चीज के कारण आत्मा का और आत्मा के कारण बाह्य-चीज का अस्तित्व नहीं है।

(२) अब इसके पर्यायरूप अस्तित्व में जो चार प्रकार की अवस्था है, वह औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव भी शुद्ध निश्चयनय से हेय है — ऐसा कहते हैं। परन्तु अरे रे! अभी तो इसने चार भावों के नाम भी नहीं सुने हों वहाँ उनको हेय किसप्रकार माने ? अहा! यह बात पागल को (अज्ञानी को) पागल जैसी लगती है। तीनलोक के नाथ पूरी दुनियाँ को पागल कहते हैं। ये बुद्धिवाले कहलाते हैं, वे सब पागल हैं। 'परमात्मप्रकाश' में पाठ है कि दुनिया सत् कहनेवाले को पागल कहती है और सत् कहनेवाला दुनिया को पागल मानता है।

अहा! पर की बात तो क्या करना ? कारण कि मकान, पैसा आदि तो जड़रूप अस्तित्व से रहे हैं और उनके अस्तित्व के कारण जाते हैं; परन्तु वे आत्मा के प्रयत्न से आते या जाते हैं — यह बात तीनकाल में भी सत्य नहीं है। अब कहते हैं कि भाई! तेरे अस्तित्व में या तो राग-द्वेषरूप विकार (औदयिकभाव) होता है या त्रिकाली द्रव्य के अवलम्बन से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभावरूप धर्म की पर्याय होती है। तो भी वे चारों पर्यायें हेय हैं। क्यों ? क्योंकि वह पर्याय/अवस्था है, उसमें से नई अवस्था उत्पन्न नहीं होती। अर्थात् पर्याय में से पर्याय नहीं आती। अवस्था/पर्याय तो त्रिकाली द्रव्य भगवान आत्मा में से, जो अनादि-अनन्त सत् प्रभु है उसमें से आती है। इसकारण चारप्रकार की पर्यायों को भी हेय कहा गया है अर्थात् उनको दृष्टि में से छोड़ दे और भगवान आत्मा पर दृष्टि कर।

अहा! त्रिकाल परमात्मस्वरूप भगवान पंचमभाव पर्यायरूप चार भावों से भिन्न है। औदयिकादि चार भाव पर्यायरूप हैं, जबकि ज्ञायक ऐसा पंचमभाव द्रव्य स्वरूप-वस्तु स्वरूप है। (उस पंचमभाव की अपेक्षा से चारों भावों को हेय कहा है।)

अब पूछते हैं कि अपनी पर्याय-अवस्था में जो चारभाव होते हैं, वे दृष्टि में से छोड़नेयोग्य है, (धर्म के लिए) वहाँ नजर करने की आवश्यकता नहीं है — उसका

क्या कारण है ? अर्थात् चारों भावों को किसकारण से हेय कहा गया है ?

वे चारों भाव परस्वभाव है और उनके लक्ष्य से राग होता है, इसलिए हेय हैं। अहा! भूतकाल में अनन्त तीर्थंकर हो गये, वर्तमान में होते हैं और भविष्य में भी होंगे; उन सबका यह भाव (अभिप्राय) है; परन्तु जगत यह भाव बैठना बहुत कठिन है। जहाँ यह बात सुनने मिलना भी कठिन है........अरे! यह बात सुनने मिलती ही नहीं (वहाँ स्वीकार करने की बात तो कहाँ रही ?) अभी तो दया पालो, व्रत करो, रात्रिभोजन मत करो, कन्दमूल मत खाओ — ऐसी समस्त पर कर्तृत्व की बातें मिलती हैं। अर्थात् आत्मा जो नहीं कर सकता, उस परद्रव्य के ग्रहण-त्याग की ही बातें अभी सुनने मिलती हैं।

यहाँ कहते हैं कि तेरी पर्याय में.......परन्तु अरे! पर्याय माने क्या ? कितने ही तो यह भी नहीं समझते। भाई! तेरी कायम-नित्य चीज है, वह द्रव्य है और बदलती-पलटती अवस्था है, वह पर्याय है। उस पर्याय में चार भाव होते हैं। सो वे चार भाव हेय हैं — ऐसा कहते हैं। '**किसकारण से ? क्योंकि वे परस्वभाव हैं।**' अहा! दुनिया माने या न माने, वस्तु तो ऐसी ही है। अरे रे! अज्ञानी अनादि के चौरासी के अवतार कर-करके परिभ्रमण कर रहा है। बापू! नरक सात हैं और उस एक-एक नरक में इसने अनन्त-अनन्तबार अवतार किये हैं। पहले रत्नप्रभा नरक की कम से कम आयु दस हजार वर्ष की है और सातवें नरक की उत्कृष्ट आयु तैंतीस हजार सागर है। उन सबमें इसने अनन्त-अनन्तबार अवतार किये हैं।

अरे! अज्ञानी को तो अभी कुछ पता ही नहीं पड़ता और बाहर से सामायिक, प्रतिक्रमण और प्रौषध करके मानता है कि धर्म हो गया; परन्तु उससे धूल में भी धर्म नहीं होता। धूल में भी धर्म नहीं होता माने क्या ? (कि धर्म तो होता ही नहीं, परन्तु अच्छा पुण्य भी नहीं बँधता।) उसको तो साधारण पुण्य बँधेगा कि जो चारगति में परिभ्रमण के लिए है—परिभ्रमण का कारण है।

यहाँ कहते हैं कि औदयिकादि चारों ही भाव हेय हैं। परन्तु प्रभु! ये चारों ही भाव अपनी पर्याय में हैं, फिर भी हेय ? शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, कीर्ति, मकान आदि तो अपने में हैं ही नहीं, वे तो परचीज हैं; इसलिए उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; परन्तु जो अपनी पर्याय में हैं, उसको हेय क्यों-किसकारण से कहा है ? — ऐसा शिष्य का प्रश्न है। अपनी पर्याय में होनेवाली अवस्था-राग-द्वेष, दया, दान, भक्ति,

www.vitragvani.com

व्रत, पूजादि का औदयिकभाव तथा उससे रहित धर्मरूप औपशमिकभाव भी हेय है, छोड़नेयोग्य है — यह आप किसकारण से कहते हो ? उसका कारण क्या है ?

प्रभु! उसका कारण यह है कि वे परस्वभाव हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि तो परस्वभाव हैं ही; क्योंकि वे विकार हैं; परन्तु यहाँ तो औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव को भी परस्वभाव कहा है। लो, पर्याय को परस्वभाव कहा है। अरे रे! जिन्दगी में कभी ऐसा सुना भी न हो और जिन्दगी चली जाती है। फिर यह जिन्दगी पूर्ण होने पर कहाँ अवतार होगा ? यह देह छूट जाएगी, परन्तु आत्मा की सत्ता तो कायम रहनेवाली है। तो, वह आत्मा कहाँ रहेगा ? कहाँ जाएगा ? परिभ्रमण करता हुआ कहीं सूकर में, कौए में, श्वान में और नरकादि में जाएगा। इसने ऐसे अनन्त-अनन्त भव किये हैं; परन्तु यह सत् को नहीं समझा, सत् की शरण में नही गया।

यहाँ कहते हैं कि औदयिकादि चार भाव भी तेरा त्रिकाली सत् नहीं है, आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है; क्योंकि वे परस्वभाव है। त्रिकाल कायम आत्मा में वह अनित्य चीज नहीं है। वे तो एकसमय टिकते हैं। धर्म की दशा प्रगट होती है, वह भी एकसमय टिकती है। त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट होते हैं, फिर भी उनकी स्थिति एकसमय की है। दूसरे समय दूसरी दर्शन-ज्ञान पर्याय प्रगट होती है और तीसरे समय तीसरी दर्शन-ज्ञान पर्याय प्रगट होती है — इसप्रकार पर्याय पलटती है; परन्तु त्रिकाली चीज आत्मा ध्रुव है। उत्पन्न और विनष्ट होती पर्याय के पीछे-पर्याय के तल में ध्रुव है (और उसकी अपेक्षा से ये चारों भाव परस्वभाव हैं।) किसी को ऐसा लगता है कि अरे! ऐसी बात कहाँ से निकाली ? परन्तु भाई! यह तीनलोक के नाथ की बात है भगवान!

अब कहते हैं कि '**इसीलिए परद्रव्य है।**' यहाँ पर्याय को परद्रव्य कहते हैं प्रभु! परवस्तु की, पैसा, कीर्ति इत्यादि की तो यहाँ बात ही नहीं है। वे सब तो परवस्तु हैं ही और उनके साथ तो तेरा (आत्मा का) कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वे परवस्तुएँ तो उनके (जड़ के) कारण आती हैं, उनके कारण रहती हैं और उनके कारण जाती हैं। तेरे कारण वे परवस्तुएँ आती नहीं, रहती नहीं और जाती भी नहीं तथा तू पैसादि को देने जाए तो दे भी नहीं सकता; क्योंकि वह तेरी शक्ति के बाहर की बात है। परन्तु यहाँ तो अन्दर पर्याय के जो चार भाव हैं, वे भी परद्रव्य हैं, परवस्तु हैं — ऐसा कहते

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

हैं। क्यों ? क्योंकि जैसे परद्रव्य में से; शरीर, वाणी, कर्म, देव-शास्त्र-गुरु आदि किसी भी परपदार्थ में से अपनी पर्याय प्रगट नहीं होती; वैसे ही पर्याय में से नई पर्याय प्रगट नहीं होती। अहा! एकसमय की पर्याय में से नई पर्याय उत्पन्न नहीं होती; क्योंकि उस पर्याय का तो दूसरे समय व्यय हो जाता है। नई पर्याय की उत्पत्ति तो त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से होती है। इसलिए इस अपेक्षा से अर्थात् स्वद्रव्य की अपेक्षा से धर्म की पर्याय को भी परद्रव्य कहते हैं। गजब बात है! ऐसा कभी सुना नहीं होगा ? बापू! ऐसी बात है। अहा! क्या कहें ? किसको कहें ? कहाँ कहें ? अभी तो ऐसी गड़बड़ चली है कि खोटी बात को सत्य और सत्य बात को खोटी ठहराते हैं।

यहाँ कहते हैं कि राग-दया, दान का भाव परद्रव्य है — यह तो ठीक; परन्तु औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव, जो कि धर्मरूप भाव है, वह भी परद्रव्य है। वह परद्रव्य किसलिए है ? कि जैसे परद्रव्य में से नई पर्याय नहीं आती, वैसे ही औपशमिकादि भावों में से भी नई पर्याय नहीं आती। नई पर्याय तो अन्दर द्रव्य में खजाना भरा है, उसमें से निकलती है। अन्दर भगवान आत्मद्रव्य में पर्याय का खजाना भरा है, उसमें से नई पर्याय आती है; इसलिए चारों ही भाव परद्रव्य हैं। ऐसा अज्ञानी ने कहीं कभी सुना भी नहीं है, इसलिए वह 'यह करो और यह पालन करो' — ऐसी क्रिया में अटक जाता है। '**अप्पाणं वोसरे**' — ऐसे शब्द तो वह बोलता है; परन्तु उसके अर्थ का पता नहीं होता। एकबार दृष्टान्त दिया था न कि, '**लोगस्ससूत्र**' में आता है कि '**विहुयरयमला।**' परन्तु उसके बदले एक बुढ़िया ऐसा बोली कि 'वीहा रोई मल्या।' किसी को लगा कि लोगस्स में ऐसा कहाँ से आया ? अन्दर देखो तो सही। तब किसी ने (देखकर) कहा कि '**विहुयरयमला**' है। हे त्रिलोकनाथ! अपने **विहुय** अर्थात् विशेषपने अभाव किया है। क्या ? कि '**रय**' कर्म की रज और '**मल**'=पुण्य-पाप का भाव। जैसे धूल चिपटी हो तो पक्षी पंख फैलाकर उसे खिरा देता है; वैसे ही हे नाथ! आपने आत्मा के आनन्द का स्वाद लेकर इस कर्मरूपी रज का और पुण्य-पाप का अभाव किया है। कर्म की रज जड़ है और पुण्य-पाप का मैल जीव की पर्याय में है। हे प्रभु! आप इन दोनों का अभाव करके मोक्ष पधारे हैं। परन्तु अज्ञानी को ऐसे अर्थ का कुछ भी पता नहीं है और शब्द बोल जाता है। अरे रे! जीवन चला जाता है।

अहा! कहते हैं कि चार प्रकार की पर्याय में से नई पर्याय नहीं आती। पर्याय तो

www.vitragvani.com

त्रिकाली द्रव्य में से आती है। इसलिए इस अपेक्षा से त्रिकाली स्वद्रव्य की अपेक्षा से हम चारप्रकार की पर्यायों को परद्रव्य कहते हैं — ऐसा परमात्मा फरमाते हैं। देखो, पर्याय को परद्रव्य कहते हैं। क्यों ? क्योंकि उसमें से नई पर्याय नहीं आती। पर्याय की स्थिति ही एकसमय की है; अतः एकसमय की स्थिति में से दूसरी पर्याय कैसे आएगी ? जबकि पर्याय के पीछे प्रभु भगवान आत्मा त्रिकाली ध्रुव द्रव्य तो अनादि-अनन्त है और उसमें से पर्याय आती है। अतः इस अपेक्षा से ध्रुवद्रव्य को स्वद्रव्य कहा है और पर्याय को परद्रव्य कहा है। ऐसी बात है। दुनिया के साथ बात-बात में फेर है प्रभु! और इसीलिए दुनिया पागल ही कहती है। यह बात दुनिया के साथ मेल नहीं खाती। यह मेल खा ही नहीं सकती (क्योंकि यह तो अलौकिक बात है।)

प्रभु! एकबार सुन तो सही! शान्ति से सुन भाई! तेरे अस्तित्व में जो चारप्रकार की पर्याय है, उसकी स्थिति एकसमय की है, इसलिए उसमें से नई पर्याय नहीं आती। इसकारण उन चारों प्रकार की पर्यायों को, जिनमें एक अधर्म और तीन धर्मरूप पर्यायें हैं, उनको हम परद्रव्य कहते हैं। इसप्रकार तीन बोल कहे —

(१) औदयिकादि चारों ही प्रकार की पर्यायों को हेय कहा। किसकारण से ? कारण कि —

(२) वे परस्वभाव हैं और

(३) वे परस्वभाव हैं, इसीलिए परद्रव्य हैं।

लो, ऐसा कभी सुना था ? अरे रे! त्रिलोकनाथ परमेश्वर जिनेश्वर का यह अन्दर का माल रह गया और सभी अज्ञानियों ने ऊपर के छिलके को कूटा है।

यहाँ कहा कि चार भावरूप पर्याय है, उस पर भी दृष्टि देने योग्य नहीं है। हाँ, वह जाननेयोग्य हैं — जानने में आवे; परन्तु आदरणीय तो एक त्रिकाली द्रव्यस्वभाव-ध्रुवस्वभाव ही है। वह एक ही आदरणीय है। देखो, टीका में भी यही कहा है न कि चारों ही भाव हेय हैं। 'किसकारण से ? क्योंकि वे परस्वभाव हैं।' त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से वर्तमान पर्याय परस्वभाव है। त्रिकाली चैतन्य वस्तु-द्रव्यस्वभाव दृष्टि का विषय है, ध्येय है और उसकी अपेक्षा से पर्याय में उत्पन्न होनेवाले ये चारों भाव हेय हैं। अब, ऐसी बात होने पर भी अज्ञानी को शुभभाव को हेय मानना भी कठिन पड़ जाता है।

www.vitragvani.com

प्रश्न — दया, दान, व्रत, भगवान की भक्ति, पूजा आदि को हेय मानना और फिर भी वे सब करना.... ?

उत्तर — भाई! वैसा भाव होता है। अशुभभाव से बचने के लिए शुभभाव आता है; परन्तु है वह हेय। तात्पर्य यह है कि शुभभाव छोड़नेयोग्य है, आदरनेयोग्य नहीं।

अब कहते हैं कि '**सर्व विभावगुणपर्यायों से रहित शुद्ध–अन्तःतत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य उपादेय है।**' देखो, शुद्ध–अन्तःतत्त्वस्वरूप — यह भाव (गुण) है और उसको स्वद्रव्य कहा है। (अब) जरा सूक्ष्म बात आएगी। जब पर्याय को परद्रव्य कहा, तब शुद्ध–अन्तःतत्त्वस्वरूप जो त्रिकाली स्वभाव है, उसको स्वद्रव्य कहा है और उस स्वद्रव्य का आधार कारणसमयसार है — ऐसा कहेंगे। तो कहा है कि शुद्ध–अन्तःतत्त्वस्वरूप अर्थात् त्रिकाली भावस्वरूप जो द्रव्यस्वभाव है, वह उपादेय है।

'**वास्तव में सहजज्ञान–सहजदर्शन–सहजचारित्र–सहजवीतराग सुखात्मक शुद्ध अन्तःतत्त्वस्वरूप इस स्वद्रव्य का आधार सहज परम–पारिणामिकभाव लक्षण (सहज परम–पारिणामिकभाव जिसका लक्षण है ऐसा) कारणसमयसार है।**' ऊपर सर्व विभाव गुण पर्यायों से रहित जो शुद्ध अन्तःतत्त्व कहा था, अब उसकी व्याख्या करते हैं। वह शुद्ध अन्तःतत्त्व त्रिकाली सहजज्ञान–सहजदर्शन–सहजचारित्र–सहज परम–वीतराग सुखात्मकस्वरूप है और ऐसे शुद्ध अन्तःतत्त्वस्वरूप–शुद्ध अन्तःस्वभावभाव–स्वरूप स्वद्रव्य है। लो, शुद्ध अन्तःतत्त्व को स्वद्रव्य कहा है अर्थात् त्रिकाली स्वभावस्वरूप स्वद्रव्य है अहा! जब वर्तमान क्षणिक होनेवाली पर्याय को परद्रव्य कहा, तब नित्य रहनेवाले उसके त्रिकाली स्वभाव को, गुण को स्वद्रव्य कहा है और उस कायम रहनेवाले स्वभावस्वरूप स्वद्रव्य का आधार परम–पारिणामिकभाव लक्षण कारणसमयसार है — ऐसा कहते हैं। अद्भुत बात है।

अन्दर है न कि ध्रुवरूप जो अनन्तज्ञान–अनन्तदर्शन आदि हैं, उन स्वरूप शुद्ध अन्तःतत्त्व है और उस स्वरूप स्वद्रव्य है। अब कहते हैं कि उस स्वद्रव्य का आधार कौन है ? कि सहज परम–पारिणामिकभावलक्षण कारणसमयसार उसका आधार है। देखो, द्रव्य का भी कोई आधार है — ऐसा कहा है। अहा! जो त्रिकाली स्वभाव है, उसको स्वद्रव्य कहा और उस स्वद्रव्य का आधार सहज परम स्वभावभाव लक्षण कारणसमयसार है।

www.vitragvani.com

अहा! इस आत्मा के अतिरिक्त कर्म, शरीर, वाणी, मन आदि परद्रव्य तो कहीं दूर रह गये। उनको तो यहाँ परद्रव्यरूप से गिना ही नहीं है। यहाँ तो जीव की एकसमय की स्थितिवाली क्षायिकादि पर्याय को परद्रव्य कहा है और जब पर्याय को परद्रव्य कहा तब त्रिकाली स्वभाव को स्वद्रव्य कहा है। उस स्वद्रव्य का आधार एकरूप स्वभाववान कारणपरमात्मा/कारणसमयसार है अर्थात् स्वभावस्वरूप स्वद्रव्य का आधार स्वभाववान कारणपरमात्मा है। अहा! ५०वीं गाथा में गजब बात है।

यहाँ तो अपनी सत्ता में जो पर्याय होती है, उस पर्याय को परद्रव्य कहा है और त्रिकाली गुण-स्वभाव को स्वद्रव्य कहा है तथा स्वद्रव्य का आधार परम-पारिणामिकभाव लक्षण भगवान कारण समयसार है — ऐसा कहते हैं। गजब बात है! अरे! अन्यमत में तो कहीं ऐसे शब्द भी नहीं हैं। अहा! परद्रव्य तो परद्रव्य है ही, उसकी बात तो कहीं रही। वे तो उपचरित परद्रव्य हैं अर्थात् शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार आदि तो उपचरित परद्रव्य हैं। अब कहते हैं कि आत्मा में जो राग और क्षायिकादि पर्याय होती हैं, वे अनुपचरित परद्रव्य हैं; परन्तु वास्तविक स्वद्रव्य नहीं; क्योंकि वह पर्याय है। अब जब पर्याय को परद्रव्य कहा तब स्वद्रव्य कौन है ? कि त्रिकाली स्वभाव वह स्वद्रव्य है; तथापि वहाँ दृष्टि नहीं देना है। दृष्टि तो उसका आधार परम-पारिणामिकभाव लक्षण कारणसमयसार है, वहाँ देना है। लो, ऐसा कभी सुना भी नहीं होगा ?

श्रोता — आप एकदम नई बात ले आए हैं!

पूज्य गुरुदेवश्री — लाए क्या ? यह बात भगवान के पास है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि यह नियमसार तो मैंने अपने लिए बनाया है। अरे! यह शास्त्र उन्होंने बनाया है — ऐसा कहना भी व्यवहार है। उसका कारण यह है कि यह शास्त्र तो परमाणुओं की पर्याय है। यहाँ कहते हैं कि उस परमाणु की पर्याय को हम निश्चय से या व्यवहार से हमारी नहीं कहते। गजब बात है! हम तो अपनी आत्मा में अनन्त गुणों की जो अनन्त पर्यायें होती हैं, भले ही वह पर्याय औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक हो तो भी, उसका लक्ष्य छोड़ने के लिए उसे परद्रव्यरूप कहते हैं; क्योंकि उस अल्पसत्त्व में से नई आनन्द आदि दशा उत्पन्न नहीं होती। जैसे परद्रव्य में से आनन्द आदि दशा नहीं आती, वैसे ही औदयिकादि चारप्रकार की पर्याय में से भी आनन्द आदि दशा नहीं आती; इसलिए ये औदयिकादि चारप्रकार की पर्याय परद्रव्य

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

है। यद्यपि ये चारप्रकार की पर्यायें अपने (आत्मा में) अस्तित्व में है, किसी पर के अस्तित्व में नहीं; तथापि उनकी स्थिति एकसमय की है और उनमें से नया आनन्द प्रगट नहीं होता। इसकारण उनको (चारप्रकार की पर्यायों को) परद्रव्य कहा गया है। देखो, ऊपर भी कहा था न कि 'किसकारण से ? क्योंकि वे परस्वभाव हैं और इसीलिए परद्रव्य है।' — ऐसा कहा था। तात्पर्य यह है कि तीनों काल की पर्यायें परस्वभाव और परद्रव्य हैं। अब, जब तीनों काल की औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक पर्याय को परस्वभाव तथा परद्रव्य कहा तब स्वद्रव्य किसको कहना ? कि ध्रुवरूप रहनेवाले ज्ञान-आनन्दादि गुणों को स्वद्रव्य कहते हैं। पर्याय तो एकसमय रहनेवाली है, जबकि ज्ञान-आनन्दादि गुण तो त्रिकाली ध्रुवस्वभाव है। उस स्वभाव को यहाँ स्वद्रव्य कहते हैं और स्वद्रव्य का आधार कारणपरमात्मा है — ऐसा कहते हैं। ऐसी बात है! इसमें तो अमृत का समुद्र भरा है।

भगवान! जिसमें अनन्त गुण का भेद भी नहीं है — ऐसा एकरूप त्रिकाली द्रव्य तू है न! तू त्रिकाली कारणपरमात्मा है न नाथ! प्रभु! तुझमें अनन्तगुण हैं; परन्तु उनका भेद भी तुझमें नहीं है। तू तो एकरूप है। इसलिए यहाँ पर्याय को परद्रव्य में डाला और तेरा जो त्रिकाली ध्रुवस्वभाव है, उसको स्वद्रव्य कहा है तथा उस स्वद्रव्य का आधार कारणपरमात्मा है — ऐसा कहते हैं। अरे रे! ऐसी बात अन्यत्र कहाँ है ? कहीं नहीं है। यह बात-चीज ही कोई अलग है। यह तो अन्तर से आई हुई चीज है। तो कहते हैं कि यहाँ एकरूप चैतन्य के ज्ञानादिस्वभाव को स्वद्रव्य रूप कहा गया है। जो कारणसमयसार है, परम-पारिणामिक स्वभावभाव है, एकरूप सहज स्वभावभाव है- एकरूप त्रिकाली भगवान आत्मा के आश्रित रहनेवाले ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि स्वभाव को यहाँ स्वद्रव्य कहते हैं और उसका आधार कारणसमयसार है। अहा! ऐसी बात कान में पड़ना भी महाभाग्य है।

अहा! यहाँ परद्रव्य की तो बात ही नहीं है; परन्तु आत्मा के स्वभाव के दो भाग कर दिये हैं — (१) गुणस्वभाव और (२) पर्यायस्वभाव। अब जब उसके पर्यायस्वभाव को परद्रव्य कहा, तब उसके त्रिकाली गुणस्वभाव को स्वद्रव्य कहा है और इससे स्वद्रव्य में अनन्त गुण आते हैं। उस द्रव्य का आधार कौन है ? कि एकरूप कारणपरमात्मा स्वद्रव्य का आधार है। प्रभु! बात सूक्ष्म है! तो भी समझ में आनेयोग्य बात है। लोगों

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

को ऐसी बात नहीं बैठती इसलिए नई लगती है कि यह क्या कहते हैं कि स्वद्रव्य का आधार कारणसमयसार है। प्रभु! जो तेरी पर्याय में भी नहीं है — ऐसे शरीर, वाणी, मन, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार इत्यादि की तो यहाँ बात ही नहीं है। हम उनकी बात तो करते ही नहीं। वे तो परद्रव्य हैं, इसलिए उनके कारण आते हैं, उनके कारण रहते हैं और उनके कारण परिणमित होते हैं। उनके अस्तित्व में तेरा रंचमात्र भी अधिकार नहीं है। उनके द्रव्य-गुण में तो तेरा अधिकार नहीं; परन्तु उनकी पर्याय में भी तेरा अधिकार नहीं है। ऐसा है या नहीं ? (ऐसा ही है।) तो यहाँ हमने उनको परद्रव्य नहीं कहा है; क्योंकि जो भिन्न वस्तु है — ऐसे परद्रव्य की क्या बात करना ? परन्तु तुझमें जो औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव की पर्याय होती है, वह नित्य/स्थायी नहीं है तथा उस पर्याय के आश्रय से नये आनंद का लाभ नहीं होता — इसकारण हम उस पर्याय को परद्रव्य कहते हैं। गजब बात है। अन्तिम में अन्तिम-सार में सार बात है! अकेला मक्खन है!!

प्रभु तेरी जो पर्याय/अवस्था है, उसको हम परद्रव्य कहते हैं; क्योंकि उसकी ओर का लक्ष्य छुड़ाना है। उसका लक्ष्य छुड़ाने का कारण यह है कि प्रभु! पर्याय के लक्ष्य से तो आस्रव उत्पन्न होता है, इसलिए पर्याय को परद्रव्य कहते हैं और अनन्त गुणों को स्वद्रव्य कहते हैं तथा उस स्वद्रव्य का आधार कारणप्रभु है — ऐसा कहते हैं। अनन्त गुणों को स्वद्रव्य कहा; तो भी नई आनन्द और शान्ति की पर्याय का प्रवाह, धर्म की पर्याय का प्रवाह उस अनन्त गुणों के, जिसको स्वद्रव्य कहा था उसके, भेद पर लक्ष्य करने से नहीं आता। लो, कभी जिन्दगी में ऐसा सुना भी नहीं होगा।

अहा! अपने द्रव्य और गुण को तो एक ओर रखो; परन्तु अवस्था में भी तीनोंकाल पर का अस्तित्व नहीं है; क्योंकि परद्रव्य पर्याय का स्पर्श ही नहीं करते तथा अपनी पर्याय भी परद्रव्य का स्पर्श नहीं करती। अरे रे! यह बात कैसे बैठे ? तो अपनी पर्याय जिसका स्पर्श नहीं करती — ऐसी परद्रव्य की बात तो हम करते ही नहीं; परन्तु जो अपने अस्तित्व में है उस अपनी पर्याय के आश्रय से भी नई शान्ति-आनन्द उत्पन्न नहीं होते; इसलिए वह पर परद्रव्य है। भले ही (औपशमिक और क्षायोपशमिकभाव की) पर्याय में शान्ति और आनन्द हो; तो भी उसके आश्रय से नई शान्ति और आनन्द उत्पन्न नहीं होते; क्योंकि वह अभी अपूर्ण शान्ति और आनन्द है। अरे! क्षायिक पर्याय में

www.vitragvani.com

क्षायिकभाव के पूर्ण शान्ति और आनन्द होने पर भी वह एकसमय की पर्याय है और इसकारण उसके आधार से भी नवीन आनन्द और शान्ति की पर्याय नहीं आती। तात्पर्य यह है कि पर्याय में से पर्याय नहीं आती। इसकारण पर्यायस्वभाव को परद्रव्य कहा गया है और गुणस्वभाव को स्वद्रव्य कहा गया है।

अहा! यहाँ परद्रव्य की बात तो है ही नहीं; परन्तु जब अपनी एकसमय की केवलज्ञानादि क्षायिक पर्याय को परद्रव्य कहा, तब स्वद्रव्य कौन है ? कि त्रिकाली ध्रुवस्वभाव वह स्वद्रव्य है। अब जब अनन्तज्ञान–अनन्तदर्शन–अनन्तशान्ति–अनन्तस्वच्छता–अनन्तप्रभुता — ऐसे अनन्त शक्तिस्वभाव को स्वद्रव्य कहा, तब उसका आधार कौन है ? कि एकरूप कारणपरमात्मा उसका आधार है — ऐसी बात कभी सुनी है ? अहा! मुनिराज ने गजब काम किया है! **इस एक गाथा में द्वादशांग का सार भर दिया है।**

कहते हैं कि सहजज्ञान–त्रिकालीज्ञान, सहजदर्शन–त्रिकालीदर्शन, सहजचारित्र–त्रिकाली चारित्र, सहजपमवीतराग सुख–त्रिकाली परमवीतराग सुखस्वरूप जो शुद्ध अन्तःतत्त्व स्वरूप है.......देखो, '**अन्तःतत्त्वस्वरूप**' कहा है। भाई! तत्त्वार्थसूत्र में भी आता है न कि '**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शन।**' वहाँ तत्त्व को भाव और अर्थ को द्रव्य कहा है और उसकी श्रद्धा को समकित कहा है। यहाँ भी यही कहते हैं कि आत्मा में जो त्रिकाली भाव है वह स्वभाव है, स्वभाव वह स्वद्रव्य है तथा उसका आधार कारणपरमात्मा है — ऐसी बात है! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के अलावा कहीं यह बात सुनने नहीं मिल सकती। अरे! अभी तो सम्प्रदाय में भी फेरफार हो गया है; परन्तु कोई सत्य को असत्य करके और असत्य को सत्य करके मार्ग चलाना चाहे तो वह नहीं चल सकता। प्रभु! तू कौन है ? पर्याय का आधार तो नहीं तथा अनन्तगुणस्वरूप (भेदस्वरूप) भी नहीं है। तू तो अनन्त गुणों का आधार कारणपरमात्मा है। गजब बात है। **इस गाथा में से क्या निकालना ? कितना निकालना ? ऐसा लगता है।**

अहा! जब पर्याय की अनेकता को परद्रव्य कहा, तब गुण की अनेकता को स्वद्रव्य कहा है अर्थात् अनेक गुणरूप त्रिकाली स्वभाव को हम स्वद्रव्य कहते हैं और उस त्रिकाली स्वद्रव्य का आधार जो एकरूप भगवान आत्मा है, उसको कारणपरमात्मा–कारणसमयसार कहते हैं। धन्य भाग्य! (कि ऐसी बात रह गई।) अहा! ऐसा कारणपरमात्मा

www.vitragvani.com

है, उसकी अन्तर्दृष्टि करना धर्म है। त्रिकाली अनन्त गुणस्वरूप स्वद्रव्य का आधार जो एकरूप कारणसमयसार है.....त्रिकाली गुण अनेक/अनन्त हैं न ? अर्थात् दर्शन, ज्ञान आदि गुण अनेक हैं, जबकि उनका आधार कारणपरमात्मा-कारणसमयसार-एकरूप है और उसका ही आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन से लेकर मोक्ष तक की पर्यायें प्रगट होती हैं। लो, ऐसा तो कभी सुना ही नहीं होगा! दिगम्बर संतों की बात गजब है। उनमें भी ये तो कुन्दकुन्दाचार्य हैं। उसमें भी फिर वे कहते हैं कि यह शास्त्र तो मैंने मेरे लिए बनाया है। मेरे लिये मैं कहता हूँ कि **'पुव्वुत्तसयलभावापरदव्वं'** — जितनी पर्यायें हैं, वे सब परद्रव्य हैं और परस्वभाव हैं; क्योंकि उसके आश्रय से आत्मा की शान्ति की उत्पत्ति नहीं होती तथा वृद्धि भी नहीं होती। भले ही पर्याय में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव की शान्ति हो, तो भी उसके अवलम्बन से नई शान्ति और नया आनन्द नहीं आता तथा वृद्धि भी नहीं होती। इसलिए मैं (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) पर्याय को परद्रव्य कहता हूँ तथा अनन्त गुणरूप जो स्वद्रव्य है, उसका (भेद का) आश्रय करने से भी इन्कार करता हूँ; क्योंकि आश्रय करनेयोग्य तो स्वद्रव्य का आधार जो कारणसमयसार है, वह एक ही है — ऐसी बात है।

अरे! अभी तो अज्ञानी बाहर में विवाद करता है कि शुभराग-व्यवहार से धर्म होता है। अरे प्रभु! यहाँ तेरे हित की बात है नाथ! परिभ्रमण करते-करते अनन्तकाल हुआ; तो उस अनन्तकाल में (तू) कहाँ रहा ? कैसे रहा ? और कैसे भव किये ? उसका भाई! तूने विचार नहीं किया। भाई! संसार में कोई शरण नहीं है। तू जंगल में हिरण होकर भटकता था, तब किसी ने तुझे बन्दूक की गोली से मार दिया अथवा सिंह ने आकर फाड़ खाया। प्रभु! तूने ऐसे-ऐसे अनन्त अवतार किये हैं; क्योंकि तू अस्तित्व वाली चीज है। अब उस समस्त अज्ञानमय अस्ति को छोड़ने के लिए और प्रभु को पहुँचने (आत्मा को प्राप्त करने) के लिए हम अनन्त गुण को स्वद्रव्य कहते हैं और अनन्तगुण के एकरूप आधार को कारणसमयसार कहते हैं। (जो कि आश्रय करनेयोग्य है।) देखो, आधार में 'द्रव्य' शब्द नहीं लिया; परन्तु 'कारणसमयसार' शब्द लिया है। इसका कारण यह है कि उस कारण के आश्रय से कार्य होता है।

यहाँ कहते हैं कि शुद्ध अन्तःतत्त्वस्वरूप...'अन्तःतत्त्व' — ऐसा शब्द है न ? तो यह भाव (गुण) कहा। तात्पर्य यह है कि अन्तःतत्त्व कहकर भाव कहा है और वह अन्तर त्रिकाली स्वभाव स्वद्रव्य है। जबकि उसका आधार सहजपरमपारिणामिकभावलक्षण

www.vitragvani.com

कारणसमयसार है। अहा! आचार्यों–संतों की बात गजब है। दिगम्बर संतों के अलावा अन्यत्र कहीं ऐसी एकाध पंक्ति भी नहीं है।

श्रोता — अभी तो ऐसी बात आपके सिवा अन्यत्र कहीं नहीं है। यदि आपने ऐसे अर्थ नहीं निकाले होते तो पता ही कैसे पड़ता ?

पूज्य गुरुदेवश्री — भाई! हमने तो सम्प्रदाय के सभी शास्त्र देखे हैं; परन्तु यह चीज — यह एक पंक्ति भी — उसमें (श्वेताम्बर में) नहीं है। यह तो गजब बात है! प्रभु! तुझको अपना हित करना हो तो–तेरा श्रेय और धर्म करना हो तो–पर्याय के आश्रय से नहीं होता तथा अनन्तगुणरूपी अंश के (भेद के) आश्रय से भी नहीं होता; क्योंकि गुण भी एक अंश है। तेरा हित, श्रेय और धर्म तो उन अनन्त गुणों का आधार जो कारणसमयसार है, उसके आश्रय से होगा। देखो, पर्याय को परद्रव्य कहा और गुण को स्वद्रव्य कहा; परन्तु द्रव्य को आधार नहीं कहा; कारणसमयसार को आधार कहा है; क्योंकि उस आधाररूप कारण में से कार्य आता है। वीतराग का मार्ग ऐसा है और दिगम्बर संतों के अलावा उसका ऐसा कथन कहीं नहीं है। बापू! ऐसा कथन लोगों को कड़क लगता है; परन्तु प्रभु! यह कड़क नहीं है; क्योंकि प्रभु! तेरी चीज ही ऐसी है न! तू ही ऐसा है न! जिन अनन्तगुणों को स्वद्रव्य कहा है, उनका आधार ऐसा कारणसमयसार तू स्वयं है अर्थात् तू ही अनन्तगुण के कारणरूप (आधाररूप) है; इसलिए प्रभु! उस कारणसमयसार का आश्रय ले कि जिससे उसमें से कार्य आवे। इसके अतिरिक्त पर्यायरूप परद्रव्य में से अथवा (अनन्तगुणरूप) स्वद्रव्य में से कार्य नहीं आता — ऐसी बात है।

अहा! कहते हैं कि शुद्ध अन्तःतत्त्वस्वरूप स्वभाव सो स्वद्रव्य है और उसका आधार वह कारणसमयसार है, जो कि आश्रय करनेयोग्य है। क्यों ? क्योंकि जो शुद्ध अन्तःतत्त्व है, वह अनन्तगुणमय है, इसकारण उसके (भेद के) आश्रय से तेरा कार्य सिद्ध नहीं होता। प्रभु! तेरा कार्य तो अनन्तगुण का आधार जो कारणसमयसार है, उसके आश्रय से सिद्ध होता है। देखो, आधाररूप से द्रव्य नहीं लिया, अपितु कारणसमयसार लिया है; क्योंकि अपने कार्य का कारण वह कारणसमयसार है। सम्यग्दर्शनरूपी कार्य, सम्यग्ज्ञानरूपी कार्य, सम्यक्चारित्ररूपी कार्य, केवलज्ञानरूपी कार्य इत्यादि समस्त कार्य का कारण कारणसमयसार है। अहो! ऐसी बात तो (प्रवचन में कौन जाने) कब आई होगी ? ५०वीं गाथा बहुत अलौकिक है।

www.vitragvani.com

प्रश्न — त्रिकाली कारणसमयसार का लक्षण क्या है ?

उत्तर — त्रिकाली कारणसमयसार का लक्षण परमपारिणामिकभाव है; परन्तु भेदरूप अनन्त गुणमयस्वभाव उसका लक्षण नहीं है। देखो, त्रिकाली कारणसमयसार प्रभु आत्मा का यह लक्षण नहीं लिया कि अनन्तगुण; परन्तु अनन्तगुण का आधार कारणसमयसार है — ऐसा कहकर, उसका लक्षण सहज परमपारिणामिकभाव है — ऐसा कहा है और ऐसे भगवान कारणसमयसार के आश्रय से समस्त कार्य की सिद्धि है प्रभु! गजब बात है। यह बात कठोर लगे, महँगी (कठिन) लगे या अपूर्व लगे; तो भी वस्तु (वस्तुस्वरूप) तो यह है। यह तीनलोक के नाथ तीर्थंकरदेव का फरमान है। अनन्त तीर्थंकरों, अनन्त केवलियों, अरे! अनन्त संतों का अन्त में अन्त (सार में सार) यह फरमान है कि भाई! पर्यायरूप परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ दे और जो अनन्तगुण के भेदरूप स्वद्रव्य है, उसका भी लक्ष्य छोड़ दे; क्योंकि लक्ष्य करनेयोग्य तो सहजपरमपारिणामिकभावलक्षण कारण-समयसार है। गजब टीका की है।

देखो, यहाँ ऐसा कहा कि स्वाभाविक परमपारिणामिकभावलक्षण कारणसमयसार है; परन्तु वह कारणसमयसार अनन्तगुणों का आधार है, इसलिए उसका लक्षण गुण है — ऐसा नहीं कहा। अहा! जो अनन्त गुणों का आधार है, उस कारणसमयसार का लक्षण क्या है ? वह लक्ष्य किस लक्षण से ज्ञात होता है ? कि सहज परमपारिणामिकभाव लक्षण से वह लक्ष्य ज्ञात होता है। धन्य भाग्य! (कि ऐसी बात सुनने को मिलती है।) यह तो वीतराग की वाणी है। यह त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का फरमान है। अरे! परमात्मा महाविदेह में रह गये और वाणी यहाँ आई। श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री सीमन्धर भगवान के पास गये थे और वहाँ से परमात्मा का यह माल लाये-परमात्मा की यह वाणी लाये कि '**पुव्वुत्तसयलभावा**' — पूर्व में जो सब भाव कहे थे, वे पर्याय के भेद '**परदव्वंपरसहावमिदिहेयं**' — परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं और इससे हेय हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि हमने तीनलोक के नाथ के पास यह सुना है; क्योंकि वे वहाँ गये थे न? तथा '**सगदव्वभुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा**' — स्वद्रव्य उपादेय है। परन्तु वह स्वद्रव्य माने कौन ? कि अन्तःतत्त्वस्वरूप जो अनन्तगुण-भाव है, उसका एकरूप (उसका आधार) ऐसा वह कारणसमयसार — '**अप्पा**' आत्मा अर्थात् स्वद्रव्य है। लो, यह गाथा का अर्थ किया और ऐसा भगवान की वाणी में आया है।

www.vitragvani.com

अरे! अज्ञानी निश्चयनय के कथन की हँसी करता है और व्यवहारनय के कथनों में मजा मानता है। अहा! वह भी स्वतंत्र प्रभु है! परन्तु भाई! ऐसी बात सुनने का अवसर कब आयेगा ? (कठिनता से ही ऐसा अवसर आता है।)

अब, टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव के कलश का आधार देते हैं।

'जिसके चित्त का चरित्र उदात्त (उदार, उच्च, उज्ज्वल) है — ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करो कि.......' जिनके ज्ञान का अभिप्राय उदार है, जिसके चित्त का अर्थात् ज्ञान का और चारित्र अर्थात् आचरण उदार है-उच्च है....क्या कहा ? कि जिसके ज्ञान का चरित्र अर्थात् अन्दर आत्मरमणता-आत्मज्ञान की रमणता उदार है, उच्च है, उज्ज्वल है — ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करो कि — **'मैं तो शुद्धचैतन्यमय एक परमज्योति ही सदैव हूँ'** — चैतन्यमय कहने से चैतन्यवाला ऐसा भेद भी नहीं तथा 'एक' कहने से गुणभेद भी नहीं। तो कहते हैं कि मैं तो सदा-तीनोंकाल एक परम शुद्धचैतन्य ज्योति ही हूँ — ऐसा कहकर त्रिकाली द्रव्य बताया और 'ही' कहकर सम्यक् एकान्त किया है; परन्तु कथंचित् परम ज्योति हूँ और कथंचित् पर्यायवाला हूँ — ऐसा नहीं कहा है। अहा! मैं तो सदा ही एकरूप हूँ।

'और ये जो भिन्न लक्षणवाले विविधप्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वह मैं नहीं हूँ।' मेरे त्रिकाली ज्ञायकभाव से भिन्न लक्षणवाले अनेकप्रकार के भाव प्रगट होते हैं वह मैं नहीं हूँ। यद्यपि अनेकप्रकार के भाव हैं अवश्य-प्रगट होते अवश्य हैं; परन्तु वह मैं नहीं हूँ।

'क्योंकि वे सब मुझे परद्रव्य हैं।' मेरा स्वभाव जो चैतन्यमय एक परमज्योति है, उसके अतिरिक्त सब मुझे परद्रव्य है। जो एक परमज्योतिस्वरूप त्रिकाली कारणसमयसार है, वह मैं 'स्व' हूँ और इसके अतिरिक्त सब परद्रव्य है अर्थात् गुणभेद और पर्यायभेद भी परद्रव्य है और तब फिर दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजादि की तो बात ही क्या करना ? तथापि अज्ञानी उनमें अतिशयता मान लेता है। रथयात्रा, पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा आदि में दान किया हो तो वह सब बाहर की बातें हैं। बापू! उसमें कदचित् राग की मंदता का भाव हो तो पुण्य है; परन्तु वह पुण्य कोई चीज (धर्म) नहीं है तथा उस पुण्य से कुछ प्रसन्न हो जाने जैसा भी नहीं है कि ओहो-हो! मैंने बहुत किया। भाई! यह पैसा परद्रव्य

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

है और इसलिए उसको लेना-देना या रखना आत्मा के अधिकार की बात ही नहीं है। उसमें आत्मा का अधिकार त्रिकाल में भी नहीं है; फिर भी उसमें ऐसा मान लेना कि हमने दान में बहुत पैसा दिया है, इसलिए कुछ भव कम होंगे या धर्म होगा (तो यह मान्यता मिथ्यात्व है।) यहाँ तो भाई! प्रभु ऐसा कहते हैं कि हो, शुभभाव हो; अशुभभाव से बचने के लिए ऐसा शुभभाव-व्यवहार आए बिना नहीं रहता; परन्तु वह कोई धर्म नहीं है और वह (शुभभाव) आता है तो धर्म है — ऐसा भी नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि शुभभाव भी मुझे तो परद्रव्य है। मुझे और उसके कोई सम्बन्ध नहीं है।

कलश ७४ पर प्रवचन

'शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य ऐसे जो सब पुद्गलद्रव्य के भाव, वे वास्तव में हमारे नहीं हैं।' देखो, यहाँ 'शुद्ध जीवास्तिकाय शब्द लिया है; परन्तु 'शुद्ध जीव' — ऐसा शब्द नहीं लिया है; क्योंकि जीव के असंख्यप्रदेश लेना है। शुद्ध जीवास्तिकाय कहने से असंख्यप्रदेशी अनन्तगुण का पिण्ड ऐसा जीव जो कि एक त्रिकाली पदार्थ है। (ज्ञानी जानता है कि) मैं तो एक शुद्ध जीवास्तिकाय हूँ। मेरी अस्ति/मेरी हयाती/मेरी मौजूदगी तो शुद्ध जीवास्तिकायरूप है अर्थात् मैं तो असंख्यप्रदेशी और अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ। मेरे से अन्य जो सब पुद्गलद्रव्य के भाव हैं, वे वास्तव में मेरे नहीं हैं, मेरी चीज नहीं है। लो, ऐसा कहकर अस्ति-नास्ति की है। त्रिकाली जीवास्तिकाय है, वह मैं हूँ — ऐसा कहकर अस्ति की है और इसके अतिरिक्त जो सब पुद्गल है, वह मैं नहीं हूँ — ऐसा कहकर नास्ति की है।

'ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से कहते हैं।' — इसप्रकार जो कोई तत्त्व का जाननेवाला है, वह कहता है। शुद्ध जीवास्तिकाय एकस्वरूप तत्त्व है और उससे अन्य सब पुद्गलस्वभावी हैं — ऐसा जो तत्त्व को जाननेवाला है, वह स्पष्टरूप से कहता है। देखो, कलश में तत्त्ववेदी ऐसी बात 'स्पष्टरूप से कहता है' — ऐसा है; परन्तु इसका अर्थ यह है कि वह इस बात को स्पष्टरूप से जानता है, क्योंकि 'कहता है' — यह तो कथन की/वाणी की बात है। अहा! मैं एक शुद्ध जीवास्तिकाय अस्ति-हयातीवान तत्त्व हूँ। असंख्यप्रदेशी और अनन्तगुण का एकरूप पिण्ड ऐसे निज शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य जितने भाव हैं, वे सब पुद्गलद्रव्य के भाव हैं। इसलिए मैं उनसे

www.vitragvani.com

भिन्न हूँ — ऐसा तत्त्व का वेदी-जाननेवाला स्पष्टरूप से जानता है। अन्दर कलश में 'वक्ति' शब्द है; परन्तु वह तो एक कथन है, शब्द है, समझाने के लिए एक शैली से कहा है। बाकी तत्त्ववेदी तो ऐसा जानता है कि मैं तो एक शुद्ध जीवास्तिकाय भगवान हूँ। मैं पूर्णानन्द का नाथ चैतन्यस्वरूप हूँ। मुझसे अन्य जो सब भाव हैं, वे पुद्गलद्रव्य के हैं। लो, यहाँ तो क्षायिकभाव को भी पुद्गलद्रव्य में डाल दिया है। उसमें पुद्गल निमित्त है न? इसलिए इस अपेक्षा से क्षायिकभाव आदि सबको पुद्गल में डाल दिया है।

त्रिकाली शुद्ध-उपादानरूप जो शुद्ध जीवास्तिकाय है....(काय=समूह=असंख्यप्रदेश) वहीं मैं हूँ — ऐसा जो तत्त्व का ज्ञाता अथवा अन्दर में तत्त्व का वेदन करनेवाला कहता है अर्थात् वह इसतरह का वेदन करता है-जानता है। **'और वे अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं।'** बहुत संक्षिप्त में कहा है। अहा! एक और भगवान पूर्णानन्द प्रभु आत्मा है और दूसरी ओर पर्याय आदि समस्त भेद हैं, जो कि पर हैं। सो मैं तो त्रिकाली जीवास्तिकाय हूँ — ऐसे तत्त्व को जानपनेसहित-ज्ञानसहित उसका वेदन करनेवाला अर्थात् तत्त्व को ज्ञेय बनाकर उसका वेदन करनेवाला जीव स्पष्टरूप से जानता है और वह अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होता है।

अहा! जो कोई स्पष्टरूप से तत्त्व का वेदन करता है अर्थात् प्रत्यक्षरूप से तत्त्व का वेदन करता है, वह अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होता है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप अखण्ड अभेद है, जबकि अन्य सब चीज पर है। इसप्रकार भेदज्ञानपूर्वक तत्त्व का वेदन करनेवाला/अनुभव करनेवाला जीव अति अपूर्व अर्थात् अनन्तकाल में नहीं हुई — ऐसी अपूर्व सिद्धि को प्राप्त करता है। अहो! अत्यन्त संक्षिप्त! अत्यन्त संक्षिप्त में कहा है। देखो, किसी क्रिया या व्यवहार की कोई बात ही नहीं की है। हाँ, बात यह की है कि एक ओर भगवान आत्मा है और दूसरी ओर पर है-विकल्प, भेद से लेकर समस्त परचीज है। (तो तत्त्ववेदी ऐसा जानता है कि) एकरूप-अभेदस्वरूप चिदानंदमय प्रभु आत्मा की अपेक्षा से भेद से लेकर समस्त परचीज पुद्गलद्रव्य है; परन्तु मेरा स्वरूप नहीं है — ऐसा जानता हुआ वह अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होता है।

अरे! अज्ञानी को तो ऐसी बात सुनना भी कठिन पड़ती है। अरे! वह अनन्तकाल से परिभ्रमण करता है। चौरासी के अवतार में भटकते-भटकते अनन्त-अनन्तकाल व्यतीत हो गया है, फिर भी उसने अरे रे! अपने पूर्णस्वरूप की ओर-अपना निजनिधान

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

जो शुद्ध जीवास्तिकाय है, उस ओर नजर भी नहीं की है। अहा! यहाँ 'अशुद्ध जीव' तो कहा नहीं; परन्तु मात्र 'जीव' भी नहीं कहा है; 'शुद्ध जीवास्तिकाय' कहा है और 'काय' कहकर असंख्यप्रदेश कहे हैं। वह असंख्यप्रदेशी एकरूप शुद्ध जीवास्तिकाय मेरा है और उसके अतिरिक्त समस्त पुद्गल के भाव मेरे नहीं हैं। इसप्रकार जो कोई तत्त्व का जाननेवाला-वेदन करनेवाला है वह जानता है, कहता है।

भाई! समयसार की प्रत्याख्यान की (३४वीं) गाथा में कहा है न कि आत्मा को राग का त्याग भी नाममात्र है। क्यों ? क्योंकि जहाँ आत्मा यह जानता है कि मैं तो आत्मा हूँ और यह राग भिन्न है, वहीं ज्ञान में राग को ग्रहण नहीं किया; अपितु स्वयं अपने में स्थिर हुआ और इसी को राग का त्याग कहा जाता है। भाई! कड़क बात है। अहा! जो भगवान आत्मा है......परन्तु सर्वज्ञ परमात्मा ने जो असंख्यप्रदेशी आत्मा कहा वह (अर्थात् वह भगवान आत्मा; अज्ञानी का कल्पित आत्मा नहीं।) जिसके प्रदेश असंख्य और गुण अनन्त हैं — ऐसा जो शुद्ध जीवास्तिकाय है, वह मेरा स्वरूप है। जो इसप्रकार जानकर, उसका वेदन करता है, वह तत्त्ववेदी अपूर्व सिद्धि को प्राप्त करता है। प्रभु बात तो ऐसी (अपूर्व-अद्भुत) है! लो, इसमें व्यवहार की तो कोई बात ही नहीं ली; मात्र दो बातें की हैं — (१) एक ओर शुद्ध जीवास्तिकाय भगवान आत्मा है और (२) दूसरी ओर समस्त पुद्गल के भाव हैं।

अहा! शुद्ध जीव की सत्ता-अपनी अस्ति-काय अर्थात् असंख्यप्रदेशी है। यह असंख्य प्रदेश की बात सर्वज्ञ के अलावा अन्यत्र कहीं नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञ के अलावा किसी ने भी असंख्यप्रदेशी जीव जाना-देखा नहीं है और अन्यमत में तो कोई सर्वज्ञ है नहीं। — इसलिए उनने (अन्यमतवालों ने) आत्मा के असंख्यप्रदेश नहीं जाने हैं। इसकारण यहाँ यह कहा है कि शुद्ध जीवास्तिकाय। अपनी अस्ति पुद्गल और अशुद्धता रहित असंख्यप्रदेशरूप जो काय है, उसमय है। लो, अपनी काय तो यह असंख्यप्रदेशी है; परन्तु यह (औदारिक) काय अपनी नहीं है तथा पुण्य-दया, दान आदि रागरूप जो विकारी काय है, वह भी अपनी नहीं है; क्योंकि वह तो पर-पुद्गलमय है।

अहा! अपना स्वरूप शुद्ध-निर्मल अस्तिवाला है, काय-असंख्यप्रदेशों के समूहवाला है तथा अनन्त गुणों का धारक है। जो ऐसे स्वरूप का ज्ञान करके, उसका वेदन करता है-अनुभव करता है, वह अत्यन्त अपूर्व मुक्ति को प्राप्त करता है। लोगों को बैठना (जँचना) कठिन पड़े वैसी बात है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

यहाँ यह बात की है कि त्रिकाली ज्ञायकभाव चैतन्यस्वभावी, असंख्यप्रदेशी और अनन्तगुण का पिण्ड है। अहा! जीव, वह द्रव्य है; असंख्यप्रदेश, वह क्षेत्र है; त्रिकाल-अनादि-अनन्त रहनापना, वह काल है और अनन्तगुण, वह भाव है। इसप्रकार उसकी (जीव की) काय अनन्तगुण के पिण्डरूप असंख्यप्रदेशी है और ऐसा तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से वेदन करता है-जानता है। कलश में 'कहता है' — ऐसा है; परन्तु वह तो एक भाषा-कथन शैली है। (वास्तव में तो तत्त्ववेदी ऐसा जानता है — यह कहना है।) ऐसे तत्त्व को जाननेवाला अर्थात् तत्त्व इसप्रकार से है — ऐसा जाननेवाला तत्त्ववेदी है; परन्तु दूसरे मिथ्या प्रकार से तत्त्व को जाननेवाला तत्त्ववेदी नहीं है — ऐसा कहते हैं। अरे! यह बात जगत को बहुत कठिन लगती है। अरे रे! ऐसी बात वीतराग के अतिरिक्त कहाँ सुनने को मिलेगी ?

यहाँ तो पर्याय भी आत्मा नहीं है — ऐसा कहकर उसको छोड़ दिया है। (उसका लक्ष्य छुड़ाया है।) परवस्तु आत्मा में नहीं है, दया-दान का राग आत्मा में नहीं है और पर्याय भी आत्मा में नहीं है — ऐसा कहते हैं। आत्मा तो अकेला शुद्ध जीवास्तिकाय वस्तु है। शुद्ध=पवित्र, जीव=आत्मा, अस्ति=हयाती, काय=असंख्यप्रदेश। पवित्र अस्तिवाला और असंख्यप्रदेशी जिसका स्वरूप है — ऐसे तत्त्व को जो अन्तर्मुख होकर जानता है तथा जानकर वेदन करता है-अनुभव करता है, वह तत्त्ववेदी अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होता है।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय है। जो उसके अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करता है, वह अत्यन्त अपूर्व-अनन्तकाल में एकसमय के लिए भी नहीं प्राप्त ऐसी अपूर्व-सिद्धि को प्राप्त होता है। भगवान! बात ऐसी है। दुनिया से एकदम अलग बात है। ●

हे आत्मन्! तू जिसप्रकार काम के बाणों से पीड़ित होकर स्त्री के संयोग से प्राप्त होनेवाले सुख के विषय में अपने चित्त को करता है, उसीप्रकार यदि मुक्ति के कारणभूत जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट मत के विषय में उस चित्त को करता तो जन्म, जरा और मरण के दुःख से छूटकर किस-किस सुख को प्राप्त न होता, सबप्रकार के सुख को पा लेता - ऐसा उत्तम स्थिर बुद्धि से विचार करके उक्त जिनेन्द्र के मत में चित्त को स्थिर कर। - **श्री सुभाषितरत्नसंदोह**

नियमसार गाथा–५१–५५

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं ॥५१॥
चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
अधिगमभावो णाणं हेयोवादेयतच्चाणं ॥५२॥
सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥
सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।
ववहारणिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि ॥५४॥
ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्य होदि तवचरणं।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥५५॥

विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम्।
संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं भवति संज्ञानम् ॥५१॥
चलमलिनमगाढत्वविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम्।
अधिगमभावो ज्ञानं हेयोपादेयतत्त्वानाम् ॥५२॥
सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनसूत्रं तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः।
अन्तर्हेतवो भणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः ॥५३॥
सम्यक्त्वं संज्ञानं विद्यते मोक्षस्य भवति शृणुचरणम्।
व्यवहारनिश्चयेन तु तस्माच्चरणं प्रवक्ष्यामि ॥५४॥
व्यवहारनयचरित्रे व्यवहारनयस्य भवति तपश्चरणम्।
निश्चयनयचारित्रे तपश्चरणं भवति निश्चयतः ॥५५॥

(हरिगीत)

मिथ्याभिप्राय विहीन जो श्रद्धान वह सम्यक्त्व है।
संशय, विमोह, विभ्रान्ति विरहित ज्ञान सुज्ञानत्व है ॥५१॥
चल, मल, अगाढ़पने रहित श्रद्धान वह सम्यक्त्व है।
आदेय, हेय पदार्थ का अवबोध सुज्ञानत्व है ॥५२॥

www.vitragvani.com

जिनसूत्र समकितहेतु है, अरु सूत्रज्ञाता पुरुष जो।
वह जान अंतर्हेतु जिसके दर्श-मोहक्षयादि हो॥५३॥
सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान अरु चारित्र मोक्ष उपाय है।
व्यवहार निश्चय से अतः चारित्र मम प्रतिपाद्य है॥५४॥
व्यवहारनयचारित्र में व्यवहारनय तप जानिये।
चारित्र निश्चय में तपश्चर्या नियत-नय मानिये॥५५॥

गाथार्थ :— विपरीत अभिनिवेश* रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है; संशय, विमोह और विभ्रम रहित (ज्ञान) वह सम्यग्ज्ञान है।

चलता, मलिनता और अगाढ़ता रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है; हेय और उपादेय तत्त्वों को जाननेरूप भाव वह (सम्यक्) ज्ञान है।

सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र है; जिनसूत्र के जाननेवाले पुरुषों को (सम्यक्त्व के) अंतरंग हेतु कहे हैं, क्योंकि उनको दर्शनमोह के क्षयादिक हैं।

सुन, मोक्ष के लिए सम्यक्त्व होता है, सम्यग्ज्ञान होता है, चारित्र (भी) होता है, इसलिए मैं व्यवहार और निश्चय से चारित्र कहूँगा।

व्यवहारनय के चारित्र में व्यवहारनय का तपश्चरण होता है; निश्चयनय के चारित्र में निश्चय से तपश्चरण होता है।

टीका :— यह, रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है।

प्रथम, भेदोपचार-रत्नत्रय इसप्रकार है — विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धानरूप ऐसा जो सिद्धि के परम्पराहेतुभूत भगवन्त पंचपरमेष्ठी के प्रति उत्पन्न हुआ चलता-मलिनता-अगाढ़ता रहित निश्चल भक्तियुक्तपना वही सम्यक्त्व है। विष्णुब्रह्मादिकथित विपरीत पदार्थसमूह के प्रति अभिनिवेश का अभाव ही सम्यक्त्व है — ऐसा अर्थ है। संशय, विमोह और विभ्रम रहित (ज्ञान) ही सम्यग्ज्ञान है। वहाँ, जिन देव होंगे या शिव देव होंगे (ऐसा शंकारूप) वह संशय है; शाक्यादिकथित वस्तु में निश्चय (अर्थात् बुद्धादि कथित पदार्थ का निर्णय) वह विमोह है; अज्ञानपना (अर्थात् वस्तु क्या है तत्संबंधी अजानपना) ही विभ्रम है। पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम वह चारित्र है। ऐसी

* अभिनिवेश=अभिप्राय; आग्रह।

www.vitragvani.com

भेदोपचार-रत्नत्रयपरिणति है। उसमें, जिनप्रणीत हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यक्त्वपरिणाम का बाह्य सहकारी कारण वीतरागसर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है। जो मुमुक्षु हैं उन्हें भी उपचार से पदार्थनिर्णय के हेतुपने के कारण (सम्यक्त्वपरिणाम के) अन्तरंग हेतु कहे हैं, क्योंकि उन्हें दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं।

अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयपरिणतिवाले जीव को, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है ऐसे निज परमतत्त्व की श्रद्धा द्वारा, तद्ज्ञानमात्र (उस निज परमतत्त्व के ज्ञानमात्रस्वरूप) ऐसे अन्तर्मुख परमबोध द्वारा और उसरूप से (अर्थात् निज परमतत्त्वरूप से) अविचलरूप से स्थित होनेरूप सहजचारित्र द्वारा अभूतपूर्व* सिद्धपर्याय होती है। जो परमजिनयोगीश्वर पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं, उन्हें वास्तव में व्यवहारनयगोचर तपश्चरण होता है। सहजनिश्चयात्मक परमस्वभावरूप परमात्मा में प्रतपन सो तप है; निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र इस तप से होता है।

इसीप्रकार एकत्वसप्तति में (श्री पद्मनन्दि-आचार्यदेवकृत पद्मनन्दिपंचविंशतिका नामक शास्त्र में एकत्वसप्तति नाम के अधिकार में १४वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

(अनुष्टुभ्)

''दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोधः इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः॥''

(दोहा)

आतम निश्चय दर्श है आत्मबोध ही ज्ञान।
आत्मलीनता चरित - इन त्रय मिल शिवपथ जान॥

श्लोकार्थ :— आत्मा का निश्चय वह दर्शन है, आत्मा का बोध वह ज्ञान है, आत्मा में ही स्थिति वह चारित्र है — ऐसा योग (अर्थात् इन तीनों की एकता) शिवपद का कारण है।

और (इस शुद्धभाव अधिकार की अन्तिम पाँच गाथाओं की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं) —

* अभूतपूर्व=पहले कभी न हुआ हो; अपूर्व।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

(मालिनी)

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा
चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम्।
अघकुलमलपंकानीकनिर्मुक्तमूर्तिः
सहजपरमतत्त्वे संस्थिता चेतना च॥७५॥

(हरिगीतिका)

यह सहज ज्ञान तथा सहज दृष्टि सदा जयवन्त है।
इस तरह सहज विशुद्ध चारित्र भी सदा जयवन्त है॥
जो पापपुञ्ज विहीन कर्दम पंक्ति से नित रहित है।
संस्थित सहज निज तत्त्व में वह चेतना जयवन्त है॥७५॥

श्लोकार्थ :— सहजज्ञान सदा जयवन्त है, वैसी (सहज) यह दृष्टि सदा जयवन्त है, वैसा ही (सहज) विशुद्ध चारित्र भी सदा जयवन्त है; पापसमूहरूपी मल की अथवा कीचड़ को पंक्ति से रहित जिसका स्वरूप है ऐसी सहजपरमतत्त्व में संस्थित चेतना भी सदा जयवन्त है।७५।

इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य के समान है और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में) **शुद्धभाव अधिकार** नाम का तीसरा श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

गाथा ५१ से ५५ तक टीका पर प्रवचन

'यह रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है।' रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र — ये तीन रत्न हैं और इन रत्नों के मूल्य में मुक्ति प्राप्त होती है। ये दुनिया के हीरा, माणिक, रत्न तो धूल के हैं। शुद्ध चिदानन्द मूर्ति भगवान आत्मा का दर्शन-ज्ञान और चारित्र सो रत्नत्रय है और यह तीन मुक्ति का हेतु-कारण है, अन्य कोई मुक्ति का कारण नहीं है।

अब प्रथम व्यवहाररत्नत्रय कहते हैं। **'प्रथम, भेदोपचार-रत्नत्रय इसप्रकार है।'** निश्चयरत्नत्रय तो मोक्ष का मार्ग है, जबकि भेदोपचार-रत्नत्रय अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय

www.vitragvani.com

शुभराग है। फिर भी वह बीच में आता है। जब तक अन्दर में निश्चय मोक्षमार्ग (वीतरागता) पूर्ण न हो, वहाँ तक व्यवहार-राग आता है; परन्तु वह राग आदरणीय नहीं है, हेय है। उस व्यवहाररत्नत्रय की बात यहाँ करते हैं कि भेद से-उपचार से-व्यवहार से रत्नत्रय इसप्रकार है। अहा! उपचार अर्थात् वास्तविक नहीं — ऐसा रत्नत्रय इसप्रकार है।

'विपरीत अभिनिवेशरहित श्रद्धानरूप ऐसा जो सिद्धि के परम्परा हेतुभूत भगवंत पंचपरमेष्ठी के प्रति उत्पन्न हुआ चलता-मलिनता-अगाढ़तारहित निश्चल भक्तियुक्तपना वही सम्यक्त्व है।' विपरीत=उलटा और अभिनिवेश=आग्रह, अभिप्राय। निश्चय समकित अर्थात् अन्दर में आनन्द की दशा का निर्विकल्प अनुभव और व्यवहार समकित अर्थात् शुभराग। अभी यह व्यवहार समकित की बात चलती है, निश्चय समकित की बात नहीं है। तो कहते हैं कि जिसको निश्चय समकित और आत्मज्ञान हुआ है, उस समकिती का व्यवहार समकित भी ऐसा होता है कि विपरीत-उल्टे आग्रहरहित श्रद्धानरूप होता है और मुक्ति का परम्परा हेतुभूत है। निश्चय समकित मुक्ति का साक्षात् कारण है, जबकि व्यवहार समकित छूट जाता है; इसलिए मुक्ति का परम्परा हेतु कहा जाता है। लो, व्यवहार समकित मोक्ष का परम्परा हेतुभूत है — ऐसा कहते हैं।

***प्रश्न* —** सोनगढ़वाले तो व्यवहार को नहीं मानते हैं न ?

***उत्तर* —** भाई! यहाँ कहा है कि जिसको निश्चय समकित होता है, उसको यह व्यवहार समकित होता है; परन्तु वह व्यवहार समकित मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का साक्षात् कारण तो स्व के आश्रय से होनेवाला अनुभव (निश्चय समकित) है; परन्तु उसके साथ जो राग होता है, उसका अभाव होकर मुक्ति होती है; इसलिए उस राग को मुक्ति का परम्परा कारण कहा जाता है।

अब कहते हैं कि भगवंत पंचपरमेष्ठी अर्थात् अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु — इन पंचपरमेष्ठी के प्रति चलता-मलिनता-अगाढ़तारहित उत्पन्न हुई अचल श्रद्धा-भक्ति ही व्यवहार समकित है; परन्तु जिसको निश्चय समकित हो — ऐसा व्यवहार सम्यक्त्व उसी को होता है। पूर्णदशा प्राप्त होने से पूर्व बीच में (बीच के गुणस्थानों में) ऐसा व्यवहार समकित का राग आता है और यहाँ उस व्यवहार समकित की बात कर रहे हैं।

www.vitragvani.com

'विष्णुब्रह्मादिकथित विपरीत पदार्थसमूह के प्रति अभिनिवेश का अभाव ही सम्यक्त्व है — ऐसा अर्थ है।' विष्णु और ब्रह्मादि ने जो सब विपरीत पदार्थ ही कहे हैं अर्थात् विष्णु, ईश्वर या ब्रह्मादि के नाम से जो पदार्थ कहे जाते हैं, वे सब विपरीत पदार्थ हैं। (जगत का) कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है। इसलिए ईश्वर को कर्त्ता माननेवाले अथवा ब्रह्मा-विष्णु को माननेवाले सब विपरीत पदार्थ को ही मानते हैं और उनको तो व्यवहार समकितरूप श्रद्धा भी नहीं है। जबकि यहाँ (जैनदर्शन में) तो भगवान सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव ने सब यथार्थ पदार्थ प्रतिपादित किये हैं। उन्होंने जो पदार्थ कहे हैं, उनकी चलता-मलिनता-अगाढ़तारहित श्रद्धा होना, वह व्यवहारश्रद्धा है, जो कि राग है।

अहा! जो जीव ब्रह्मा-विष्णु-महेश-शंकर आदि से कथित पदार्थों को मानता है, वह तो विपरीत अभिनिवेश-अभिप्रायवाला है और उस विपरीत अभिप्राय का अभाव ही व्यवहार सम्यक्त्व है, जो कि राग है। जबतक आत्मा पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर न हो, तबतक आत्मा के अवलम्बन से जो निश्चयमोक्षमार्ग प्रारम्भ हुआ है, उसके साथ अपूर्ण वीतरागता है; इसलिए व्यवहार श्रद्धा का राग होता है और उसको यहाँ चलता-मलिनता-अगाढ़तारहित तथा विपरीत श्रद्धारहित व्यवहार समकित कहा जाता है — ऐसा अर्थ है।

'संशय, विमोह और विभ्रमरहित (ज्ञान) ही सम्यग्ज्ञान है।' यह भी अभी व्यवहार सम्यग्ज्ञान की बात है। व्यवहार सम्यग्ज्ञान में संशय अर्थात् ऐसा होगा या ऐसा होगा — ऐसी शंका नहीं होती; विमोह अर्थात् विपरीतता नहीं होती तथा विभ्रम अर्थात् अज्ञानता भी नहीं होती। इसप्रकार संशय, विमोह, विभ्रमरहित ज्ञान वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान है और अभी वह भी रागसहित है। जिसको निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, जिसको आत्मा के आनन्द का अनुभव है; उसको अभी पूर्णदशा नहीं है, अपूर्णदशा है — इसकारण उस भूमिका में ऐसा व्यवहार (राग) आए बिना नहीं रहता।

'वहाँ, जिन देव होंगे या शिव देव होंगे (ऐसा शंकारूप भाव) वह संशय है।' संशय की व्याख्या करते हैं कि सर्वज्ञ भगवान हैं वे सच्चेदेव होंगे या शिव-शंकर-ब्रह्मा-विष्णु आदि सच्चेदेव होंगे — ऐसी शंका होने को यहाँ संशय कहते हैं। जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित है, वह ऐसे संशयरहित होता है और उसको व्यवहार सम्यग्ज्ञान है — ऐसा कहा जाता है।

www.vitragvani.com

'शाक्यादिकथित वस्तु में निश्चय (अर्थात् बुद्धादि कथित पदार्थ का निर्णय) वह विमोह है।' शाक्य=बौद्ध। जो बौद्धधर्म है वह खोटा (मिथ्या) है; क्योंकि वह आत्मा को क्षणिक ही मानता है; परन्तु आत्मा को त्रिकाली नहीं मानता। अत: बौद्धधर्म और उसके अलावा अनेक अज्ञानियों द्वारा कथन की हुई वस्तु में निश्चय करना विमोह है-मिथ्यात्व राग है।

'अज्ञानपना (अर्थात् वस्तु क्या है तत्सम्बन्धी अज्ञानपना) ही विभ्रम है।' वस्तु कैसी होगी ? — ऐसा वस्तु का अजानपना, वस्तुस्थिति की मर्यादा का अजानपना वह विभ्रम है। (और व्यवहार सम्यग्ज्ञान उससे रहित होता है।) अभी तो यह व्यवहार रत्नत्रय की बात चलती है।

'पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम वह चारित्र है।' — यह व्यवहारचारित्र की बात है। निश्चय समकित-ज्ञान-चारित्र सहित हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग वासना आदिरूप पापक्रिया से निवृत्तिरूप पंचमहाव्रत के परिणाम/शुभभाव वह व्यवहारचारित्र है और वह राग है। जिसको निश्चयचारित्र हो, उसको ही यह व्यवहारचारित्र होता है; परन्तु जिसको आत्मा के आनन्द का अनुभव नहीं है, उसको तो यह व्यवहारचारित्र है — ऐसा भी गिनने में (कहने में) नहीं आता।

अहा! पंचमहाव्रत के परिणाम व्यवहारचारित्र हैं और वह राग है। जबतक मुनि को पूर्ण (यथाख्यात) चारित्रदशा नहीं होती, तबतक बीच में यह व्यवहारचारित्र का राग आए बिना नहीं रहता; परन्तु वह राग हेय/छोड़नेयोग्य है। 'वह राग दु:खरूप है' — ऐसा जानकर छोड़नेयोग्य है। इसका अर्थ यह है कि जब सम्यग्ज्ञान ने जाना कि यह राग दु:खरूप और विपरीत है, तब ज्ञान में उस विपरीत भाव का ग्रहण नहीं होता; अपितु ज्ञान ज्ञान में स्थिर होता है और उसी को विकार/राग का त्याग किया कहा जाता है। प्रभु! शब्द-शब्द में बहुत सूक्ष्मता है! क्योंकि यह तो तीनलोक के नाथ सर्वज्ञ जिनेश्वर का मार्ग है।

यहाँ कहा है कि जिसको त्रिकाली शुद्ध आत्मा का अवलम्बन/आश्रय है, जिसको आनन्द का अनुभव है अर्थात् जिसको निश्चयचारित्र है, उसके पाप से निवृत्तिरूप परिणाम को व्यवहारचारित्र कहा जाता है। अहा! भूतकाल में अनन्त तीर्थंकर हो गये हैं और वर्तमान में भी महाविदेहक्षेत्र में तीर्थंकर विराजमान हैं। उन सबका एक ही कथन

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

है। 'एक होय तीनकाल में परमारथ का पंथ।' (आत्मसिद्धि गाथा-३६) यह भी सच्चा और वह भी सच्चा — ऐसे परमार्थ के दो-तीन पंथ नहीं होते।

'ऐसी भेदोपचार-रत्नत्रय परिणति है।' — ऐसी व्यवहाररत्नत्रय परिणति है। भेद=व्यवहार, उपचार=वास्तविक नहीं। यह व्यवहाररत्नत्रय वास्तविक रत्नत्रय परिणति नहीं है; अपितु भेदोपचार-रत्नत्रय परिणति है।

'उसमें, जिनप्रणीत हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।' उसमें अर्थात् भेदरत्नत्रय परिणति में/व्यवहाररत्नत्रय में, जिनप्रणीत हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। यह भी अभी व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। उसमें हेय-उपादेय ऐसे दो तत्त्व आये न इसलिए; अर्थात् दो तत्त्व आये इसलिए व्यवहार सम्यग्ज्ञान है तथा 'उसमें' — ऐसा कहा है अर्थात् जो रागरूप व्यवहाररत्नत्रय कहा है, उसमें की बात है। (इसलिए यह व्यवहार सम्यग्ज्ञान की बात है।) तो, कहते हैं कि तीनलोक के नाथ वीतराग जिनप्रणीत/उनसे कथित हेय-उपादेय अर्थात् छोड़नेयोग्य और ग्रहण करनेयोग्य तत्त्वों का ज्ञान भी अभी व्यवहार सम्यग्ज्ञान है।

अहा! (१) विपरीत अभिनिवेशरहित श्रद्धा वह व्यवहार समकित है,

(२) संशय, विमोह और विभ्रमरहित ज्ञान वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान है और

(३) पापक्रिया से निवृत्तिरूप पंचमहाव्रतादि का परिणाम वह व्यवहारचारित्र है।

इन तीन में जो हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान है, उसका नाम व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। निश्चय सम्यग्ज्ञान तो अन्तर-अनुभव करना वह है, जबकि हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान करना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है; क्योंकि उसमें हेय-उपादेय — ऐसा 'दो पना' (भेद) आया है न; इसलिए। यह छोड़नेयोग्य है और यह ग्रहण करनेयोग्य है — ऐसा 'दो पना' आया होने से वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान है और इसकारण टीका में भी यह कहा है कि 'भेदोपचार रत्नत्रय परिणति है, उसमें.....' — ऐसा लिया है न भाई!

अहा! कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु के श्रद्धा-ज्ञानरहित (सुदेव-सुशास्त्र-सुगुरु का) व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान हो वह व्यवहार समकित और व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। जबकि पापक्रिया से निवृत्तिरूप पंचमहाव्रत के परिणाम होना व्यवहारचारित्र है। इन तीन में, सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा वीतरागदेव ने रागादि को हेय कहा है उसका और स्वभाव को

www.vitragvani.com

उपादेय कहा है उसका — इन दोनों का ज्ञान करना भी अभी व्यवहार सम्यग्ज्ञान है; क्योंकि उसमें दो तत्त्व आये हैं न! जगत को ऐसा मार्ग समझना बहुत कठिन है।

अहा! अभी अज्ञानी को तो निश्चयरत्नत्रय नहीं है, इसकारण व्यवहाररत्नत्रय भी नहीं है। जबकि यहाँ तो जिसको आत्मा का भान है/आत्मा का अनुभव है/आनन्द का स्वाद आया है अर्थात् जिसको निश्चयरत्नत्रय है, उसकी बात है कि उसकी दशा में पूर्णता नहीं है, इससे ऐसा राग आए बिना नहीं रहता और उसको यहाँ व्यवहाररत्नत्रय की परिणति कहा जाता है।

अब कहते हैं कि '**उसमें**', अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय में, '**जिनप्रणीत हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।**' अहा! निश्चय सम्यग्ज्ञान में तो हेय-उपादेय ऐसे दो भेद (विकल्प) हैं ही नहीं। उसमें तो पूर्व कलश में कथित त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु शुद्ध जीवास्तिकाय जो कि अखण्ड-अभेद है, उसका एक का आश्रय है। तात्पर्य यह है कि शुद्ध जीवास्तिकाय का आश्रय करने से होनेवाला ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है; परन्तु जहाँ पर की (भेद की) अपेक्षा आती है, उस ज्ञान का नाम व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। अरे रे! लोग ऐसा कब सुनें! कब विचारें ? और कब उनको जँचे ? यह मनुष्य भव तो चला जाता है। मनुष्य अवतार के वर्ष तो व्यतीत हो रहे हैं। वास्तव में तो जितने महीने या वर्ष बीतते हैं, उतना मृत्यु के समीप जाता है; क्योंकि मृत्यु का समय तो केवलज्ञान में और अन्दर में निश्चित है। किससमय/किस क्षण देह छूटेगी यह निश्चित है। इसलिए प्रतिदिन यह मृत्यु के समीप जाता है; तो भी मानता है कि मैं अधिक/कुछ विशेष हुआ हूँ।

यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली शुद्ध जीवास्तिकायमय पूर्णानन्द भगवान आत्मा अनादि-अनन्त सत्स्वरूपी प्रभु है; परन्तु यह उस आत्मा की बात है कि जिसे जानकर और अनुभव करके केवलज्ञानी भगवान केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं। (अज्ञानी द्वारा कल्पित आत्मा की बात नहीं है।) उन्होंने जो जीवादि तत्त्व जाने और कहे हैं, उसमें हेय और उपादेय — ऐसे दो भेद करना (ऐसा विकल्प करना) वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। भाई! यह बात सूक्ष्म है। यह हेय-उपादेयरूप तत्त्वों का व्यवहार सम्यग्ज्ञान भी किसको होता है ? कि जिसको शुद्ध जीवास्तिकाय चैतन्यमूर्ति आत्मा का अनुभव हुआ है-आनन्द का स्वाद आया है, उसको व्यवहार सम्यग्ज्ञान होता है। आशय यह है कि जिसको

www.vitragvani.com

पूर्णानन्द के नाथ आत्मा के अनुभवपूर्वक स्वाश्रय से निश्चय सम्यग्ज्ञान हुआ है, उसको ऐसा पराश्रित ज्ञान होता है और उसको व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। वरना निश्चय सम्यग्ज्ञान के बिना तो व्यवहार सम्यग्ज्ञान भी नहीं कहा जाता। इस निश्चय सम्यग्ज्ञान के बिना तो व्यवहार सम्यग्ज्ञान व्यवहाराभास है और ऐसा ज्ञान तो अनन्तबार किया है। अरे! जीव चौरासी लाख योनियों के अवतार में अनन्तबार दिगम्बर साधु भी हुआ है। यह दिगम्बरपना (दिगम्बर धर्म) ही वास्तविक जैनपना (जैनधर्म) है; क्योंकि यह दिगम्बरपना अनादि से है। सो इसने हजारों रानियों को छोड़कर, दिगम्बर साधु होकर पंचमहाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुण की क्रियाएँ भी की हैं; परन्तु (आत्मज्ञान-अनुभव के बिना) वह सब बंध का कारण था। (व्यवहाराभास था।)

अहा! अन्दर में अमूर्तिक रागरहित भगवान आत्मा को भक्ति आदि के शुभराग की भी अपेक्षा नहीं है। जिसको ऐसे निर्मलानन्द के नाथ शुद्ध जीवास्तिकायरूप प्रभु आत्मा का अनुभव हुआ है-अतीन्द्रिय आनन्द और शान्ति का स्वाद जिसको आया है, उसको ऐसा व्यवहार सम्यग्ज्ञान होता है अर्थात् उसका व्यवहार ऐसा होता है; परन्तु जिसको निश्चय सम्यग्ज्ञान नहीं है, उसके व्यवहार सम्यग्ज्ञान भी नहीं कहा जाता। यहाँ कहा है कि वीतराग त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव तीर्थंकरदेव कथित हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। पहले पाँचवी गाथा में भी आ गया है कि 'तत्त्व बहि:तत्त्व और अन्त:तत्त्वरूप परमात्मतत्त्व — ऐसे (दो) भेदवाले हैं' और उनकी श्रद्धा को व्यवहार समकित कहते हैं। रागादि बहि:तत्त्व है और त्रिकाली आत्मा अन्त:तत्त्वरूप परमात्मतत्त्व है। — इसप्रकार तत्त्व दो भेदवाले हैं। 'अथवा जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष — ऐसे भेदों के कारण सात प्रकार के हैं।' और उनका श्रद्धान व्यवहार समकित है, जो कि राग है।

आशय यह है कि अन्त:तत्त्वरूप परमात्मतत्त्व की श्रद्धा के साथ बहि:तत्त्व की श्रद्धा जोड़ देना अर्थात् दोनों की श्रद्धा से व्यवहार समकित है अथवा जीवादि साततत्त्वों की श्रद्धा भी व्यवहार समकित है। इसप्रकार व्यवहार समकित की व्याख्या दो प्रकार से की है —

(१) बहि:तत्त्व और परमात्मतत्त्व की श्रद्धा व्यवहार समकित है और

(२) जीवादि सात तत्त्वों की श्रद्धा भी व्यवहार समकित है।

www.vitragvani.com

देखो, व्यवहार समकित में परमात्मतत्त्व की श्रद्धा तो आई; परन्तु साथ ही बाह्यतत्त्व की श्रद्धा भी आई। इससे जहाँ बाह्यतत्त्व की श्रद्धा आई वहाँ दो-पना (भेद) हो गया और दो-पना होने से व्यवहार हो गया। सूक्ष्म बात है प्रभु!

यहाँ कहते हैं कि 'उसमें' अर्थात् जो व्यवहाररत्नत्रय की बात चलती है, उसमें 'जिनप्रणीत हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।' — यह भी व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। गाथा-५ में जैसे व्यवहार समकित की बात थी, वैसे यहाँ भी व्यवहार सम्यग्ज्ञान की बात है। वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान रागसहित है; परन्तु धर्म नहीं है। जहाँ निश्चय-आत्मा का अनुभव हुआ है, आनन्द का वेदन आया है, वहाँ अपूर्णता होने के कारण जीवादि साततत्त्व अथवा बहि:तत्त्व और अन्त:तत्त्वरूप परमात्मतत्त्व की श्रद्धा का राग आता है तथा हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान भी होता है और वह व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान है। गजब बात है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि यह शास्त्र तो मैंने अपने लिए बनाया है। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ (सीमन्धर परमात्मा) विराजमान हैं। वहाँ भगवान के पास आचार्य कुन्दकुन्द गये थे, आठ दिन वहाँ रहे थे और तीन समय — प्रात:, दोपहर और सायं छह घड़ी खिरनेवाली भगवान की वाणी का श्रवण किया था। तदुपरान्त जब भगवान की वाणी बन्द होती, उससमय जो अन्य सच्चे दिगम्बर संत-मुनि (श्रुतकेवली) थे, उनके साथ चर्चा करके बहुत समाधान किया था। वहाँ से आकर उन्होंने इन शास्त्रों की रचना की है। उनमें समयसार, प्रवचनसारादि शास्त्र तो अन्य जीवों को तत्त्व समझाने के लिए बनाए हैं; परन्तु वे कहते हैं कि यह शास्त्र तो मैंने निज आत्मा के हित के लिए बनाया है। ये तो बहुत कठिन लगे ऐसी बातें हैं।

प्रभु! तू एकबार सुन तो सही कि परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव की आज्ञा में क्या आता है ? कि बाह्याभ्यंतर तत्त्वों के भेद को भी छोड़कर, जिसको अन्दर अन्त:तत्त्व के निर्विकल्प अनुभव में आनन्द आता है, जिसको समकित हुआ है, उसको पूर्णदशा न होने से ऐसा व्यवहार आता है। वरना जहाँ निश्चय आत्मज्ञान नहीं है और आनन्द नहीं आया वहाँ तो शुभराग को व्यवहार भी नहीं कहा जाता। जैसे एक के बिना शून्य का कोई मूल्य नहीं है। एक हो और बाद में शून्य रखे तो दस गिने जाते हैं; परन्तु अकेले शून्य की कोई गिनती नहीं है। उसीप्रकार अतीन्द्रिय आनन्द के सागर भगवान आत्मा

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

के अनुभव बिना अकेला व्यवहार कुछ गिनती में नहीं है। वह तो एक रहित शून्य जैसा है। फिर भी यदि निश्चयरत्नत्रय हो और अभी पूर्ण वीतरागता न हुई हो तो बीच में ऐसा व्यवहार आता है; परन्तु वह राग (व्यवहार) पुण्यबंध का कारण है। लो ऐसा व्यवहार भी पुण्यबंध का कारण ऐसा राग है — यह कहते हैं। अरे रे! चौरासी लाख योनियों के अवतार में भटकते–भटकते अनन्तकाल बीता; फिर भी इसने कभी आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा का भान नहीं किया। यहाँ कहा है कि आत्मा ऐसा अभेद है कि उसमें बहि:तत्त्व और परमात्मतत्त्व ऐसे दो भेद भी नहीं हैं और जहाँ ऐसे दो भेद लक्ष्य में लेता है, वहाँ तो बीच में विकल्प–राग आ जाता है; (परन्तु आत्मानुभव नहीं होता।)

अब समकित के कारण की बात करते हैं। उसमें प्रथम बाह्य सहकारी कारण कहते हैं। प्रभु भगवान आत्मा में अनन्तगुण भरे हैं। उन अनन्तगुण के अन्तरसन्मुख होकर/अन्तर अभिमुख होकर जिसको आत्मा के आनन्द का स्वाद आया है, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हुआ है — ऐसे समकिती जीव को उस सम्यक्त्व परिणाम का बाह्य सहकारी कारण क्या है — वह कहते हैं। देखो, 'सम्यक्त्व परिणाम' — ऐसा कहा है; क्योंकि यह समकित परिणाम है, परन्तु कोई गुण नहीं। त्रिकाली भगवान आत्मा द्रव्य है; त्रिकालीध्रुव ऐसे श्रद्धा, ज्ञान आदि ये गुण हैं और समकित, चारित्र, मोक्षमार्ग आदि परिणाम है/पर्याय है।

कहते हैं कि '**इस सम्यक्त्व परिणाम का बाह्य सहकारी कारण वीतराग सर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है।**' देखो, आत्मा के आश्रय से अनन्तकाल में नहीं हुआ ऐसा आत्मदर्शन हुआ, आत्मानन्द का अनुभव हुआ, सम्यक्त्व का परिणाम हुआ, समकित हुआ। वहाँ उस परिणाम का बाह्य सहकारी कारण द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान है। समकित का अंतरंग कारण तो अपना अंतरंग स्वरूप है; परन्तु उसका बाह्य सहकारीकारण–साथ रहनेवाला व्यवहार कारण भगवान का कहा हुआ तत्त्वज्ञान ही है। निश्चय समकित तो आत्मा के आश्रय से प्रगट होता है; परन्तु उसका बाह्य सहकारी कारण भगवान के वचन का ज्ञान/तत्त्वज्ञान ही है। इसके अतिरिक्त दूसरा उसका बाह्यनिमित्त भी नहीं है।

ये 'शुद्धभाव अधिकार' की अन्तिम पाँच गाथाएँ हैं। यहाँ 'शुद्धभाव' से शुद्धपर्याय नहीं समझना चाहिए; अपितु त्रिकाली ध्रुव समझना चाहिए। सामान्यरूप से तो पर्याय

www.vitragvani.com

में/अवस्था में तीनप्रकार के भाव होते हैं — (१) अशुभ, (२) शुभ और (३) शुद्ध। उसमें अशुभभाव पापबंध का कारण है, शुभभाव पुण्यबंध का कारण है और शुद्धभाव धर्मस्वरूप है — इसप्रकार परिणाम तीनप्रकार के हैं; परन्तु अभी यहाँ (इस अधिकार में) उनकी बात नहीं है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का शुद्ध परिणाम, जो कि मोक्ष का वास्तविक मार्ग है वह, जिसके आश्रय से उत्पन्न होता है, उसकी बात है। तात्पर्य यह है कि यहाँ शुद्धभाव कहने से ध्रुव का अधिकार है अर्थात् यहाँ त्रिकाली शुद्ध आत्मा की बात है। अहा! मोक्ष का मार्ग-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। वह अखण्ड आनन्दरूप चैतन्यशक्ति की व्यक्ति/प्रगटता है; परन्तु त्रिकाली शक्ति नहीं है और यहाँ उसकी (मोक्षमार्ग की) बात नहीं है।

यहाँ कहना यह है कि प्रभु आत्मा ज्ञान, आनन्दादि अनन्त शक्तियों का पिण्ड है। (वह द्रव्य है।) उसमें त्रिकाली ज्ञान, आनन्द आदि है, वह शक्तिरूप स्वभाव है। (वह गुण है।) और उसमें से व्यक्तिरूप प्रगटता हो वह शुद्धपर्याय है। (वह पर्याय है।) परन्तु उस शुद्धपर्याय की बात यहाँ नहीं है। दूसरे प्रकार से कहें तो आत्मा त्रिकाली दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुणों का पिण्ड है। उसके अवलम्बन से मोक्ष के कारणरूप सम्यग्दर्शन आदि पर्याय प्रगट होती है। उस मोक्षमार्गरूप शुद्धपर्याय की बात इस अधिकार में नहीं है; परन्तु वह शुद्धपर्याय जिसमें से उत्पन्न होती है — ऐसे 'शुद्ध ध्रुव भाव' का यह अधिकार है — ऐसी बात है! — यह एक बात।

अब दूसरी बात — यह जो त्रिकाली शुद्धभाव है, उसके अवलम्बन से/आश्रय से धर्मरूपी सम्यग्दर्शन के परिणाम प्रगट होते हैं अर्थात् सनातन चैतन्यशक्तिरूप-स्वभावरूप त्रिकाली ध्रुव की दृष्टि करने से जो धर्म की पहली दशारूप सम्यग्दर्शन का परिणाम/पर्याय/अवस्था उत्पन्न होता है, उस सम्यग्दर्शन से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है और उस सम्यक्त्व परिणाम का बाह्य सहकारी कारण द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है — ऐसा कहते हैं।

अहा! अनादि-अनन्त, नित्य ध्रुव वस्तु त्रिकाली भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दर्शन परिणाम मोक्ष का मार्ग है। उस सम्यग्दर्शन परिणाम का बाह्य सहकारी कारण/निमित्त कौन है ? कि वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिनेश्वर देव के मुखकमल से निकला द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान है। देखो, 'वीतराग-सर्वज्ञ के

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

मुखकमल से निकला' — ऐसा भी व्यवहार से कहा है; क्योंकि भगवान की वाणी सम्पूर्ण शरीर में से निकलती है और वह ॐ.....ऐसी ध्वनि होती है; परन्तु लोग बाह्य से (मुख से वाणी निकलती है ऐसा) समझते हैं — इस अपेक्षा से 'वीतराग सर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ' — ऐसा कहा है। वरना प्रभु की वाणी मुख से नहीं निकलती तथा ओठ बंद होते हैं, कंठ कंपित नहीं होता और सम्पूर्ण शरीर में से ॐ ध्वनि निकलती है। (पण्डित बनारसीदासजी ने कहा है न —)

'मुख ॐकार ध्वनि सुनि, अर्थ गणधर विचारै।
रचि आगम उपदिशै, भविक जीव संशय निवारै॥'

जो आत्मा के आनन्द के अनुभवी ऐसे संत-साधु के गण अर्थात् समूह के धारक-प्रमुख हैं, उनको यहाँ गणधरदेव कहते हैं। वे गणधरदेव ॐकार ध्वनि सुनकर उसका अर्थ विचारते हैं तथा भगवान की वाणी से आगम की रचना करते हैं। जिससे भव्य-योग्य और पात्र जीव संशय-मिथ्यात्व का अभाव करता है अर्थात् उसको सम्यग्दर्शन के परिणाम उत्पन्न होते हैं। प्रभु! सूक्ष्म बात है! अभी तो बाहर में बहुत फेरफार हो गया है, इसलिए यह बात अलग लगेगी-भाषा जरा नई लगेगी; परन्तु वस्तु तो ऐसी है। क्या कहें ?

अहा! भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार वर्ष पूर्व संवत् ४९ में त्रिलोकनाथ सीमन्धर परमात्मा के पास गये थे, आठ दिन रहे थे और वहाँ से आकर ये सब शास्त्र बनाये हैं। उसमें भी यह शास्त्र तो उन्होंने स्वयं के लिए बनाया है। देखो, अन्तिम गाथा में कहा है न कि '**णियभावणाणिमित्तं**' — मेरी भावना के निमित्त '**मए कदं**' — मैंने किया है (कहा है) '**णियमसार णामसुदं**' — यह नियमसार नामक शास्त्र अर्थात् यह नियमसार तो मैंने निज आत्मा के लिए बनाया है। '**णच्चाजिणोवदेसं**' — वीतराग त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का साक्षात् उपदेश सुनकर-जानकर '**पुव्वावरदोसणिमुक्कं**' — पूर्वापर विरोधरहित अर्थात् इस शास्त्र में अविरोधरूप कथन किया है। पहले कुछ कहा हो और फिर कुछ दूसरा कहा हो — ऐसा कोई विरुद्ध कथन इस शास्त्र में नहीं है। इस गाथा के हरिगीत में भी है कि —

'सब दोष पूर्वापर रहित उपदेश श्री जिनदेव का।
मैं जान, अपनी भावना हित नियमसार सुश्रुत रचा॥'

www.vitragvani.com

अहा! जड़ मोहकर्म है वह भावक है और उससे उत्पन्न हुआ भाव वह भावक का भाव्य है। जड़ मोहकर्म भावक अर्थात् भाव का करनेवाला है। वह किस भाव का करनेवाला है ? मिथ्यात्व, अव्रत और राग-द्वेषादि परिणाम को (भाव को) करनेवाला है। ऐसा जो भावक भाव है अर्थात् अनादि से मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्ररूप भावक का भाव है, उससे रहित चित्शक्ति का व्यक्तिरूप भाव है। आशय यह है कि चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा चित्शक्तिमय स्वभावरूप है। उसके आश्रय से जो व्यक्ति/प्रगट परिणाम हो वह सम्यग्दर्शन का परिणाम (चित्शक्ति का व्यक्तिरूप भाव) है और यहाँ उसकी बात चल रही है।

प्रश्न — उस सम्यग्दर्शन का अंतरंग कारण कौन है ?

उत्तर — सम्यग्दर्शन के परिणाम का/अवस्था का अंतरंग कारण तो अन्दर में स्थित ध्रुव है। त्रिकाली भगवान आत्मा, जो कि ध्रुवस्वरूप त्रिकाल अवस्थायी पदार्थ है, उसके अवलम्बन से/आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। इसलिए सम्यग्दर्शन का अंतरंग कारण अन्दर में स्थित आत्मा है। लो, सम्यग्दर्शन अर्थात् अभी तो धर्म की पहली सीढ़ी। यहाँ उसकी बात चलती है। इसलिए कहा है कि सम्यग्दर्शन परिणाम का अंतरंग हेतु अन्तर्मुख ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा है।

प्रश्न — सम्यग्दर्शन का बाह्य सहकारीकारण/बहिरंगकारण कौन है ? साथ में जो निमित्तरूप बाह्यकारण होता है, वह कौन है ?

उत्तर — वीतराग सर्वज्ञ के मुखकमल से निकली वाणी। अर्थात् जो ॐ ध्वनि निकलती है, वह और उसमें से रचित शास्त्र सम्यग्दर्शन का बाह्य सहकारी कारण है।

प्रश्न — भगवान की वाणी कैसी है ?

उत्तर — भगवान की वाणी तीनकाल और तीनलोक के पदार्थों का प्रतिपादन करने में समर्थ है। ऐसी जो वाणी-द्रव्यश्रुत है, वह सम्यग्दर्शन का बाह्य सहकारीकारण है। अहा! द्रव्यश्रुत अर्थात् वाणी और भावश्रुत अर्थात् आत्मा के आश्रय से अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन सहित आत्मा में ज्ञान का प्रगट होना; परन्तु यहाँ द्रव्यश्रुत/वाणी की बात है कि वीतराग की वाणी ॐ ध्वनिरूप निकलती है; वह द्रव्यश्रुत तत्त्वज्ञान ही सम्यग्दर्शन का बाह्य सहकारी कारण है। लो, सम्यग्दर्शन का बाह्य सहकारी कारण तो यह द्रव्यश्रुत

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

ही है — ऐसा कहते हैं; परन्तु किसी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी का वचन सम्यग्दर्शन का बाह्य सहकारी कारण नहीं हो सकता। भगवान सर्वज्ञदेव द्वारा कथित तत्त्व से विपरीत माननेवाले का कथन समकित का बाह्यकारण भी नहीं है।

अहा! चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा की चैतन्यशक्ति को अन्तर्मुख होकर देखने से अर्थात् अन्तर-एकाग्र होने से चैतन्य की व्यक्ति/प्रगटता सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होती है। उसमें से यहाँ सम्यग्दर्शन की बात करते हैं कि समकित का अंतरंग कारण तो प्रभु आत्मा है, जबकि उसका बाह्य सहकारी कारण वीतराग के मुखकमल से निकला हुआ वाणीरूप द्रव्यश्रुत ही है अर्थात् वही सम्यग्दर्शन के निमित्तरूप होता है। तत्त्वज्ञान (द्रव्यश्रुत) ही सम्यग्दर्शन का बाह्य सहकारीकारण है; परन्तु वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ की वाणी के अलावा किसी अज्ञानी ने कल्पित बातें की हों तो वे सम्यग्दर्शन का अंतरंग कारण तो हैं ही नहीं; परन्तु बाह्य निमित्तकारण भी नहीं हैं। लो, सर्वज्ञ वीतराग के अलावा किसी अज्ञानी की वाणी सम्यग्दर्शन का बाह्य सहकारी-निमित्त कारण भी नहीं है - ऐसा कहते हैं। इसीलिए 'द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है' — ऐसा कहा है। आशय यह है कि द्रव्यश्रुत-मात्र वीतराग की वाणी — ही सम्यग्दर्शन का बाह्य निमित्त है; परन्तु अन्य किसी की वाणी निमित्त नहीं हो सकती — ऐसी बात है। इसलिए अब वीतराग की वाणी क्या है — पहले उसकी परीक्षा करनी पड़ेगी न ? यह वीतराग की वाणी है या अज्ञानी की कल्पित बात है अथवा अपने स्वरूप के भान बिना किसी ने अपनी कल्पना से ये शास्त्र बनाये हैं या वीतराग की वाणी में से संतों ने ये शास्त्र बनाये हैं — इसकी परीक्षा करनी पड़ेगी।

अब थोड़ी सूक्ष्म बात है। अन्तर आत्मा के अवलम्बन से और बाह्य सहकारी कारण वीतराग की वाणी से जो सम्यग्दर्शन का परिणाम उत्पन्न होता है, उसका अंतरंग कारण कौन है — यह अब कहते हैं। यद्यपि यह कारण भी है तो बाह्य; तथापि इसको अंतरंग कारण कहते हैं। तो वह किसप्रकार कहते हैं वह देखो, **'जो मुमुक्षु हैं, उन्हें भी उपचार से पदार्थनिर्णय के हेतुपने के कारण (सम्यक्त्व परिणाम के) अंतरंग हेतु कहे हैं।'**

जो मुमुक्षु हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव हैं, धर्मी हैं उनको उपचार से-व्यवहार से पदार्थ के वास्तविक निर्णय के हेतुपने के/कारणपने के कारण सम्यक्त्व परिणाम का अंतरंग हेतु कहा है। क्या कहा ? कि सम्यग्दर्शन परिणाम का अंतरंग हेतु तो शुद्ध ध्रुव आत्मा

www.vitragvani.com

ही है और है तो ज्ञानी का अभिप्राय भी बाह्यकारण; तथापि जो धर्मी है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त है, उस सम्यग्दृष्टि जीव के अभिप्राय को अन्दर समझता है, इसलिए उस अभिप्राय को अंतरंग कारण कहा है — ऐसी बात है। जैसे भगवान की वाणी-द्रव्यश्रुत सम्यग्दर्शन का बाह्यकारण है; वैसे ही सम्यग्दृष्टि धर्मी की वाणी भी सम्यग्दर्शन का बाह्यकारण है; तथापि मुमुक्षु धर्मी जीव के अभिप्राय को उपचार से-व्यवहार से पदार्थनिर्णय के कारणपने के कारण समकित परिणाम का अंतरंग हेतु कहा है।

अहा! सम्यग्दर्शन के परिणाम हैं तो भगवान आत्मा के अपने स्वरूप से उत्पन्न हुए; तथापि उसमें एक बाह्यकारणरूप द्रव्यश्रुत-भगवान की वाणी ली है और दूसरा अंतरंग कारणरूप धर्मी जीव को-जिसने धर्म सुनाया है उसको लिया है। धर्म प्राप्त करनेवाले ने अंतरंग में धर्मीजीव के अभिप्राय को समझा है — इसकारण धर्मी जीव को सम्यग्दर्शन का अंतरंग हेतु कहा है। यों वास्तव में तो वे भी बाह्यकारण हैं। भाई! यह तो धीरे से समझनेयोग्य है; क्योंकि यह कोई कथा-वार्ता नहीं है। यह तो त्रिलोकनाथ की साक्षात् दिव्यध्वनि है।

यहाँ कहते हैं कि धर्म का पहला सोपान-मोक्षमार्ग की प्रथम ही सीढ़ी-सम्यग्दर्शन परिणाम का अंतरंग हेतु तो ध्रुव आत्मा ही है और बाह्य हेतु/निमित्त/सहकारी कारण वीतराग की वाणी ही है। फिर भी धर्म प्राप्त करनेवाले को धर्मी जीव ने उपदेश दिया और उस धर्मी/समकिती/ज्ञानी के उपदेश को सुनकर, धर्मी का क्या अभिप्राय है, उसे पकड़ लेता है — इसकारण समकित परिणामी (समकित परिणामरूप परिणमित होनेवाला) जीव को धर्मी जीव के परिणाम अंतरंग कारण हैं — ऐसा कहा जाता है। लो, ऐसी बात कभी सुनी है ?

अहा! भगवान जिनेश्वरदेव तीनलोक के नाथ परमात्मा को इच्छा का अभाव हो गया है और वाणी वाणी के कारण निकलती है — ॐ ध्वनि खिरती है। ओठ बंद होते हैं, कंठ कम्पित नहीं होता और सम्पूर्ण शरीर में से ॐ ध्वनि निकलती है। उस ॐ ध्वनि को सुनकर गणधरदेव शास्त्र-रचना करते हैं और उन शास्त्रों को समकित का बाह्यकारण कहा गया है। तदुपरान्त जिस धर्मी ने उसे (धर्म प्राप्त करनेवाले को) आत्मज्ञान का, सम्यग्दर्शन का, मोक्षमार्ग का उपदेश दिया; उस मुमुक्षु जीव को व्यवहार से अन्तर में पदार्थ निर्णय के कारण अर्थात् आत्मा और राग की भिन्नता के निर्णय के

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

कारण समकित का अंतरंग हेतु कहा है। कारण कि उपदेशदाता धर्मी जीव पर है, इसलिए व्यवहार से कहा है।

अहा! (ज्ञानी ने) धर्म के स्वरूप का जो उपदेश दिया, उसको जिस जीव ने सुना है और अपने निज ध्रुव के अवलम्बन से सम्यक् परिणाम उत्पन्न हुए हैं; उस जीव को बाह्य सहकारी निमित्त (ज्ञानी की) वीतराग वाणी है और उस मुमुक्षु जीव के अंतरंग अभिप्राय को, है तो वह भी बाह्यकारण फिर भी, उपचार से अंतरंग हेतु कहा जाता है। अहा! कोई भी जीव समझता (सम्यग्दर्शन पाता) तो अपने ध्रुव के आश्रय से ही है; फिर भी उपदेशक-निमित्त ऐसे जो ज्ञानी-धर्मात्मा-सम्यग्दृष्टि हैं, उनके अन्तर का अभिप्राय (धर्म प्राप्त करनेवाले को) अन्दर समझ में आता है। इसकारण उपचार से-व्यवहार से उस अभिप्राय को सम्यग्दर्शन का अंतरंग हेतु कहा जाता है। इसमें एक भी शब्द बदलने से न्याय में फेरफार हो जाता है बापू! क्योंकि यह तो वीतराग की वाणी है, परन्तु कोई कथा-वार्ता नहीं है।

जिसको ध्रुव के अवलम्बन से अन्दर से धर्म के परिणाम उत्पन्न हुए हैं — ऐसे समकिती को समकित का अंतरंग कारण आत्मा ही है और वीतराग की वाणी को बाह्य सहकारी कारण-निमित्त कहा है। — एक बात। दूसरी बात यह है कि अन्दर में (धर्म प्राप्त करनेवाले को) उस वाणी कहनेवाले का अभिप्राय समझने का है — इसकारण उस अभिप्राय को उपचार से अंतरंग कारण कहा जाता है। यद्यपि ज्ञानी का अभिप्राय भी है तो बाह्य और पर; तथापि उसको उपचार से-व्यवहार से अंतरंग कारण कहा गया है। अरे रे! चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करते-करते अनन्तकाल बीता, तथापि इसके जन्म-मरण का अभाव नहीं हुआ; क्योंकि इसको 'सत्' वस्तु ही नहीं मिली और असत् में सत्पना मानकर जिन्दगी गँवा दी है। सर्वज्ञ वीतराग त्रिलोकनाथ परमात्मा की वास्तविक वाणी में क्या परमार्थ आया है, वह कभी सुनने को भी नहीं मिला और सुनने को मिला तो अन्दर में निर्णय करने का समय नहीं निकाला।

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दर्शन जो कि धर्म का परिणाम है.....सम्यग्दर्शन परिणाम है, गुण नहीं। वस्तु आत्मा त्रिकाली ध्रुव है, उसके अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन परिणाम का बाह्य सहकारीकारण वीतराग के श्रीमुख से निकली वाणी है अर्थात् वीतराग की वाणी को सम्यग्दर्शन का बाह्य सहकारीकारण कहा जाता है और

उसको (समकित प्राप्त करनेवाले को) उपदेश देनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त आत्मा होते हैं। इसकारण उपदेश देनेवाले समकिती पुरुष को, वे बाह्य होने पर भी, यहाँ सम्यग्दर्शन का अंतरंग कारण कहा गया है।

प्रश्न — 'जो मुमुक्षु हैं उन्हें भी' — ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर — क्योंकि पहले द्रव्यश्रुत को सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा है न! भगवान की वाणी-द्रव्यश्रुत को बाह्यनिमित्त कहा है (और यह मुमुक्षु भी निमित्त है, इसलिए 'भी' शब्द है।) यहाँ कहा है कि भगवान की वाणी समकित का बाह्य सहकारीकारण है; क्योंकि वह वाणी ही निमित्तरूप से साथ में होती है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाला जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त तो अन्तर से (स्वभाव के अवलम्बन से) करता है; परन्तु तब उसको बाह्य में वीतराग की वाणी ही निमित्त होती है। अब कहते हैं कि मुमुक्षु को भी, पदार्थ के निश्चय के हेतुपने के कारण, सम्यक्त्व के परिणाम उत्पन्न होते हैं, उसका अंतरंग हेतु कहा जाता है।

मुमुक्षु अंतरंग हेतु किसलिए है ?

'क्योंकि उन्हें दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं।'

किनको ? सम्यग्दर्शन पानेवाले को नहीं; किन्तु जो उसकी सुनानेवाला (उपदेश देनेवाला) है, उस मुमुक्षु को। जो सुननेवाला है, वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तब बाह्य सहकारीकारण द्रव्यश्रुत-वीतराग की वाणी है और जो समझानेवाला मुमुक्षु है, उसको दर्शनमोह का क्षयोपशम अथवा क्षय हुआ होता है — इसकारण उसे अंतरंग कारण कहा जाता है। यहाँ यह सिद्ध करना है कि मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी तो सम्यग्दर्शन में निमित्त भी नहीं होता।

अहा! द्रव्यश्रुत भी बाह्य है और जो मुमुक्षु जीव/समकिती/उपदेशक है, वह भी है तो बाह्य; फिर भी समझने में समकिती का अभिप्राय निमित्त होने से उन्हें अंतरंग कारण/हेतु कहा है। वाणी की अपेक्षा ज्ञानी का जोर बतलाने के लिए ज्ञानी को अंतरंग कारण कहा है। अरे! अज्ञानी ऐसा सुने कब ? पढ़े कब ? और समझे कब ? यह जिन्दगी तो चली जा रही है। देखो न, क्षण में उड़ जाते हैं न ? (आयु पूर्ण हो जाती है न?)

कोई इस गाथा का ऐसा अर्थ करते हैं कि समकित का अंतरंग हेतु तो उपदेशक

www.vitragvani.com

समकिती को दर्शनमोह का जो क्षयादिक हुआ है उसको कहना। जो सम्यग्दर्शन प्राप्त ज्ञानी है, उसको दर्शनमोह का क्षयोपशम अथवा क्षय हुआ होता है, तो उस क्षयादिक को समकित का अंतरंग हेतुरूप से कहना चाहिए — ऐसा कोई कहता है, अर्थ करता है; परन्तु यहाँ यह अर्थ नहीं है। यहाँ तो यह कहना है कि जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है उसको द्रव्यश्रुत बाह्यनिमित्त है और उपदेशक ज्ञानी का अभिप्राय (तथा ज्ञानी) अंतरंग हेतु है; क्योंकि जिसने धर्म का उपदेश दिया उसको अर्थात् जिसको अंतरंग निमित्तकारण कहा, उसको दर्शनमोह के क्षयादिक हैं। अहा! जो उपदेशक समकिती जीव है, उसको क्षायिक अथवा क्षयोपशम समकित होता है। इसकारण उनके अभिप्राय को समकित का अंतरंग कारण कहा जाता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन पानेवाले को वास्तविक अंतरंग कारण तो ध्रुव आत्मा है; परन्तु बाह्य से-उपचार से धर्मी जीव को भी सम्यग्दर्शन का अंतरंग कारण कहा जाता है।

'द्रव्यसंग्रह' गाथा ४८ में धर्मध्यान के ४ बोल आते हैं — (१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय और (४) संस्थानविचय। उसमें अपायविचय में ऐसा अर्थ किया है कि (धर्मी को) ऐसा विचार करना कि मैं तो आठ कर्मों से रहित होना ही हूँ। मेरी वस्तु (आत्मा) आनन्दकन्द है और राग से भिन्न है — ऐसा मुझको भान हुआ है। इससे मैं एक-दो भव में आठ कर्मों से रहित होना ही हूँ; परन्तु सर्व प्राणी भी आठ कर्मों से रहित होकर मोक्ष प्राप्त करें। प्रभु! कोई शत्रु अथवा वैरी नहीं है अथवा कोई आत्मा हीन भी नहीं है। सभी आत्माएँ परिपूर्ण परमात्मशक्ति से भरपूर परमात्मा हैं। प्रभु! उस शक्ति की व्यक्ति हो जाओ। जो शक्ति है, उसकी प्रगटता/व्यक्तता मुझमें तो होगी ही; परन्तु सभी जीवों में भी शक्ति की व्यक्ति हो जाओ और कोई दु:खी न रहे। अरे! कोई प्राणी संसार के जन्म-मरण से दु:खी न रहे — ऐसी भावना वहाँ 'द्रव्यसंग्रह' में 'अपायविचय' के बोल में आयी है।

ओहो! पंचमकाल में वीतराग सर्वज्ञ का विरह हुआ और उनके अंतरंग अभिप्राय में से निकली वाणी क्या है — यह निर्णय करने में क्या उसका अर्थ करने में अभी बहुत गड़बड़ हो गई है। प्रभु! इसमें तो तेरा स्वयं का हित है। सत् की शरण ले तो तेरा हित होगा। असत् की शरण लेगा तो तेरा अहित होगा। भाई! यह बात तो स्वयं के लिए है। द्रव्यसंग्रह में तो कहते हैं कि सभी प्राणी यह बात समझें और मोक्ष जाएँ।

www.vitragvani.com

आठों कर्मों का अभाव करके सभी मोक्ष जाएँ — ऐसा हम कहते हैं। अहा! धर्मी स्वयं तो आठ कर्मों का नाश करके मोक्ष जाएगा ही; (परन्तु सभी जीव मोक्ष जाएँ — ऐसी भावना भी धर्मी भाता है।)

'समयसार' की ३८वीं गाथा में भी ऐसा कहा है कि श्रोता अप्रतिबुद्ध था, उसको गुरु ने समझाया कि आत्मा राग से भिन्न आनन्दमय है। फिर श्रोता समझा और वह ऐसा समझा कि अब पड़ेगा नहीं। (जो सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ) उसी ज्ञान से मुक्ति लेगा — वह ऐसा होता है। इसलिए प्रभु! गुरु कहते हैं उसे समझकर तू अप्रतिहत भाव प्रगट करना — ऐसा कहना है। लो, अप्रतिबुद्ध को भी गुरु ने ऐसा समझाया है और अप्रतिबुद्ध श्रोता भी ऐसा योग्य लिया है कि पड़ेगा नहीं। तो कहा कि भगवान! तू भी लोकालोक का जाननेवाला हो जा! — ऐसी बात तो शास्त्रों में दो-तीन स्थानों पर है। श्री समयसार के सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार में (श्री जयसेनाचार्य की टीका), बंध अधिकार में (श्री जयसेनाचार्य की टीका) और श्री परमात्मप्रकाश के अन्त में ऐसा आता है कि सभी जीव मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदन सम्बन्धी विकल्प त्याग कर भगवान हो जाओ। प्रभु! परमात्मा हो जाओ! सभी आत्मा को प्राप्त करो, सबको आत्मज्ञान हो जाओ! नाथ! यह संसार और जन्म-मरण तो तुझे कलंक है — ऐसी बात है।

यहाँ कहते हैं कि उनके दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं। किसके ? जो सम्यग्दर्शन पाता है उस पानेवाले के नहीं; परन्तु जो उसको समझानेवाला है, वह धर्मी/समकिती है; इसलिए उसके दर्शनमोह के क्षयादिक हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले ने समकिती की वाणी सुनी और उसका अन्तर-अभिप्राय पकड़ लिया — इसकारण समकिती को अंतरंग हेतु कहा गया है और उसको दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं — ऐसा कहते हैं। लो, यह दो पक्तियों का ऐसा अर्थ है; परन्तु अरे! ऐसा पढ़े कौन और विचारे कौन ? अरे! दुनिया तो अज्ञान ही अज्ञान में चली जा रही है और उसमें अकस्मात् मृत्यु आ जाती है। क्या कहीं मृत्यु पहले कहने आती है कि मैं आती हूँ ? तेरे देह छूटने का समय आ गया है और मैं आती हूँ — क्या मृत्यु ऐसा कहती है ? देह छूटने के समय देह एकदम छूट जाती है। वास्तव में तो देह छूटी हुई ही है। वह कहाँ आत्मा से एकरूप है। आत्मा भिन्न है और यह देह भिन्न है। अरे! अन्दर होने

वाले राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव और भगवान आत्मा भिन्न है। जैसे छिलके सहित दाल में छिलका और दाल भिन्न-भिन्न है; वैसे ही दाल समान भगवान आत्मा भिन्न है और छिलके समान जो ऊपर-ऊपर हैं, वे पुण्य-पाप के भाव भिन्न हैं। लो, वीतराग की वाणी ऐसी है।

अहा! तीनलोक के नाथ श्री सीमन्धर स्वामी भगवान महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् विराजमान हैं। वहाँ मनुष्य, इन्द्र और बाघ-सिंह, नाग आदि पशु भी प्रातः दोपहर और सायं भगवान की वाणी सुनने जाते हैं। उनमें से कितने ही जीव सच्ची समझ करके मोक्ष प्राप्त करते हैं; क्योंकि अभी यहाँ से (भरत-ऐरावत क्षेत्र से) तो मोक्ष है नहीं; परन्तु सिद्धान्त में कथन है कि छह महीना आठ समय में छह सौ आठ जीव मनुष्य क्षेत्र में से मुक्त होते हैं। अहा! यह मनुष्य क्षेत्र अढ़ाई द्वीप-पैंतालीस लाख योजन में ही है, शेष असंख्य द्वीप-समुद्र तो तिर्यंचों से ही भरे हैं। अढ़ाई द्वीप के बाहर असंख्य तिर्यंच हैं। उनमें कोई सिंह-बाघ आदि तिर्यंच समकिती भी हैं। असंख्य मिथ्यादृष्टि तिर्यंच है तो कोई एक समकिती तिर्यंच भी है। इसप्रकार अढ़ाई द्वीप के बाहर असंख्य सम्यग्दृष्टि तिर्यंच हैं।

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! ऐसी बात तुझे सुनने को मिली है, तो अब काम करना तुझे ही शेष रहता है। भाई! यह काम है राग से भिन्न पड़ना और वही करना है। भेदज्ञान करने से राग का स्वामीपना छूट जाता है और स्वरूप का स्वामीपना हो जाता है। तत्पश्चात् क्रमशः राग घटकर-मिटकर जीव वीतराग हो जाता है।

इसप्रकार यह व्यवहाररत्नत्रय की बात की, अब निश्चयरत्नत्रय की बात करते हैं।

'अभेद-अनुपचार-रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को..' — भगवान आत्मा अन्दर में शुद्ध चैतन्यघन है। जिसने स्वभाव के आश्रय से उसकी अन्तर्दृष्टि, ज्ञान और रमणता की है, उसको अभेद-रत्नत्रय प्रगट होता है। यह अभेद-रत्नत्रय पर के अथवा राग के कारण नहीं है और निमित्त से भी नहीं है तथा वह अनुपचार है अर्थात् उसमें उपचार भी नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ऐसे तीन भेद पड़ें, वैसा उपचार भी उसमें नहीं है। सच्चे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो तो भी यदि तीन भेद पड़े तो वह उपचार है। जबकि यहाँ तो एकरूप-अभेद और अनुपचार रत्नत्रय की बात है।

www.vitragvani.com

अहा! आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु है। सत् अर्थात् भगवान आत्मा कायम रहनेवाला है और चिदानन्द अर्थात् प्रभु आत्मा ज्ञान और आनन्दरूप है। तो उसकी अभेद-भेदरहित और अनुपचार रत्नत्रय परिणतिवाले अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतावाले जीव को....ऊपर टीका में पहले निश्चयरत्नत्रय सहित बाहर के व्यवहाररत्नत्रय का वर्णन किया था। जबकि यह तो अकेले अभेद अन्तर के निश्चयरत्नत्रय की बात है। अहा! आत्मा ऐसा शुद्ध चैतन्यघन है कि उसमें दया, दान, व्रत के विकल्प की गंध भी नहीं है। ऐसा निर्मलानन्द प्रभु आत्मा.....

'ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव।
श्री जिन वीर धर्म प्रकाशियो, प्रबल-कषाय अभाव॥'

तीनलोक के नाथ जिनेश्वरदेव कहते हैं कि जैसे स्फटिक निर्मल होता है; वैसे ही अन्दर में प्रभु आत्मा निर्मलानन्द है। जबकि पुण्य-पाप का मेल तो ऊपर में है तथा पुण्य और पाप — दोनों कषाय है। कष=संसार और आय=लाभ। पुण्य-पाप के परिणाम से संसार-परिभ्रमण का लाभ मिलता है, इसलिए वे कषाय हैं। श्री वीर भगवान ने कषाय के अभावरूप धर्म बतलाया है।

यहाँ कहते हैं कि एकरूप चैतन्य की एकरूप दृष्टि-ज्ञान-रमणता करना सो अभेद और अनुपचार रत्नत्रय है। अहा! दर्शन-ज्ञान-चारित्र ऐसे तीन भेद भी नहीं; क्योंकि ऐसे भेद करने से तो उपचार (विकल्प) हो जाता है। तो अभेद-अनुपचार रत्नत्रय अर्थात् तीन भेद भी नहीं; अपितु तीनों का एकरूपपना। प्रभु भगवान आत्मा, जो कि आनन्द का नाथ है, उसकी दृष्टि-ज्ञान-रमणता — ये तीनों ही अन्दर में जाने पर एकरूप हो जाते हैं और यहाँ उसको अभेद-अनुपचार रत्नत्रय कहते हैं।

अभेद-अनुपचार.......कौन अभेद-अनुपचार ? कि रत्नत्रय। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र — ये रत्नत्रय-तीन रत्न हैं, जिनके मूल्य में मुक्ति प्राप्त होती है। जबकि इन दुनिया के रत्नों से तो धूल-पैसा मिलता है। अहा...! सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव-प्रतीति, सम्यग्ज्ञान अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ज्ञान; शास्त्रज्ञान भी नहीं, (किन्तु स्वरूप का ज्ञान) और सम्यक्चारित्र अर्थात् चैतन्य स्वरूप में रमणता। (चारित्र= अन्दर स्वरूप में चरना, जमना, रमना।) — ऐसी जो अभेद-अनुपचार रत्नत्रयपरिणति है अर्थात् त्रि-रत्नरूपी अवस्था/पर्याय है, वह मोक्ष का मार्ग है। प्रभु! वह मार्ग जगत

www.vitragvani.com

से अलग प्रकार का है। इसने (अज्ञानी ने) अनन्त-अनन्तकाल में कभी एक सैकेण्डमात्र के लिए भी आत्मज्ञान नहीं किया। हाँ, बाहर से हजारों रानियाँ और पुत्रादि को छोड़कर साधु हुआ, त्यागी हुआ और श्रावक भी हुआ; परन्तु अंतरंग में आत्मज्ञान के बिना यह सब व्यर्थ गया। भाई! जन्म-मरण से रहित होने का मार्ग तो रत्नत्रय परिणति है। इसके बिना सब व्यर्थ है।

अहा...! अभेद-अनुपचार रत्नत्रय अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र ऐसे तीन भेद भी नहीं; अपितु तीनों का एकरूपपना। देखो, यहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र — इन तीनों को भेदरहित अभेद-अनुपचार कहा है; क्योंकि अन्तर में पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा है। उसके साथ दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता होने पर वे एक हो जाते हैं, परन्तु तीन भेद नहीं रहते अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में ये तीन दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आत्मा के साथ एकत्व हो जाता है। तो ऐसे अभेद-अनुपचार रत्नत्रय परिणति वाले जीव को.....

'टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है — ऐसे निज परमतत्त्व की श्रद्धा द्वारा.........' जैसे टाँकी से उकेर कर पत्थर में से मूर्ति निकालते हैं, वैसे ही (भेदज्ञान रूपी) टाँकी से राग को निकाल देने पर अन्दर में से निर्मलानन्द टंकोत्कीर्ण प्रभु आत्मा प्रगट होता है। ऐसा टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है अर्थात् जिसका अकेला जानने का स्वभाव है-प्रज्ञास्वभाव है — ऐसा आत्मा प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है। तो, अन्दर में जिसका जाननेमय और आनन्दमय स्वरूप है — ऐसे निज परमतत्त्व की श्रद्धा द्वारा...।

अज्ञानी को लगता है कि कुछ कथा-वार्ता होवे तो बात बैठे भी सही। किसी की दया पालना, दान देना, भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी देना, रोगी को दवा देना — ऐसी बात हो तो समझ में भी आती है; परन्तु बापू! आहार-पानी-दवा कौन दे ? आत्मा एक रजकण को भी दे-ले नहीं सकता; क्योंकि वह कभी भी परद्रव्य का स्पर्श ही नहीं करता। आत्मा ने कभी इस शरीर का स्पर्श भी नहीं किया है। आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न है, तो फिर वह आहार-पानी, स्त्री, कुटुम्बादि को स्पर्श करे यह कैसे हो सकता है ? भगवान! भगवान का यह फरमान है कि तू एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को कभी स्पर्श नहीं करता। अरे रे! जिसे ऐसी बात सुनने को भी नहीं मिलती वह कब तो समझे और कब अनुभव के लिए समय निकाले ?

www.vitragvani.com

यहाँ कहते हैं कि 'टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है........' देखो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र — ऐसी तीनरूप रत्नत्रय परिणति कही, फिर भी वस्तुस्वरूप ज्ञायक द्रव्य तो एक है — ऐसा कहते हैं और ऐसे निज परम तत्त्व की श्रद्धा द्वारा अर्थात् अन्तर में ज्ञानमूर्ति प्रभु भगवान आत्मा की श्रद्धा द्वारा सिद्धपर्याय होती है — यह कहना है। इसप्रकार यह बोल पूर्ण हुआ।

'तद्ज्ञानमात्र (उस निज परमतत्त्व के ज्ञानमात्रस्वरूप) ऐसे अन्तर्मुख परमबोध द्वारा.....' लो, शास्त्र ज्ञान भी नहीं; क्योंकि शास्त्र तो परवस्तु है; परन्तु अन्दर में ज्ञानस्वरूप प्रभु आत्मा है, उसके ज्ञान द्वारा.......जैसे शक्कर में मिठास और सफेदपना भरा है, अग्नि में उष्णता है; वैसे ही भगवान आत्मा में ज्ञान और आनन्द भरा है। उस ज्ञान और आनन्द स्वरूप एकरूप आत्मा के अन्तर्मुख परमज्ञान द्वारा सिद्धपर्याय होती है — ऐसा कहते हैं। — यह दूसरा बोल हुआ। कौन-से दो बोल हुए ? कि (१) निज परम तत्त्व की श्रद्धा द्वारा और (२) तद्ज्ञानमात्र अन्तर्मुख परमबोध द्वारा....इसप्रकार दो बोल में श्रद्धा और ज्ञान की बात की। (अब चारित्र की बात करते हैं।)

'और उसरूप से (अर्थात् निज परमतत्त्वरूप से) अविचलरूप से स्थित होनेरूप सहजचारित्र द्वारा.......' चलित न हो — ऐसे समकित और ज्ञानसहित स्वरूप में स्थिरता, वह अविचल स्थितिरूप सहज अर्थात् स्वाभाविक चारित्र है और उसके द्वारा, **'अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है।'** एकरूप ज्ञायक के ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा सिद्धपद की पर्याय-परमात्मपने की पर्याय उत्पन्न होती है। इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है।

इस पैराग्राफ में यह बात चलती है कि आत्मा की मुक्ति/मोक्ष किसप्रकार होती है और किसको होती है। सूक्ष्म बात है भगवान! कहते हैं — 'अभेद-अनुपचार रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को...' प्रभु आत्मा अतीन्द्रिय अनन्तज्ञान और आनन्दस्वरूप अभेद वस्तु है अर्थात् अनन्त गुणों का पिण्ड भगवान आत्मा एकरूप वस्तु है। उसके अभेद अर्थात् भेदरहित और अनुपचार अर्थात् व्यवहार नहीं, बल्कि निश्चय — ऐसे रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को....अहा! जिसको सच्चा-निश्चयरत्नत्रय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुआ है, उस जीव को........लो, ऐसी भाषा है! भगवान की सिद्धान्त भाषा ऐसी संक्षिप्त है।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अहा! चैतन्यस्वरूप आत्मा में राग-द्वेष या पुण्य-पाप तो नहीं, परन्तु उसमें गुण-गुणी का भेद भी नहीं है। इसलिए आत्मा गुणी और दर्शन, ज्ञान, आनन्दादि गुण — ऐसा भेद भी दृष्टि में नहीं लेना। दृष्टि में तो अभेद-एकरूप आत्मा लेना। ऐसे आत्मा को दृष्टि में लेने पर जो अभेद-एकरूप और अनुपचार अर्थात् उपचाररहित निश्चयरत्नत्रय — तीन प्रगट हों, उस रत्नत्रय की परिणतिवाले-पर्यायवाले जीव को....लो, रत्नत्रय पर्याय है और उसका विषय जो आत्मा है, वह अभेद और अनुपचार द्रव्य है। अहा..! त्रिकाली वस्तु भगवान आत्मा जो कि अखण्ड-अभेद और अनन्तगुण का पिण्ड है — उसके आश्रय से अर्थात् स्वभाववान के आश्रय से जिसको अभेद-अनुपचार रत्नत्रय परिणति उत्पन्न हुई है अर्थात् जिसको आनन्द सहित निर्विकल्प रत्नत्रय, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उत्पन्न हुआ है, उस रत्नत्रय परिणतिवाले जीव की मुक्ति होती है — ऐसा कहते हैं।

'टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है.....' भगवान आत्मा टंकोत्कीर्ण-शाश्वत है और उसका एकरूप स्वभाव है। यद्यपि आत्मा में अनन्तगुण हैं, तो भी उसका स्वरूप-स्वभाव एकरूप है। द्रव्यरूप से-तत्त्वरूप से उसका एकरूप स्वभाव है। जैसे शक्कर में मिठास, सफेदपना आदि होने पर भी शक्कर शक्कररूप से (वस्तुरूप से) एक है; वैसे ही आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि अनन्तगुण होने पर भी आत्मा वस्तुरूप से एक है। उस भगवान आत्मा का स्वभाव ज्ञायक है अर्थात् वह जाननहार.....जाननहार..... जाननहार.....जाननेवाला है। देखो, आत्मा में 'जानना' यह एक ही स्वभाव है — ऐसा कहते हैं। आत्मा में अनन्त गुण होने पर भी उन सबमें एकरूप ऐसा ज्ञायकपना — यह उसका एक स्वभाव है — ऐसा कहते हैं।

'ऐसे निज परमतत्त्व की श्रद्धा द्वारा.......' प्रभु आत्मा के निज परमतत्त्व की-अपने ज्ञायकस्वरूप की श्रद्धा द्वारा....अनन्त-आनन्द, अनन्तशान्ति का सागर होने पर भी आत्मा एकरूप वस्तु है। ऐसे निज परमतत्त्व की/ऐसे निज ज्ञायक आत्मा की श्रद्धा द्वारा.....देखो, यहाँ तीन — श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र लेंगे कि इन तीनों की एकता होगी, तब मुक्ति होगी-सिद्धपद प्रगट होगा।

'तद्ज्ञानमात्र (उस निज परम तत्त्व के ज्ञानमात्रस्वरूप) ऐसे अन्तर्मुख परमबोध द्वारा.......' ज्ञायक भगवान आत्मा जानन-देखनस्वरूप चैतन्यसूर्य है, चैतन्यचन्द्र है,

www.vitragvani.com

चैतन्यप्रकाश का पुंज है और उसका ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है। अरे! भाषा भी कड़क लगे ऐसी है! भाई! प्रभु का-जिनेश्वर का मार्ग कोई अलौकिक है। कहते हैं कि परमतत्त्व भगवान आत्मा का ज्ञान....देखो, शास्त्रज्ञान अथवा दूसरा ज्ञान मोक्ष के लिए काम नहीं करता; परन्तु मोक्ष के उपाय में तो एकरूप चैतन्य ज्ञायकभाव का ज्ञान ही काम करता है — ऐसा कहते हैं। भाई! ऐसा सूक्ष्म है। अरे! यह क्या चीज है — उसकी बात भी अभी जिसके कान में नहीं पड़ी हो, अरे रे! वह कब समझे और कब पावे ? वह अनन्तकाल से परिभ्रमण करता है, उसमें इस रत्नत्रय द्वारा ही उसकी मुक्ति होगी; परन्तु अन्य कोई उपाय नहीं है — ऐसा यहाँ कहते हैं।

यहाँ कहा कि तद्ज्ञानमात्र अर्थात् परमतत्त्व चैतन्यमूर्ति आत्मा का ही अकेला ज्ञान, परन्तु अन्य कुछ नहीं। भगवान आत्मा पूर्णज्ञान और पूर्णानन्दस्वरूप है। तद्ज्ञानमात्र-उसके ज्ञानमात्र — ऐसे अन्तर्मुख परमबोध द्वारा यह दूसरा ज्ञान का बोल कहा। पहला बोल समकित श्रद्धा का और दूसरा बोल ज्ञान का कहा। (अब तीसरा चारित्र का बोल कहते हैं।)

'और उस रूप (अर्थात् निज परमतत्त्वरूप से) अविचलरूप से स्थित होनेरूप सहजचारित्र द्वारा.....परमतत्त्व भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का पिण्ड है। अन्दर में ज्ञान और आनन्द का महा अरूपी पर्वत है। उसमें अचलितरूप से स्थिर होना चारित्र है। लो, चारित्र कोई पंचमहाव्रत अथवा दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम नहीं है — ऐसा कहते हैं, क्योंकि वह सब तो रागरूप है, विकल्प का जाल है।

निज परमतत्त्व में अविचलरूप से स्थित होनेरूप स्वाभाविक चारित्र द्वारा अर्थात् अन्दर में ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की श्रद्धा सहित त्रिकाली स्वरूप में रमणता द्वारा...अहा! चारित्र ऐसा महँगा है बापा! लोगों को यहाँ तक पहुँचना (ऐसा चारित्र प्रगट करना) मुश्किल है। कहते हैं कि सहजचारित्र द्वारा-स्वाभाविक चारित्र द्वारा 'अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है।' सिद्धपद पहले कभी नहीं हुआ और इस रत्नत्रय द्वारा पहले कभी नहीं हुआ — ऐसा सिद्धपद होता है। एकरूप ज्ञायक शुद्ध चैतन्यज्योत भगवान आत्मा की एक की श्रद्धा समकित है, उसका ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और उसमें ही अविचलरूप से-चलित न हो वैसी स्थिरता चारित्र है — इन तीनों से अभूतपूर्व-पूर्व में कभी नहीं हुई ऐसी सिद्धि होती है। प्रभु! भाषा तो सादी है; परन्तु भाव तो जो हो वही होगा न ?

www.vitragvani.com

उसमें दूसरा क्या होगा ? यह तो तीनलोक के नाथ की बात है। यह बात सर्वज्ञ प्रभु परमात्मा की वाणी में आई है और संतों ने स्वयं शास्त्रों की रचना करके इसको गूँथा है।

यहाँ कहते हैं कि सिद्धपर्याय अभूतपूर्व है अर्थात् सिद्धपने की पर्याय अ+भूत+पूर्व-पूर्व में कभी नहीं हुई। इसने भूतकाल में अनन्त भव किये हैं; परन्तु उन नरक, निगोद, चींटी, कौआ, कुत्ता, सूकर, मनुष्य और देव आदि ऐसे-ऐसे अनन्त-अनन्त भवों में कभी एकसमय भी सिद्धपद की प्राप्ति नहीं हुई। अब अपने आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान और अविचल चारित्र द्वारा इन समस्त भवों का नाश करने से, पूर्व में नहीं हुई — ऐसी अभूतपूर्व सिद्धि की अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति होती है। प्रभु! (तत्त्व) ऐसा सूक्ष्म है! ऐसी बातें हैं!

देह में विराजमान यह प्रभु आत्मा जो कि ज्ञायकरूप एकरूप चैतन्यरत्न है, उसकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। अहा! एकरूप की श्रद्धा कहने से गुण-गुणी का भेद भी नहीं; परन्तु अन्दर अनुभव में एकरूप चैतन्य की प्रतीति होना वह। उस एकरूप चैतन्य का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और उस एकरूप चैतन्यस्वरूप में अविचलरूप से रमणता होना-स्थिति होना वह सम्यक्चारित्र है। इन तीन से अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है। यहाँ तक पूर्व में आ गया है; परन्तु यह बात जरा सूक्ष्म है; इसलिए फिर से लिया है।

अहा! हमने तो बहुत देखा है; परन्तु बाहर में कहीं शान्ति नहीं मिलती। अरे! संसार में कोई शरणभूत नहीं है। शरणभूत तो अन्दर में एक भगवान आत्मा है। अहा! महावीर प्रभु के पाँच सौ वर्ष पश्चात् दिगम्बर में से यह श्वेताम्बर निकले। फिर आज से पाँच सौ वर्ष पहले श्वेताम्बरों में से स्थानकवासी निकले और फिर स्थानकवासी में से तेरा पंथ (तुलसी) निकले। अनादि-सनातन वीतराग का सत्यधर्म तो यह दिगम्बर है। यद्यपि हमने अठारह वर्ष की आयु से सम्प्रदाय के शास्त्र पढ़े; परन्तु यह चीज (दिगम्बर शास्त्र) कोई अलग है। जहाँ संवत् १९७८ में 'समयसार' प्राप्त हुआ, तब मैंने कहा कि शरीररहित होना हो तो यह शास्त्र है। सिद्धपद पाना हो तो यह चीज है। अहा! अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा है। यह पैसा, स्त्री, कुटुम्ब आदि विषयों के भोग में माना जानेवाला आनन्द तो जहर.....जहर....जहर का प्याला है। (वह कोई सच्चा/अतीन्द्रिय आनन्द नहीं है।) आत्मा तो उससे (इन्द्रियानन्द से) रहित है।

यहाँ कहते हैं कि जिसको वह सिद्धपद प्रगटनेवाला है, वे **'परम जिनयोगीश्वर...'** अहा! जिनको आत्मा में से परम वीतरागीदशा प्रगट हुई है, वे परम/उत्कृष्ट जिनयोगीश्वर हैं अर्थात् जंगलवासी नग्न दिगम्बर मुनि, जो कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हैं, उनको परम जिनयोगीश्वर कहा गया है। यहाँ 'परम जिनयोगीश्वर' कहने से परम वीतरागी योगी-स्वरूप में जुड़ान करनेवाले मुनि — यह आशय है, परन्तु योगी अर्थात् बाहर के बाबा-योगी की बात यहाँ नहीं है। मिथ्यात्व, माया और निदान — इन तीन शल्यरहित होकर, जिन्होंने अन्तर में रमणता की है, वे परम जिनयोगीश्वर निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हैं — ऐसे परमजिनयोगीश्वर.....।

कहते हैं कि **'पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं।'** परम जिनयोगीश्वर को निश्चयरत्नत्रय तो है; परन्तु जबतक पूर्ण शुद्धता नहीं होती, तबतक पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारचारित्र भी होता है। उनको अन्दर आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान और चारित्रसहित, पापक्रिया से निवृत्तिरूप पंचमहाव्रत के परिणाम होते हैं और वह व्यवहारचारित्र है, जो कि पुण्यबंध का कारण है। जबकि निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मुक्ति का कारण है। इसप्रकार परम जिनयोगीश्वर को व्यवहार (शुभराग) आता है; परन्तु वह पुण्यबंध का कारण है।

यहाँ कहा है कि जो परम जिनयोगीश्वर पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहार चारित्र में होते हैं **'उन्हें वास्तव में व्यवहारनयगोचर तपश्चरण होता है।'** जिनको निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसहित पाप की निवृत्तिरूप महाव्रत होते हैं, उन्हें व्यवहारनयगोचर तप होता है — यह व्यवहारतप है, व्यवहारचारित्र है और पुण्यबंध का कारण है। वह होता है, आता है; परन्तु है बंध का कारण ।

'सहज निश्चयनयात्मक परमस्वभावस्वरूप परमात्मा में प्रतपन सो तप है।' यह वास्तविक तप है, जो कि मोक्ष का यथार्थ मार्ग है। वरना ये बाहर के उपवासादि तो सब लंघन हैं। उप+वास=आत्मा की समीपता। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा के समीप बसना उपवास है। इसके अतिरिक्त आत्मा के भान बिना सब अपवास है। अप+वास=माठो वास। ऐसी बात है। अरे प्रभु! भटकते-भटकते अनन्तकाल बीता; परन्तु तूने वास्तविक तत्त्व को प्राप्त नहीं किया। अरे! वास्तविक तत्त्व को प्राप्त करने की दरकार भी नहीं की। एक तो वास्तविक तत्त्व सुनने मिलना भी कठिन है;

www.vitragvani.com

फिर सुनने मिलने के पश्चात् भी तत्त्व को प्रयत्न से प्राप्त करना चाहिए — वह इसने नहीं किया।

अहा! मुनि को पंचमहाव्रतादि के परिणाम होते हैं, तो भी वह राग है; जबकि अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र अनुभव होना निश्चय/सत्य चारित्र है। अरे रे! ज्ञानी और अज्ञानी की बात में बहुत अन्तर है। अज्ञानी की बात लौकिक है और वीतराग त्रिलोकनाथ की वाणी अलौकिक है। वे (वीतराग त्रिलोकनाथ) ऐसा कहते हैं कि मुनि को निश्चयचारित्र सहित व्यवहारचारित्र होता है और वह निश्चयचारित्र तप से होता है। किस तप से ? '**निश्चयनयात्मक**' — स्वाभाविक निश्चयनयस्वरूप ऐसे '**परमस्वभावस्वरूप**' — परमवीतराग शान्तस्वरूप '**परमात्मा में**' — अन्दर जो शुद्ध चैतन्य आत्मा है उसमें, '**प्रतपन**' — रहना '**सो तप है।**' (ऐसे तप से निश्चय-चारित्र होता है।) लो, ये तो हजारों वर्ष पहले के शास्त्र हैं। मूल गाथाएँ दो हजार वर्ष पूर्व की हैं और उनकी टीका नौ सौ वर्ष पूर्व की है। मूल गाथाएँ श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की हैं और टीका श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने बनाई है।

यहाँ कहते हैं कि स्वाभाविक निश्चयनयस्वरूप परमस्वभावस्वरूप परमात्मा में-वीतराग आत्मा में-प्रतपन सो तप है। वीतरागस्वरूप आत्मा के अवलम्बन से/आश्रय से जो वीतरागता उत्पन्न होती है सो तप है। अन्दर में परमवीतरागस्वरूप परम आत्मा है-त्रिकाली ध्रुव आत्मा है, उसमें प्रतपन=प्र+तपन=विशेष एकाग्रता-लीनता होने को भगवान तप कहते हैं। इसके सिवाय ये सब वर्षीतप आदि तो लंघन हैं। अहा! भगवान तो ऐसा कहते हैं कि सहज निजस्वरूप-परमात्मस्वरूप-त्रिकाली ज्ञान-आनन्दादि स्वरूप आत्मा में विशेष स्थिरता होना तप है और उस तप से संवर, निर्जरा तथा मुक्ति होती है।

अब कहते हैं कि —

'**निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज-निश्चयचारित्र इस तप से होता है।**' निजस्वरूप से चलित न हो — ऐसी स्थितिरूप स्वाभाविक सत्य/सच्चा चारित्र इस तप से होता है। अरे रे! ऐसी बात सुनने को भी नहीं मिलती; परन्तु यहाँ अन्दर (शास्त्र में) है या नहीं ? यह घर के बही-खाते तो हमेशा देखता है; परन्तु यह शास्त्र देखने-पढ़ने का अवकाश नहीं मिलता और कदाचित् शास्त्र पढ़े तो भी यह बात सत्समागम

बिना एकदम नहीं बैठती। भगवान! कठिन बात है! प्रभु! तेरा मार्ग कठिन है; परन्तु उसका फल अलौकिक सिद्धदशा है न!

यहाँ कहा है कि निजस्वरूप में अविचलस्थितिरूप सहज निश्चय चारित्र इस तप से होता है। वह तप कौन-सा ? ऊपर कहा गया अर्थात् परमात्मा में प्रतपनरूप तप। अन्दर परम अमृतस्वरूप भगवान आत्मा में प्रतपन सो तप है और ऐसे तप से सहज निश्चयचारित्र होता है। अरे! पहले तो अभी यह बात सुनने में भी कठिन पड़े — ऐसी है; परन्तु क्या हो सकता है ? जिन्दगी तो चली जा रही है और जीव मरण के सन्मुख होता जा रहा है। एक दिन मरण आने पर देह छूट जायेगी; परन्तु इसका आत्मा तो अनादि-अनन्त रहनेवाला है। यदि इसने इस आत्मतत्त्व की यथार्थ-निश्चय दृष्टि-ज्ञान आदि नहीं किया तो जन्म-मरण का अन्त नहीं आएगा और इसके बिना इसने किया क्या ? कदाचित् इसने दान में करोड़ों रुपये खर्च किए हों तो भी उसमें धर्म नहीं है। 'मैं दान देता है' — ऐसा अभिमान छोड़कर, राग की मंदता की होवे तो शुभभाव-पुण्य होता है और उससे पुण्यबंध होता है; परन्तु धर्म नहीं होता तथा 'पैसा मेरी वस्तु है, मैंने पैसा दिया' — इसप्रकार उसमें स्वामीपना-कर्तापना माने तो मिथ्यात्व सहित अनन्त संसार मिलेगा। भाई! पैसा तो जड़/धूल है और तू तो चैतन्य प्रभु आत्मा है। तो क्या यह जड़/धूल चैतन्य आत्मा की है कि तू इसे दे सके ? भाई! यह पैसा मेरा है और मैंने खर्च किया — ऐसा ममत्व और कर्ताबुद्धि तो मिथ्यादृष्टि को होती है। प्रभु! काम कड़क है; परन्तु इस समझ का फल अलौकिक है।

यहाँ कहते हैं कि अनन्त संसार का अन्त आ जाए और 'सादि-अनन्त-अनन्त समाधि सुख में, अनन्त दर्शन-ज्ञान अनन्त सहित.....' रहे अर्थात् मोक्ष होने का कारण यह तप है अर्थात् ऐसे चारित्र और तप से सिद्धपद की प्राप्ति होती है — यह कहते हैं।

अब (पद्मनन्दि पंचविंशतिका का आधार देते हैं।) **'आत्मा का निश्चय वह दर्शन है।'** देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा अथवा नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा भी कोई समकित नहीं है; क्योंकि वह तो राग है। पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु भगवान आत्मा का निश्चय वह दर्शन है। सच्चिदानन्द-सत् अर्थात् शाश्वत ज्ञान और आनन्द का भण्डार-खजाना — ऐसे प्रभु आत्मा के सन्मुख होकर, उसको ज्ञान में-ख्याल में लेकर उसकी प्रतीति करना दर्शन है-सम्यग्दर्शन है। कितनी शर्त है ? पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान

आनन्द से भरपूर भरा है। जैसे शक्कर में मिठास भरी है। वैसे ही आत्मा में अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द भरा है। उसके सन्मुख होने पर जो श्रद्धा होती है, वह सम्यग्दर्शन है।

'आत्मा का बोध वह ज्ञान है।' यहाँ शास्त्रज्ञान की बात नहीं है; क्योंकि वह तो बाहर की बात है। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ जो भगवान आत्मा है, उसका ज्ञान होने को बोध अर्थात् सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

'आत्मा में ही स्थिति वह चारित्र है।' चारित्र कोई बाहर की चीज अथवा क्रियाकाण्ड नहीं है; अपितु अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप प्रभु आत्मा में स्थिति/स्थिरता/रमणता होना चारित्र है। एक-एक व्याख्या अलग है।

'ऐसा योग (अर्थात् इन तीनों की एकता) शिवपद का कारण है।' अतीन्द्रिय आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द प्रभु, अनाकुल शान्ति का रसकन्द — ऐसे आत्मा का अनुभव होकर अर्थात् उसका ज्ञान होकर उसकी प्रतीति आना सो आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन है, उसका ज्ञान होना-बोध होना सो सम्यग्ज्ञान है तथा आत्मा में ही स्थिति होना चारित्र है। देखो, यहाँ 'ही' शब्द है, जिसका आशय यह है कि आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, आनन्द का सागर, आनन्दस्वरूप है, उसमें ही अन्दर स्थिर होना सो चारित्र है। ऐसा योग — इन तीनों की एकता शिवपद का कारण है। अद्‌भुत बात है प्रभु! यह श्लोक 'श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका' के एकत्वसप्तति अधिकार में से लिया है। बहुत संक्षेप में कहा है।

अहा! यह शरीर तो जड़/मिट्टी/धूल है; अन्दर आठ कर्म हैं, वे भी मिट्टी/धूल हैं; दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम पुण्य हैं और हिंसा, झूठ, कमाना, व्यापार में ध्यान देना यह पाप है। ऐसे अजीव और पुण्य-पाप से भिन्न अन्दर जो भगवान आत्मा है, उसका अनुभव होकर, उसकी सन्मुखता में प्रतीति होना, उसका ज्ञान होना और उसमें रमणता होना — यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। इन तीन से अर्थात् इस विधि से इसकी मुक्ति/सिद्धि है। बापू! कड़क लगे ऐसा है; परन्तु क्या हो ? क्योंकि मार्ग तो यही है। 'एक होय तीनकाल में परमारथ का पंथ।' भूतकाल में अनन्त तीर्थंकर परमात्मा जिनेश्वरदेव हुए हैं, भविष्य में होंगे और वर्तमान में संख्यात तीर्थंकर और केवली विचरते हैं। उन सबका एक ही प्रकार का कथन है और वह यह है।

अहा! अन्दर में वस्तु भगवान आत्मा चिदानन्दमय प्रभु है। अनन्त-अनन्त आनन्दादि गुणों का रसीला प्रभु आत्मा गुणों का भण्डार है। उसके सन्मुख होने पर अनुभव में श्रद्धा होना वह दर्शन है, उसके अनभुव में ज्ञान होना वह ज्ञान है और उसके अनुभव में रमणता होना वह चारित्र है। यह तीन मुक्ति का कारण है। अज्ञानी को तो अभी यह भाषा भी कठिन पड़ती है। परन्तु क्या हो प्रभु ? अरे! अनन्तकाल (संसार) परिभ्रमण में व्यतीत हुआ; परन्तु यह भूल गया है। देखो न! इस शरीर में लकवा होता है न ? जड़ की दशा ऐसी हो उसमें दूसरा क्या करे प्रभु ? प्रभु! जिस समय जड़ की जो अवस्था होनी है वह होती ही है। वह तुझमें रुक नहीं सकती। तू ऐसा मानता है कि मैं इसको सुधार दूँ; परन्तु वह दशा तुझसे सुधारी नहीं जा सकती।

यहाँ कहते हैं कि सुख/आनन्द तो अन्दर आत्मा में है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र — इन तीनों की एकता शिवपद का/मोक्ष का कारण है। शिवपद अर्थात् मोक्ष। 'नमोत्थुणं' में आता है कि 'शिवमयलमरुमणंतं' — 'शिव' अर्थात् यह बाहर के शंकर नहीं; परन्तु कल्याणस्वरूप मोक्ष अथवा आत्मा। अन्दर भगवान आत्मा शिवस्वरूप अर्थात् कल्याणस्वरूप, निरुपद्रवस्वरूप है। जिसमें उपद्रव नहीं है; परन्तु जो अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है — ऐसा आत्मा शिवस्वरूप है और जैसे समुद्र में ज्वार आता है, वैसे आत्मा की पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आना मुक्ति या सिद्धपद है। अहा! अज्ञानी के साथ तो बात-बात में अन्तर है। प्रभु! वीतराग जिनेश्वरदेव प्रभु का मार्ग जगत से अलग है।

अब टीकाकार स्वयं श्लोक कहते हैं —

कलश ७५ पर प्रवचन

'सहजज्ञान सदा जयवन्त है।' इसके दो अर्थ हैं — (१) अन्दर स्वाभाविक ज्ञान का पिण्ड प्रभु भगवान आत्मा सदा जयवन्त है तथा (२) आत्मा के अन्तर-अनुभव में प्रतीति के साथ ज्ञान हुआ-सम्यग्ज्ञान हुआ-वह भी सदा जयवन्त वर्तता है — ऐसा कहते हैं। सहजज्ञान कहने से त्रिकाली स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा सदा जयवन्त है-तीनोंकाल जयवन्त है। कदाचित् कोई जीव प्याज अथवा लहसुण आदि निगोद की अवस्था में हो, तो भी अन्दर जो प्रभु आत्मा है, वह तो निर्मलानन्द है। हाँ, आत्मा की पर्याय में/दशा में/अवस्था में सारी भूल है, संसार है; परन्तु उसकी चीज

www.vitragvani.com

(उसका स्वरूप) तो त्रिकाल निर्मलानन्दमय शुद्ध है। परन्तु अरे! 'हमने दुकान की और हमने इतना कमाया' इत्यादि ऐसे बाहर के अभिमान जिसको है, उसको यह बात कैसे बैठे ?

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! सहजज्ञान सदा जयवन्त है और वही सुखरूप है। यह शास्त्र पठन का ज्ञान और बाहर का एल.एल. बी. और एम. ए. का ज्ञान नहीं; परन्तु अन्दर का वास्तविक ज्ञान/आत्मज्ञान सदा जयवन्त है तथा भगवान आत्मा, जो कि प्रज्ञास्वरूप/ज्ञानस्वरूप/जाननहारस्वरूप स्वाभाविक ज्ञान का पिण्ड है, वह जयवन्त वर्तता है। यद्यपि आत्मा तो जयवन्त है ही, परन्तु जिसको आत्मा की दृष्टि हुई है, वह कहता है कि यह आत्मा जयवन्त वर्तता है। इसके बिना-आत्मा को जाने बिना ऐसा किसप्रकार कहा (जाना) जा सकता है कि आत्मा जयवन्त वर्तता है ? जो चीज जानने में ही नहीं आई वह 'है' — ऐसा किसप्रकार माना जाए ? ऐसा भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द की मूर्ति है। उसका ज्ञान हो कि 'यह चीज है' तब वह मानने में आवे और आत्मा को ऐसा ज्ञान होने को सच्चा ज्ञान कहा जाता है। कदाचित् किसी को यह सब कठिन लगे; परन्तु भाई! यह बात तो तीनलोक के नाथ की है। यहाँ तो यह बात पैंतालीस वर्ष से चलती है।

अहा! (महाविदेहक्षेत्र में) भगवान सीमन्धर प्रभु साक्षात् विराजमान हैं। वहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्य गये थे और वहाँ से आकर निजहित के लिए यह नियमसार शास्त्र बनाया हैं। वे नियमसार में कहते हैं कि सहज ज्ञान सदा जयवन्त है। '**वैसी (सहज) यह दृष्टि सदा जयवन्त है।**' अन्दर में जो त्रिकाली दृष्टि है, वह तो सदा जयवन्त है ही; परन्तु सम्यग्दर्शन भी सदा जयवन्त है अर्थात् पर्याय में जो त्रिकाली द्रव्य की श्रद्धा हुई है, वह भी सदा जयवन्त वर्तती है। जब पर्याय ने त्रिकाली द्रव्य को जाना-माना तब कहते हैं कि वह जयवन्त वर्तती है।

'**वैसा ही (सहज) विशुद्धचारित्र भी सदा जयवन्त है।**' चारित्र अर्थात् ज्ञानानन्दस्वरूप में रमणतारूप चारित्र। चारित्र=रमना, चरना, जमना। जैसे गाय हरी घास खाती है, वैसे ही अन्दर में आनन्द का सागर-आनन्द का नाथ भगवान आत्मा का अनुभव करना-अन्दर में आनन्द की गोचरी करना चारित्र है। प्रभु! बात तो ऐसी है। अभी तो बाहर में बहुत फेरफार हो गया है और इसीकारण अनजान व्यक्ति को यह

www.vitragvani.com

बात समझना कठिन पड़ता है। यहाँ कहते हैं कि चारित्रवंत त्रिकाली आत्मा तो सदा जयवन्त है ही; परन्तु हमारी चारित्र की दशा भी जयवन्त वर्तती है — ऐसा (मुनिराज) कहते हैं। यहाँ मुनि की व्याख्या है न! इसलिए कहते हैं कि हमारे दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो पर्याय में प्रगट हुए हैं, वह पर्याय जयवन्त वर्तती है और उसका विषय त्रिकाली आत्मा तो जयवन्त वर्तता ही है। अरे! अज्ञानी के साथ तो बात-बात में अन्तर है। प्रभु कहते हैं कि बापा! मेरे और तेरे बात-बात में अन्तर है। जो अनादि से परिभ्रमण करता है, उसकी बात में और मेरी बात में बहुत अधिक अन्तर है। अरे प्रभु की ऐसी बात सुनने मिलना भी कठिन है प्रभु!

यहाँ कहा है कि 'विशुद्ध चारित्र भी....' देखो, कलश में 'चारित्र भी.....' ऐसा कहा है न ? अर्थात् दृष्टि भी सदा जयवन्त है, ज्ञान भी सदा जयवन्त है और तदुपरान्त चारित्र भी सदा जयवन्त है — ऐसा कहना है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित गाथाओं के टीकाकार ये श्री पद्मप्रभमलधारिदेव दिगम्बर मुनिराज हैं और वे नौ सौ वर्ष पूर्व हुए हैं। वे कहते हैं कि '**पापसमूहरूपी मल की अथवा कीचड़ की पंक्ति से रहित जिसका स्वरूप है — ऐसी सहज परमतत्त्व में संस्थित चेतना भी सदा जयवन्त है।**' पाप कहने से पुण्य-पाप दोनों पाप हैं।

'पापरूप को पाप तो, जानत है सब कोई।
पुण्य तत्त्व भी पाप है, कहे अनुभवी बुध कोई॥' (योगसार, गाथा-७१)

ऐसा श्री योगीन्दुदेव कृत योगसार में आता है। दया, दान, व्रत का राग भी पाप है; क्योंकि वह आत्मा की शान्ति से विरुद्ध भाव है। अहा! अज्ञानी को अनादि से पुण्य-पाप की ही हारमाला चलती है। पुण्य-पाप....पुण्य-पाप....शुभ-अशुभ......शुभ-अशुभ....ऐसी पंक्ति से रहित जिसका स्वरूप है — ऐसी सहज परमतत्त्व में अर्थात् स्वाभाविक आनन्द के नाथ प्रभु आत्मा में संस्थित-रहनेवाली चेतना भी सदा जयवन्त है। जानने-देखने के स्वरूपमय त्रिकाली चेतना भी सदा जयवन्त है और पर्याय में जानना-देखनापना प्रगट हुआ, जिसके द्वारा ख्याल में आया कि यह चैतन्य जयवन्त है— वह भी सदा जयवन्त है। जानने-देखने की पर्याय भी सदा जयवन्त है।

इसप्रकार यह शुद्धभाव अधिकार सम्पूर्ण हुआ। ●

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.